मूल शांकरवेदान्त

संगम लाल पाण्डेय

संशोधित संस्करण

सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस
इलाहाबाद

मूल शांकरवेदान्त

शंकराचार्य का दर्शन उन्हीं के शब्दों में

लेखक की अन्य कृतियाँ

नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण

प्री-शंकर अद्वैत फिलासफी

ह्विदर इण्डियन फिलासफी

एक्जिस्टेन्स, डिवोशन एण्ड फ्रीडम

भारतीय तर्कशास्त्र का आधुनिक परिचय

आधुनिक दर्शन की भूमिका

रामायण-विद्या

समाज-दर्शन की एक प्रणाली

मूल शांकरवेदान्त

शंकराचार्य का दर्शन उन्हीं के शब्दों में

संपादक-व्याख्याकार

संगमलाल पाण्डेय

रीडर, दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

नवाब पुस्तक भवन
0532-2461505(O)
2460028 (S)
23 MAY 2011
80-ए, यूनिवर्सिटी रोड
इलाहाबाद-211002

सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस

इलाहाबाद

कापीराइट 1979
सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण 1979
संशोधित संस्करण 2002

मुद्रक : हेल्सियन प्रेस, 18-सी सरोजिनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद-

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ में शंकराचार्य के दर्शन का वर्णन उन्हीं के शब्दों में किया गया है। पूरा ग्रन्थ तीन खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में शारीरकभाष्य के महत्वपूर्ण दार्शनिक स्थलों का संकलन है, द्वितीय खंड में गीताभाष्य और उपदेश-साहस्री से कुछ अंश लिये गये हैं और तृतीय खंड में शंकराचार्य के दस उपनिषद्भाष्यों से उद्धरण दिये गये हैं। इन सभी उद्धरणों में जिन विषयों की चर्चा है वे शांकरवेदान्त के अत्यन्त आवश्यक अंश है।

मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शंकराचार्य के दर्शन को पढ़ाते हुए छब्बीस वर्ष बीत गये। इन वर्षों में मेरा अनुभव रहा है कि यहाँ जिन अंशों का संकलन किया गया है उनसे उनके दर्शन को आसानी तथा यथार्थता से समझा जा सकता है। पद्मपात और वाचस्पति मिश्र दोनों आचार्यों ने शंकर के शारीरकभाष्य की शैली को प्रसादगुणमयी तथा गम्भीर बताया है। ये ही विशेषण उनके अन्य ग्रन्थों पर भी लागू होते हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि शंकराचार्य के दर्शन को समझने के लिए उनके ग्रंथ जितने सहायक हैं उतने टीकाकारों और संग्रहकारों के ग्रंथ नही है। मेरे विद्यार्थी इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि से शंकराचार्य के दर्शन को समझने में काफी सफल हुए हैं। अतः मैंने जनसाधारण तक इसे पहुंचाने के लिए इस पाण्डुलिपि को प्रकाशित करना उचित समझा। जिस दार्शनिक को समझना हो उसे उसके शब्दों द्वारा ही समझना श्रेयस्कर होता है।

उपदेशसाहस्री को छोड़कर शंकराचार्य के सभी ग्रन्थ प्रायः भाष्य है। अतएव उनके सभी अंश आज उपादेय नहीं है। उनके भाष्यों से दार्शनिक अंशों को छांट कर प्रकाशित करना अपने में स्वयं एक महत्वपूर्ण कार्य है। मैं समझता हूँ कि वेदान्त के प्रेमीगण मेरे इस प्रयास की सराहना करेंगे।

प्रस्तुत संकलन को तैयार करने में मुझे शंकर के शारीरकभाष्य और अन्य ग्रन्थों के हिन्दी अनुवादों से पर्याप्त सहायता मिली है। अतएव मैं उनके ग्रन्थों के हिन्दी अनुवादकों का अत्यन्त ऋणी हूँ, विशेषतः गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित गीताभाष्य और उपनिषद्भाष्य के अनुवादक या अनुवादकों का। इसी प्रकार श्री भोले बाबा द्वारा अनूदित रत्नप्रभाटीका का भी मैंने काफी उपयोगी किया है और श्री भोले बाबा के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में मैं अपने सभी विद्यार्थियों के प्रति आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ तैयार किया गया है।

177, टैगोर टाउन, इलाहाबाद　　　　संगमलाल पाण्डेय

विषय-सूची

आमुख

शंकराचार्य का परिचय ... 1

प्रथम भागः न्यायप्रस्थान

शारीरिक भाष्य

अध्याय 1 : चतुःसूत्री

1. अध्यास का सिद्धान्त ... 12
2. ब्रह्म जिज्ञासा की संभावना ... 14
3. ब्रह्म का लक्षण ... 17
4. ब्रह्म में प्रमाण ... 20

अध्याय 2 : तर्कपाद

1. सांख्य का निराकरण ... 37
2. वैशेषिक परमाणुवाद का निराकरण ... 46
3. सर्वास्तिवादी बौद्धमत का निराकरण ... 56
4. बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण ... 64
5. जैन अनेकान्तवाद का निराकरण ... 71
6. पाशुपत मत का निराकरण ... 75
7. पांचरात्रमत का निराकरण ... 77

अध्याय 3 : शारीरकभाष्य के अन्य महत्वपूर्ण स्थल

1. तर्क की अप्रतिष्ठा ... 80
2. भोक्ता जीव का ब्रह्म से अभेद ... 81
3. कारण और कार्य का अभेद ... 82
4. पराविद्या ... 92
   (क) मुक्त पुरुष का ब्रह्मप्रवेश ... 92
   (ख) परा सृष्टिविद्या ... 93
   (ग) परा अध्यात्मविद्या ... 94
   (घ) परा आचारविद्या ... 94
   (च) परा उत्क्रमणविद्या ... 96
   (छ) परा ब्रह्मविद्या ... 97
5. शब्द से जगत् की उत्पत्ति ... 97
6. प्रपंचविलयवाद ... 102

7. भौतिकवाद का निराकरण ... 105

द्वितीय भागः स्मृतिप्रस्थान

अध्याय 4 : गीता भाष्य

1. उपोद्धात ... 109
2. ज्ञानमार्ग ... 111
3. गीता का तात्पर्य ... 114
4. ज्ञाननिष्ठा ... 124
5. सत् और असत् ... 127
6. आत्मेश्वरवाद् ... 128

अध्याय 5 : उपदेशसाहस्त्री

1. कुटस्थ और अद्वय आत्मा का ज्ञान ... 136

तृतीय भाग : श्रुतिप्रस्थान

अध्याय 6 : लघुउपनिषद्भाष्य

1. उपासना और कर्म (ईशावास्योपनिषद्भाष्य) ... 147
2. आत्मज्ञान की विधि (केनोपनिषद्भाष्य) ... 148
3. स्वप्नदर्शन का मूल्यांकन (प्रश्नोंपनिषद्भाष्य) ... 150
4. आत्मा का स्वरूप (प्रश्नोपनिषद्भाष्य) ... 152
5. अभेदवाद (ऐतरेयोपनिषद् भाष्य) ... 156
6. परा और अपरा विद्यादि
   (क) कठोपनिषद् भाष्य ... 161
   (ख) मुण्डकोपनिषद् भाष्य ... 163

अध्याय 7 : माण्डूक्यकारिकाभाष्य

1. ओम का वर्णन ... 165
2 बौद्धविज्ञानवाद और अद्वैतवाद का अन्तर ... 166

अध्याय 8 : तैत्तिरीय उपनिषद्भाष्य

1. ब्रह्म का लक्षण ... 166
2. मोक्षसाधन की मीमांसा ... 170
3. ब्रह्म के अस्तित्व में प्रमाण ... 175

अध्याय 9 : छान्दोग्य उपनिषद्भाष्य

1. उपासना का महत्व ... 177
2. उपासना का फल ... 179
3. पतितों की दशा ... 180

4. सदेव का विवेचन ... 180
5. इन्द्र का आत्मदर्शन ... 185
6. कर्म का महत्व ... 189
7. कर्म का फल ... 194

अध्याय 10 : बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्य

1. सम्बन्धभाष्य ... 200
2. सत्कारणवाद ... 203
3. ईश्वर का स्वरूप ... 209
4. भावनात्रय का खंडन ... 210
5. ब्रह्मविद्या ... 213
6. आत्मा और जगत् ... 228
7. मोक्ष का स्वरूप ... 243
8. आत्मा की अविषयता और दृष्टि की द्विविधा ... 249
9. ब्रह्म की ईश्वरता और अपूर्व सिद्धान्त का खंडन ... 251
10. ब्रह्मानन्द का विवेचन ... 253
11. आत्मज्योति ... 256
12. आत्मा का स्वरूप ... 260
13. आत्मा का मोक्ष या बन्धन ... 270

शंकराचार्य का परिचय

1. धर्मपालक और दार्शनिक

नाभादास ने लिखा है कि कलियुग में मुख्य धर्मपालक शंकराचार्य हैं जिन्होंने सभी उच्छृङ्खलों, अज्ञानियों, अनीश्वरवादियों, कुतर्कियों, पाखंडियों और दुष्टों को सन्मार्ग पर लगा दिया। वे सदाचार की सीमा हैं, साक्षात् सदाचार की मूर्ति हैं और उनसे बड़ा कोई सदाचारी नहीं हुआ।

उतशृङ्खल अज्ञान जिते अनईश्वरवादी।
बुद्ध कुतर्की जैन और पाखण्डहिं आदी।
विमुखनि को दियो दण्ड, ऐंचि सनमारग आने।
सदाचार की सींव विश्व कीरतहिं बखाने।
ईश्वरांश अवतार महि, मरजादा मांडी अघट।
कलियुग धर्मपालक प्रगट, आचारज शंकर सुभट॥[1]

उनके साक्षात् शिष्य पद्मपाद ने लिखा है कि शंकराचार्य अनुमार्धविग्रह[2] हैं अर्थात् उनका आधा शरीर अनुमान से बना है। दूसरा आधा भाग श्रुति से बना है। इस प्रकार अपने शिष्य की दृष्टि में शंकराचार्य ने श्रुति और अनुमान को तुल्यमहत्त्व दिया था। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि शंकराचार्य विशुद्ध विज्ञान[3] हैं अर्थात् उनका जीवन विशुद्धविज्ञान की मूर्ति है। एक दार्शनिक के लिए इससे बढ़कर और क्या अभिशंसा हो सकती है।

2. जन्मजात प्रतिभाशाली

ऐसे महान् दार्शनिक का जन्म केरल में कालटी गाँव में एक नम्बूदरी ब्राह्मण के घर हुआ था। उनके पिता का नाम शिवगुरु था। उनकी माता का नाम कहीं सती और कहीं विशिष्टा बताया जाता है। उनका जन्म बैशाख शुक्ल पक्ष पंचमी तिथि को हुआ था। किन्तु किस वर्ष हुआ था – इस पर मतभेद हैं। सामान्यतः माना जाता है कि उनका जन्म सन् 788 ई० में हुआ था और निधन 820 ई० में। परन्तु इन पंक्तियों के लेखक ने सिद्ध कर दिया है कि शंकराचार्य को 630 ई० के आस-पास अवश्य जीवित रहना चाहिए।[4] इस कारण शंकरचार्य का जन्म सन् लगभग 620 ई० माना जाना चाहिए।

शंकर जन्म से ही प्रतिभाशाली थे। उनके बारे में प्रसिद्ध है कि आठ वर्ष की अवस्था में ही उन्हें चारों वेदों का ज्ञान हो गया और 12 वर्ष की अवस्था में वे तात्कालीन सभी

---

1. भक्तमाल, छप्पय 42
2. पञ्चपादिका, मंगलाचरण, श्लोक 3
3. भामती, मंगलाचरण, श्लोक 6
4. प्री-शंकर अद्वैत फिलासफी, संगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद 1974, पृष्ठ 68

शास्त्रों के निष्णात पंडित हो गये। सोलह वर्ष की आयु में उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शारीरकभाष्य लिखा और 32 वर्ष की आयु भोगकर वे इस संसार से चले गये –

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्।

शंकर के पिता का देहान्त उनके शैशव में ही हो गया था। उनकी माता ने उनका पालन-पोषण किया। पांच वर्ष की अवस्था में ही उनका उपनयन-संस्कार कर दिया गया। शीघ्र ही उनकी प्रतिभा का विकास हुआ और उन्होंने माता जी का आशीर्वाद प्राप्त करके संन्यास लेना स्वीकार किया। वे योग्य गुरु की खोज में निकल पड़े। नर्मदा नदी के तट पर उन्हें गोविन्द मुनि मिले जिनसे उन्होंने विधिवत् संन्यास की दीक्षा ली।

3. गुरु-शिष्य परंपरा

शंकर की गुरु-शिष्य-परंपरा अत्यंत प्राचीन है। सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक वह चली आ रही है। यह वैदिक परंपरा है, श्रुति-स्मृति और पुराण की परंपरा है। शंकर इस परंपरा के उद्धारक हैं, वे किसी नयी परंपरा के जनक नहीं है। उनके पूर्व और ठीक पश्चात् यह परंपरा यों हैं[1]

नारायण
|
पद्मभव ब्रह्मा
|
वशिष्ठ
|
शक्ति
|
पराशर
|
व्यास
|
शुकदेव मुनि
|

1. इस बारे में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है–
नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च,
व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं हस्तामलकं न शिष्यम्,
तं त्रोटकं वार्तिकारमन्यानस्मद्गुरुन् सन्ततमानतोऽस्मि।

गौडपाद
|
गोविन्द मुनि
|
शंकराचार्य
|
पद्मपाद — हस्तामलक — त्रोटक — सुरेश्वर

शंकराचार्य ने वर्णाश्रम धर्म के संरक्षण के लिए चार मठ स्थापित किये थे– बदरिकाश्रम, पुरी, द्वारिका और शृङ्गेरी में। बदरिकाश्रम में त्रोटक को, पुरी में पद्मपाद को, शृङ्गेरी में सुरेश्वर को और द्वारका में हस्तामलक को उन्होंने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। तब से इन मठों के अध्यक्षों को भी जगद्गुरु शङ्कराचार्य कहा जाने लगा। शंकर को उनसे भिन्न करने के लिए आद्य शंकराचार्य कहा जाता है। इन मठों की शिष्य-परंपरा आज तक किसी-न-किसी प्रकार से चली आ रही है और इनके जगदगुरु शंकरचार्या में अनेक उच्चकोटि के दार्शनिक हुए हैं।

शंकराचार्य के साक्षात् शिष्यों में सुरेश्वर और पद्मपाद स्वयं उच्चकोटि के दार्शनिक थे। उनके नाम से अद्वैतवेदान्त में दो मत प्रचलित हो गये हैं – वार्तिक-प्रस्थान और टीका-प्रस्थान। बाद में वाचस्पति मिश्र के द्वारा एक तीसरे मत की स्थापना की गयी जिसे भामतीप्रस्थान कहा जाता है। टीका-प्रस्थान का ही दूसरा नाम विवरण-प्रस्थान है। इन तीनों प्रस्थानों के अपने ग्रंथ, आचार्य और मत है। किंतु ये सभी पूर्णतः शंकरमतानुयायी हैं। इससे स्पष्ट है कि शंकरमत के अनुयायी आपस में कुछ विषयों पर दार्शनिक मतभेद रख सकते हैं।

4. शंकराचार्य के ग्रंथ

शंकराचार्य के नाम से इस समय अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं। किन्तु वे सभी आद्य शंकराचार्य-कृत नहीं है। उनमें से अधिकांश उनके शिष्य या शिष्यों के शिष्य के द्वारा लिखे गये हैं। क्योंकि उनके नाम भी जगद्गुरु शंकराचार्य ही थे, इसलिए यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि शंकराचार्य के नाम से प्रचलित सभी ग्रंथ आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रणीत है।

जिन ग्रंथों को प्रस्तुत लेखक शंकराचार्य कृत मानता है वे निम्नलिखित हैं – (1) शारीरक भाष्य (बादरायण के ब्रह्मसूत्र का भाष्य) (2) श्रीमद्भगवद् गीता भाष्य (3) ईशोपनिषद् भाष्य (4) केनोपनिषद् भाष्य (5) कठोपनिषद् भाष्य (6) प्रश्नोपनिषद् भाष्य (7) ऐतरेयोपनिषद् भाष्य (8) तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य (9) छान्दोग्योपनिषद् भाष्य (10) बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य (11) मुडण्कोपनिषद् भाष्य (12) माण्डूक्यकारिका भाष्य (गौडपाद के आगयशास्त्र का भाष्य) और (13) उपदेशसाहस्री।

यहां इन सभी ग्रंथों के महत्वपूर्ण अंश दिये गये हैं। इन ग्रंथों में सर्वाधिक महत्त्व शारीरक भाष्य का है। इस पर पद्मपाद, वाचस्पति मिश्र, आनन्दगिरि, सर्वाज्ञात्म मुनि, रामानन्द आदि अद्वैतवेदान्तियों ने टीकाएं लिखी है। इन टीकाओं पर भी अनेक उपटीकाएँ या टिप्पणी लिखे गये हैं। इस कारण शारीरक भाष्य की एक विशिष्ट परंपरा बन गयी है।

शंकराचार्य के ग्रंथों को तीन प्रस्थानों में विभक्त किया जाता है — श्रुति-प्रस्थान, स्मृति-प्रस्थान और न्याय-प्रस्थान। उपनिषदों पर लिखे गये उनके भाष्य श्रुतिप्रस्थान के भाष्य है। गीताभाष्य स्मृति-प्रस्थान का भाष्य है और शारीरक भाष्य न्याय-प्रस्थान का भाष्य है। कुछ भी हो, शंकराचार्य ने जिस वेदान्त-दर्शन की स्थापना की उसके तीन स्रोत या प्रस्थान हैं — उपनिषद् या श्रुति-प्रस्थान, ब्रह्मसूत्र या न्याय-प्रस्थान और भगवद्गीता या स्मृति-प्रस्थान। इन तीनों प्रस्थानों की एकवाक्यता अद्वैतवाद में है — यही शंकराचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य है।

इस विषय को चुनौती देते हुए परवर्ती आचार्यों ने शांकर भाष्यों की आलोचना करने के लिए ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता पर भाष्य लिखे। परन्तु वे सब कम से कम इतने के लिए शंकराचार्य के ऋणी है कि प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की प्रेरणा शंकराचार्य ने ही दी। यद्यपि शंकराचार्य के पूर्व कुछ भाष्य उपनिषदों के, या ब्रह्मसूत्र के या गीता के थे, परन्तु किसी एक आचार्य ने इन तीनों प्रस्थानों की एकवाक्यता नहीं स्थापित की थी। फिर शंकर — पूर्व ये भाष्य अब उपलब्ध भी नहीं है। इस कारण प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की प्रेरणा देने वाले एकमात्र शंकराचार्य है। दूसरे शब्दों में वे अपने विरोधियों के भी गुरु हैं।

भारतीय दार्शनिक अभी तक प्रस्थानत्रयी के मोह या प्रभाव से दूर नहीं हटे हैं। प्रोफेसर स० राधाकृष्णन् और प्रोफेसर रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे ने इस पर अंग्रेजी में भाष्य लिखे। अनेक लोगों ने गीता पर भी भाष्य लिखे। आधुनिक भाषाओं में भी प्रस्थानत्रयी पर कुछ-न-कुछ भाष्य लिखा गया है। यह सब शंकराचार्य का प्रभाव है। उन्होंने ही सर्वप्रथम प्रस्थानत्रयी को दार्शनिक गवेषणा का मूलाधार बनाया। उनकी इस परंपरा को उनके अनुयायी तथा विरोधी दोनों आज तक मानते आ रहे हैं। अतः आज भी भारतीय दर्शन पर सर्वाधिक प्रभाव शंकराचार्य का ही है। क्यों न हो? यदि वे विशुद्ध विज्ञान हैं तो ऐसा होना सहज स्वाभाविक ही है।

शंकराचार्य के ग्रन्थों का एक और वर्गीकरण प्रसिद्ध है — भाष्य, स्तोत्र और प्रकरण। प्रस्थानत्रयी के भाष्य, भाष्य के अन्तर्गत है। उपदेशसाहस्री प्रकरण के अंतर्गत है। सौन्दर्यलहरी, दक्षिणामूर्ति स्तोत्र आदि स्तोत्र के अंतर्गत हैं। किंतु इन स्तोत्र-ग्रंथों को आद्य शंकराचार्य द्वारा लिखा जाना सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतएव भाष्य तथा प्रकरण — ये ही दो वर्ग उनके ग्रंथों के बारे में पर्याप्त हैं।

5. जगद्गुरु

शंकर जगद्गुरु हैं। जगद्गुरु उनकी उपाधि है जो बाद में उनके द्वारा स्थापित मठों के अध्यक्षों को भी दी जाने लगी। अब प्रश्न है कि जगद्गुरु शब्द का क्या अर्थ है।

कुछ लोग समझते हैं कि जगद्गुरु शब्द का अर्थ जगत् का शिक्षक है और उसे सभी शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। दूसरे शब्दों में जगद्गुरु वही हो सकता है जो सर्वज्ञ हो। ऐसा अर्थ करके लोग आधुनिक शंकराचार्यों पर जो अपने को जगद्गुरु कहते हैं, व्यंग्य करते हैं और कहते हैं कि ऐसे जगद्गुरु में सर्वज्ञता को कौन कहे सामान्य ज्ञान का भी अभाव है। इन आलोचकों को जानना चाहिए कि जगद्गुरु शब्द का अर्थ शंकराचार्य के मृत में वह नहीं है जो वे समझते हैं। गु शब्द का अर्थ अंधकार होता है, रू शब्द का अर्थ रोकने वाला या दूर करने वाला होता है और इस प्रकार जो अन्धकार को दूर करता है उसे गुरु कहा जाता है।

गुशब्दस्त्वन्धकारस्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते[1]॥

फिर शंकराचार्य के मत में जगद् अनात्म या अचित् है, इस कारण वह अन्धकार-संज्ञक है। क्योंकि उसके विपरीत जो आत्मा है उसको स्वयंप्रकाश माना जाता है अतः जगत्-रूपी अंधकार को जो दूर करता है वह जगद्गुरु कहलाने का अधिकारी है। केवल शंकराचार्य के मत में ही जगत् तिमिरवत् है, छायामात्र है या परमार्थतः लेशमात्र भी सत् नहीं है। इस कारण वास्तव में उन्हें, या उनके दर्शन को या जो लोग उनके दर्शन के प्रतीक माने जाते हैं उन्हें जगद्गुरु परमार्थतः कहा जा सकता है। कुछ भी हो, जगद्गुरु एक विशेषण है जिसका शंकर के सम्प्रदाय में केवल इतना अर्थ है कि इसका विशेष्य वह व्यक्ति हैं। जो शंकराचार्य के द्वारा स्थापित किसी मठ का अध्यक्ष है, उनके दर्शन का मूर्तिमान् प्रतीक है तथा जिसे सम्प्रदाय के सभी अनुयायी परमपूज्य मानते हैं।

वैसे गुरु दो प्रकार के होते हैं, दीक्षा-गुरु और शिक्षागुरु। शिक्षा-गुरु को विद्या-गुरु भी कहा जाता है। दीक्षा-गुरु का दर्जा शिक्षा-गुरु से ऊंचा है क्योंकि वह अपने शिष्य का संपूर्ण योगक्षेम करता है। वह भी छह प्रकार के माने गये हैं – प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और बोधक।

प्रेरकः सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा।
शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृताः॥[2]

इन गुरुओं में भी प्रधान बोधक है, इसलिए उसे कारणभूत माना जाता है और अन्य पाँच गुरु कार्यभूत माने जाते हैं। शंकर बोधक गुरु हैं। उनके कृतित्व

---

1. द्वयोपनिषद्,4
2. श्री बगलामुखीरहस्यम्, श्रीस्वामी पीताम्बरापीठाधीश्वर दतिया, पृष्ठ 89 में उद्धृत

और व्यक्तित्व ने अनेक लोगों को इन छहों अर्थों में गुरु बना दिया और आज तक बनाते जा रहे हैं। यही उनका गौरव है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखयोग्य है कि बोधक का दर्जा दर्शक से ऊंचा है। मध्ययुग से एक परंपरा चली आ रही है जो मानती है कि सद्‌गुरु वह व्यक्ति है जो भगवान् या परमात्मा का दर्शन या साक्षात्कार करा देता है। किन्तु ऐसा गुरु केवल दर्शक है। उससे उच्चतर बोधक हैं जो परमात्मा का बोध कराता है। दार्शनिक दृष्टि से यह गुरु-भेद अत्यन्त महत्त्व का है, क्योंकि बोध का महत्त्व दर्शन से उच्चतर है। स्वयं शंकराचार्य मानते हैं कि "बोध एव सत्ता" और "सत्तैव बोधः" अर्थात् सत्ता और बोध अभिन्नार्थक हैं। ऐसा अभिन्नार्थ सत्ता और दर्शन का नहीं है। पुनश्च बोध संप्रत्ययात्मक है और दर्शन मात्र इन्द्रियप्रदत्त का अनुभव है। अतएव बोध और बोधक का महत्त्व दर्शन तथा दर्शक से उच्चतर है। दर्शन-प्राप्त व्यक्ति पुनः संशय-ग्रस्त या भ्रमित हो सकता है, जैसे अर्जुन हुआ था जिसने युद्ध के अवसर पर श्रीकृष्ण– जैसे दर्शक गुरु से परमात्मा का दर्शन प्राप्त किया था और बाद में वह उसे भूल गया और संशय-ग्रस्त हो गया। श्रीकृष्ण को पुनः अर्जुन को बोध प्रदान करना पड़ा था। अतः जब तक बोध नहीं होता तब तक पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। बोधक गुरु ही जगद्‌गुरु है।

कुछ भी हो, जगद्‌गुरु की परंपरा शंकराचार्य से चली है। उनके सम्प्रदाय के अतिरिक्त जो वेदान्त-सम्प्रदाय हैं उन्हें भी यह परंपरा चलानी पड़ी। फलस्वरूप हमें जगद्‌गुरु शंकराचार्य के ही समान जगद्‌गुरु रामानुजाचार्य, जगद्‌गुरु निम्बार्काचार्य, जगद्‌गुरु रामानन्दाचार्य आदि भी मिलते हैं। यह है शंकराचार्य का अन्य वेदान्त-सम्प्रदायों पर प्रभाव।

एक ऐसा ही दूसरा प्रभाव दिग्विजय की परंपरा का है। दार्शनिकों में शंकराचार्य ने ही सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया, प्रसिद्ध दार्शनिकों और विद्वानों से भेंट की तथा उनसे शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थ में उन्हें परास्त किया। इस प्रकार उन्होंने दिग्विजय की। उनकी इन विजयों का वर्णन अनेक ग्रंथों में किया गया है। किन्तु उनमें सत्यांश के साथ ही कल्पना का अंश भी बहुत मिला दिया गया है। परंतु इन शंकरदिग्विजयों के अनुकरण में अन्य सम्प्रदायों में भी उनके आचार्यों के दिग्विजय लिखे गये और उन आचार्यों ने भी शंकराचार्य की शास्त्रार्थ-परंपरा का अनुसरण किया।

6. द्वैतवाद का निराकरण

शंकर अद्वैतवादी हैं। उन्होंने न केवल समस्त प्रकार के द्वैतवादों और भेदवादों का खंडन किया है वरन् उन अद्वैतवादों का भी खंडन किया है जिनमें द्वैत या भेद किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। इस प्रकार उन्होंने जड़वादी अद्वैतवाद, सत्ताद्वैतवाद, भावाद्वैतवाद, क्रियाद्वैतवाद और शक्ति-अद्वैतवाद का निराकरण किया है। उनके अद्वैतवाद के समक्ष पारमेनाइडीज, जेनोफैनीज, स्पिनोजा, हेगल तथा ब्रैडले के

अद्वैतवाद निम्नस्तरीय लगते हैं। जिन लोगों ने शांकर अद्वैतवाद की तुलना इन पाश्चात्य दार्शनिकों के अद्वैतवाद से की है उनकी आलोचनाओं से ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। जो कुछ भी हो, शंकराचार्य ने भारत से द्वैतवाद का प्रायः बहिष्कार ही कर दिया। जो बौद्धमत द्वैतवाद पर आधारित था उसका भारत से पूर्ण बहिष्कार उनके ही प्रयत्नों से हुआ था, ऐसा सभी जानकार मानते हैं। पुनः सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा, आदि के द्वैतवाद भी शंकर के पश्चात् अपने प्राचीन उग्र रूप में न पनप सके और उन पर अद्वैतवाद का प्रभाव ही नहीं पड़ा वरन् उन्हें अद्वैतवाद तक पहुंचने का सोपान मान लिया गया। भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि ब्रह्मवादी वेदान्ती शुद्ध भेद या द्वैत का समर्थन न कर सके और वे भी अपने मत को अद्वैत या अभेद से विशिष्ट या संयुक्त करने में लग गये। मध्व ने द्वैतवाद की स्थापना अवश्य की और उनके कट्टर अनुयायियों ने शांकर अद्वैतवाद के अनेक मतों पर प्रहार भी किया, परंतु अन्ततोगत्वा उनके सम्प्रदाय के द्वैतवादियों को भी स्वीकार करना पड़ा कि किसी-न-किसी प्रकार का उत्कट अद्वैतवाद उनके दर्शन में भी है। उदाहरण के लिए एच०एन० राघवेंद्राचार ने मध्व-दर्शन के बारे में लिखा है कि उसे एक उच्चतम प्रकार का अद्वैतवाद समझना चाहिए।[1] इसी प्रकार शैव सिद्धान्त को भी, जो वास्तव में द्वैतवाद है, एक प्रकार के अद्वैतवाद के रूप में निरूपित किया जाता है।[2] सांख्य-दर्शन जिसे द्वैतवाद का एक मानक दर्शन माना जा सकता है वास्तव में अद्वैतवाद के ही मार्ग का एक पड़ाव है क्योंकि वह अपने सत्कार्यवाद द्वारा कार्य और कारण की अनन्यता का प्रतिपादन करता है। इसी आधार पर शंकरोत्तर सांख्य पूर्णतया सेश्वर सांख्य हो गया और उसमें उच्चकोटि के एकेश्वरवाद की स्थापना हुई। सारांशतः कहा जा सकता है कि शंकर के अद्वैतवाद के कारण भारत में द्वैतवाद का पूर्ण निराकरण हो गया और तब से कोई दार्शनिक किसी द्वैतवाद को सर्वोच्च दर्शन नहीं मानता है। यह है दार्शनिक जगत् में शंकराचार्य का प्रभाव।

7. क्या शारीरक भाष्य बादरायणानुसारी है?

यद्यपि शंकराचार्य ने ही बादरायण के ब्रह्मसूत्र को यह महत्त्व प्रदान किया कि वह वैदिक दर्शन या वेदान्त का मुख्य ग्रंथ बन गया और उनके पश्चात् अनेक दार्शनिकों ने उस पर भाष्य लिखना आरम्भ किया तथापि आज यह प्रश्न उठ पड़ा है कि क्या शारीरक भाष्य बादरायणानुसारी है। आधुनिक युग में सबसे पहले जार्ज थीबो ने इस प्रश्न को उठाया। उन्होंने शंकर के शारीरक भाष्य और रामानुज के श्रीभाष्य का अंग्रेजी में अनुवाद किया, दोनों का तुलनात्मक अनुशीलन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि शंकराचार्य की अपेक्षा रामानुजाचार्य बादरायण के अधिक निष्ठावान् और निकटवर्ती भाष्यकार हैं।

---

1. हिस्ट्री आफ फिलासफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, सं. एस. राधाकृष्णन्, भाग दो, पृ० 336
2. वही पृ० 379

डॉ० वी०एस० घाटे ने शंकर, रामानुज, बल्लभ, मध्व और निम्बार्क के भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि सम्भवतः निम्बार्क बादरायण के प्रति सर्वाधिक निष्ठावान् हैं। इस प्रकार आज किसी न किसी भाष्य को शारीरक भाष्य की अपेक्षा बादरायण के ब्रह्मसूत्र का अधिक प्रामाणिक भाष्य माना जा रहा है।

किन्तु यहां निम्नलिखित प्रश्न विवेच्तनीय हैं —

(1) शंकराचार्य अपने को बादरायण की परंपरा का दार्शनिक मानते हैं और उनके अनुयायी भी मानते हैं कि सूत्रकार बादरायण तथा भाष्यकार शंकराचार्य में मतैक्य है। शंकराचार्य या उनके अनुयायी कहीं बादरायण का खंडन नहीं करते हैं।

(2) शंकराचार्य ने बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर जो भाष्य लिखा है, वह किसी वैष्णव आचार्य के मतों का खंडन करने के लिए नहीं लिखा गया है, जबकि रामानुज, मध्व आदि वैष्णव आचार्यों ने जो भाष्य लिखे हैं, उनका लक्ष्य शंकराचार्य के मत का खंडन करना है या शंकराचार्य के समान ही एक मत स्थापित करना है। अतः जहां शंकराचार्य का उद्देश्य रचनात्मक और मौलिक है, वहां अन्य आचार्यों का उद्देश्य ध्वंसात्मक या अनुकरणात्मक है।

(3) प्राचीनता की दृष्टि से शंकर का भाष्य ही सबसे प्राचीन है और सभी आचार्यों की अपेक्षा शंकराचार्य ही कालतः बादरायण के सन्निकट हैं। रामानुज, भास्कर आदि का यह कहना कि उनकी परंपरा के भाष्य शंकराचार्य के पूर्व भी थे और वे अब उपलब्ध नहीं है, ऐतिहासिक दृष्टि से अच्छी तरह प्रणामित नहीं है। शंकराचार्य की परंपरा के भी अनेक शंकर-पूर्व दार्शनिक हैं, जिन्होंने अद्वैत पक्ष का समर्थन किया था।

(4) भारतीय परंपरा के अनुसार उपनिषदों के दर्शन को भी ब्रह्मसूत्र में विवेचित किया गया है। थीबो आदि शंकर के आलोचक मानते हैं कि उपनिषदों का दर्शन अद्वैतवाद है और शंकराचार्य ने जो उपनिषद्-भाष्य लिखें हैं, वे मूलानुसारी हैं। ऐसी परिस्थिति में यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं है कि शंकर का भाष्य भी ब्रह्मसूत्र का मूलानुसारी है, क्योंकि जैसे शंकर वैसे बादरायण उपनिषदों के दर्शन के ही व्याख्याता हैं।

(5) वास्तव में शंकर के मायावाद को लेकर वैष्णव आचार्यों ने शंकर का विरोध किया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मायावाद अवैदिक है तथा ब्रह्मसूत्रकार बादरायण मायावादी नहीं है। परंतु आधुनिक अनुशीलनों से सिद्ध हो गया है कि मायावाद वैदिक है, वेदों और उपनिषदों में उसकी व्याख्या की गयी है तथा बादरायण के ब्रह्मसूत्र में भी उसका विवेचन है।

(6) ईश्वरवाद को लेकर भी वैष्णव आचार्यों ने शंकर का विरोध किया और आधुनिक आलोचकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वादरायण ईश्वरवादी हैं तथा शंकराचार्य ब्रह्मवादी हैं। इन आलोचकों की दृष्टि में शंकर का ब्रह्मवाद निर्गुण ब्रह्मवाद है और बादरायण का ईश्वरवाद सगुण ब्रह्मवाद है। परंतु निर्गुण और सगुण का ऐसा पृथक्करण शंकराचार्य के दर्शन और परंपरा से नहीं है। शंकर उतने ही बड़े ईश्वरवादी हैं जितने ब्रह्मसूत्र के वैष्णव या शैव भाष्यकार, परंतु वे

ईश्वर के किसी नाम के प्रति आग्रह नहीं करते। वे उसको एक ही श्वास में शिव, विष्णु, शक्ति आदि पुकारते हैं। यही दृष्टि वैदिक है; क्योंकि सभी देवों का देवत्व एक है, उनमें नाम, रूप, गुण, विभूति आदि के आधार पर भेद पैदा करना वेद-सम्मत नहीं है। अतएव जिन लोगों ने ईश्वरवाद को लेकर बादरायण और शंकराचार्य में भेद किया है, उन्होंने न तो बादरायण को समझा है और न शंकराचार्य को। दोनों ने निमित्तेश्वरवाद या ईश्वरकारणवाद और पाञ्चरात्र ईश्वरवाद का खंडन किया है। तर्कपाद के अंतिम दो अधिकरण में इसे देखा जा सकता है।

8. क्या शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं?

यद्यपि शंकराचार्य ने बौद्धमत का खंडन किया है, विशेषतः सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद का, तथापि वैष्णवों की एक परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है जिसके अनुसार शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं। उनके मत में शंकर के अद्वैतवाद को शून्यवाद–जैसा समझा जाता है। किन्तु शंकर शून्यवादी नहीं हैं। उन्होंने जगह-जगह शून्यवाद का खंडन किया है और अपने ब्रह्मवाद को शून्यवाद से भिन्न बतलाया है। ऐसे स्थलों का संग्रह इस ग्रन्थ में किया गया है। उन्हें देखने से पता चलता है कि शंकराचार्य ने शून्यवाद का भी खंडन वैसे ही किया है जैसे सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद का।

वास्तव में शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं। इस मत का स्पष्टीकरण इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र किया है।[1] यहां उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। शंकर के ब्रह्मवाद अौर बौद्धों के शून्यवाद में मुख्य अंतर यह है कि प्रथम में प्रत्येक विषय ब्रह्म से अनन्य है और द्वितीय में प्रत्येक विषय निरात्म या अनन्यता-रहित है। साधना की दृष्टि से शंकर अन्वयवादी और व्यतिरेकवादी दोनों हैं तो शून्यवादी केवल व्यतिरेकवादी हैं। शंकर आत्मवादी या पूर्णतावादी हैं और शून्यवादी नैरात्म्यवादी हैं। इतने अन्तरों के कारण दोनों के मतों को अभिन्न नहीं कहा जा सकता। शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहने के स्थान पर बौद्धमत का उच्छेदकर्त्ता मानना ही अधिक न्याय-संगत और तथ्यानुसारी है। यह उल्लेखनीय है कि एक परंपरा ऐसी भी है जो मानती है कि शंकराचार्य ने बौद्ध मत का उन्मूलन कर दिया। नाभादास इसी परंपरा में आते हैं।

9. शंकर के समकालीन

गौडपाद

शंकर गौडपाद के परमशिष्य थे और उन्होंने अपने परमगुरु को देखा भी था। वे वास्तव में गौडपाद के कनिष्ठ समकालीन थे।[2] गौडपाद ने आगमशास्त्र या माण्डूक्यकारिका नामक ग्रंथ लिखा और शंकर ने इस पर एक भाष्य लिखा।

---

1. देखिए: भारतीय दर्शन की कहानी, रामनारायण बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, 1963, शंकराचार्य का अद्वैतवाद।
2. प्री-शंकर अद्वैत फिलासफी, पृ० 69

कुमारिल

कुमारिल शंकर के ज्येष्ठ समकालीन थे। एक परंपरा के अनुसार प्रयाग में शंकर ने उनसे भेंट भी की थी किन्तु उस समय कुमारिल तुषानल की चिता में आत्मदाह करने के लिए बैठ गये थे। कुमारिल मीमांसक थे। उन्होंने मीमांसा का उद्धार किया था और उसे लोकायतवाद से बचाया था। मीमांसा और वेदान्त के समन्वय में उनकी आस्था थी। इसी समन्वय के आधार पर बाद में अद्वैत वेदान्त में यह मान लिया गया कि कुमारिल का दर्शन व्यावहारिक जगत् का दर्शन है और शंकर का दर्शन परमार्थदर्शन है। व्यवहारे तु भाट्टनयः – यह सूक्ति आज भी अद्वैत वेदान्त में मानी जाती है।

प्रभाकर

लगता है कि प्रभाकर भी शंकर के ज्येष्ठ समकालीन थे क्योंकि उनके पुत्र हस्तामलक शंकर के शिष्य थे। प्रभाकर मीमांसक थे। शंकर ने इनके मत का खण्डन तत्तु समन्वयात् सूत्र के भाष्य में किया है। प्रभाकर मानते थे कि कोई वेदभाग वस्तुवादी नहीं है। इसके विपरीत शंकर मानते थे कि सम्पूर्ण वेद वास्तव में वस्तुवादी है। प्रभाकर को बुद्धबन्धु कहा जाता है क्योंकि उनके मत बौद्धों के मत से मिलते-जुलते हैं।

दिग्नाग और धर्मकीर्ति

दिग्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों से शंकराचार्य ने उद्धरण दिये हैं, अतएव ये शंकर के ज्येष्ठ समकालीन हैं। एक परंपरा के अनुसार धर्मकीर्ति पहले कुमारिल के शिष्य थे और बाद में वे बौद्ध हुए। दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति बौद्ध न्याय के संस्थापक है और स्वतन्त्र विज्ञानवाद के पुरस्कर्त्ता है। शंकराचार्य ने इनके स्वतंत्र विज्ञानवाद का खण्डन किया है। पद्मपाद के अनुसार शंकर ने विनायक नामक एक बौद्ध को शास्त्रार्थ में हराया था।

मंडन मिश्र

मंडन मिश्र शंकर के ज्येष्ठ समकालीन थे। एक परंपरा के अनुसार वे ही बाद में शंकर के शिष्य हो गये और उनका नाम सुरेश्वर हो गया। किंतु यह परंपरा इतिहास-संगत नहीं है।[1] मंडन और सुरेश्वर दो भिन्न पुरुष हैं। मंडन ने ब्रह्मसिद्धि लिखी है जो अद्वैत वेदान्त का ही ग्रन्थ है। वे संन्यास-आश्रम के विरोधी थे और कर्म-ज्ञान के समुच्चय को मानते थे। वाचस्पति मिश्र उन्हीं के परंपरा के अद्वैत वेदान्ती थे। इसीलिए संन्यासी वेदान्तियों ने उनको मंडनपृष्ठसेवी कहा है।

भर्तुहरि

भर्तुहरि शंकर के समकालीन थे। उन्होंने वाक्यपदीय लिखकर शब्दाद्वैतवाद की स्थापना की। स्फोटवाद इसी का निष्कर्ष है। शंकराचार्य ने शब्दाद्वैतवाद और

1. देखिए प्री-शंकर अद्वैत फिलासफी, अध्याय 5

स्फोटवाद दोनों का खण्डन किया है। एक परंपरा के अनुसार भर्तुहरि भी गौडपाद की परंपरा में आते हैं।[1] शंकर ने भर्तृहरि के विरोध में उपवर्ष के मतों को स्वीकार किया था। उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र पर एक वृत्ति लिखी थी जिसके कुछ अंशों को शंकर ने और कुछ को शबर स्वामी ने उद्‌धृत किया है।

शंकराचार्य के इन समकालीनों को देखने से ज्ञात होता है कि उनके समय में भारतीय दर्शन एक नयी करवट ले रहा था। कुमारिल, दिग्नाग और धर्मकीर्ति, मंडन, प्रभाकर तथा भर्तुहरि – सभी ने अपने-अपने क्षेत्र में एक क्रान्ति की है। किन्तु शंकर की क्रान्ति इन सभी क्रांतियों में सबसे अधिक युगान्तरकारी और स्थायी सिद्ध हुई है। अन्य क्रांतियां समाप्त हो गयीं और शंकर की क्रांति आज भी जीवित है। उनका अद्वैतवाद समस्त दर्शनों का साध्य तथा निकर्ष हो गया है। सभी दर्शन उसी की ओर जाते हैं।

1. वही पृ. 353

प्रथम भाग : न्याय-प्रस्थान
शारीरक-भाष्य

चतुःसूत्री

(1) अध्यास का सिद्धान्त

[बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य ने जो भाष्य लिखा है उसका नाम शारीरकभाष्य है। उस भाष्य के लिखने के कारण उनको प्रायः भाष्यकार या भगवान् भाष्यकार कहा जाता है। उस भाष्य की भूमिका को उपोद्घात कहा जाता है। उपोद्घात में शंकराचार्य ने अध्यास-सिद्धान्त का विवेचन किया है। इस कारण कभी-कभी इसको अध्यास-भाष्य भी कहा जाता है]

विषय "तुम" की प्रतीति से गोचर है; विषयी "हम" की प्रतीति से गोचर है। और इन दोनों का स्वभाव परस्पर वैसे ही विरुद्ध है जैसे अन्धकार और प्रकाश का स्वभाव। अतः सिद्ध है कि इनमें से किसी एक का तादात्म्य दूसरे से नहीं किया जा सकता। फिर उनके धर्मों का भी तादात्म्य परस्पर नहीं हो सकता। अतः "हम" प्रतीति से गोचर चिदात्मक विषयी में "तुम" प्रतीति से गोचर विषय और उसके गुणों का अध्यास मिथ्या है। इसी प्रकार विषय में विषयी और उसके गुणों का अध्यास मिथ्या है। फिर भी इन दोनों में अविवेक के द्वारा एक को दूसरे पर तथा एक के गुणों को दूसरे के गुणों पर आरोपित किया जाता है। इन अत्यन्त विभिन्न धर्म और धर्मी के होते हुए भी सत्य और अनृत को मिथुन बना करके 'मैं यह हूँ,' 'यह मेरा है', ऐसा जो लोक-व्यवहार नैसर्गिक है वह मिथ्यज्ञान-जन्य है।

अब प्रश्न है – यह अध्यास क्या है? इन पर कहते हैं – **स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट का दूसरे में जो अवभास है वह अभ्यास है।**[1] कोई लोग अन्य में अन्य-धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं।[2] कुछ लोग कहते हैं – 'जिसमें जिसका अध्यास है उसका भेद न समझने से होने वाला भ्रम अध्यास है।'[3] दूसरे लोग 'जिसमें जिसका अध्यास है, उसमें विरुद्ध धर्म वाले के भाव की कल्पना को' अध्यास कहते हैं।[4] परंतु किसी भी मत में 'दूसरे में दूसरे के धर्म की प्रतीति होना' इस लक्षण का व्यभिचार नहीं होता है।[5] इसी प्रकार

---

1. स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।
2. यह अन्यथाख्यातिवादियों अर्थात् न्याय-वैशेषिकों का मत है।
3. यह अख्यातिवादी अर्थात् प्रभाकर मीमांसक का मत है।
4. यह विपरीतख्यातिवादी अर्थात् कुमारिलभट्ट का मत है।
5. यह शंकराचार्य द्वारा उपर्युक्त ख्यातिवादों का आलोचनात्मक समन्वय है।

लोक-व्यवहार में भी ऐसा अनुभव है कि शुक्ति रजत के समान अवभासित होती है, एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रमाओं के समान मालूम पड़ता है।

अविषय प्रत्यगात्मा में विषय और विषय के धर्म का अध्यास कैसे हो सकता है? सब लोग पुरोवर्ती विषय में अन्य विषय का अध्यास करते हैं। 'तुम'- ऐसे प्रत्यय के अयोग्य प्रत्यगात्मा अविषय है, ऐसा आप कहते हैं। सुनिए, पहले तो यह आत्मा अत्यंत अविषय नहीं है क्योंकि वह 'हम' – ऐसे प्रत्यय का विषय है और स्वप्रकाश है, क्योंकि प्रत्यगात्मा प्रसिद्ध है। और पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो, ऐसा कोई नियम भी नहीं है, क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाश में भी अविवेकी पुरुष तल, मलिनता आदि का अध्यास करते हैं। इस प्रकार प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास भी अविरुद्ध है।

उक्त लक्षण वाले इस अध्यास को पंडित लोग 'अविद्या' मानते है और इससे विवेक करके वस्तु-स्वरूप के निर्धारण को 'विद्या' कहते हैं। ऐसा होने पर जिसमें जिसका अध्यास है। उसके गुण अथवा दोष के साथ अणुमात्र भी उसका संबंध नहीं होता। उक्त अविद्या या आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास को निमित्त मानकर सब लौकिक और वैदिक प्रमाण-प्रमेय के व्यवहार प्रवृत्त होते हैं और सब विधि-निषेध बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त होते हैं।

फिर जिनका आश्रय अविद्या है वे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र कैसे संभव है? अविद्यावान् आत्मा को विषय करने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाण एवं शास्त्रों में प्रामाण्य कैसे संभव है? इस पर कहते हैं – देह, इन्द्रिय आदि में 'मैं', ''मेरा'' इस अभिमानरहित पुरुष का प्रमातृत्व असिद्ध होने पर प्रमाता की 'उपपत्ति नहीं होती है और प्रमाता के अनुपपन्न होने पर प्रमाण की प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होती है। इसलिए इन्द्रियों को ग्रहण किये बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं है और अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों से कृत,घट, पट आदि का व्यवहार सम्भव नहीं है। जिसमें आत्मभाव अध्यस्त नहीं है, उस शरीर से कोई व्यापार नहीं हो सकता। और ये सब अध्यास न हों, तो असंग आत्मा प्रमाता नहीं हो सकती और प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र का आश्रय अविद्यावान् पुरुष ही है। और क्योंकि पशु आदि के व्यवहार से विद्वान् के व्यवहार में विशेषता नहीं है। अतः सिद्ध है कि प्रमाण और शास्त्र के आश्रय अविद्वान् ही हैं; जैसे यदि पशु को शब्द का श्रोत्र के साथ संबंध हो और शब्द का ज्ञान प्रतिकूल हो, तो वे उससे निवृत्त होते हैं और अनुकूल हो, तो वे उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी पुरुष के हाथ में दण्ड देकर 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझ कर वे भागने लगते हैं; यदि उसके हाथ में हरी घास होती है, तो वे उसके सम्मुख हो जाते हैं, इसी प्रकार जब विवेकी पुरुष भी, क्रूर दृष्टि वाले, हाथ में खड्ग उठाये हुए, चिल्लाते हुए बलवान् पुरुषों को देखते हैं, तो वे उनसे हट

जाते हैं और उनसे विपरीत पुरुषों की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसलिए पुरुषों के प्रमाण और प्रमेय के व्यवहार पशु आदि के समान ही व्यवहार है। और पशु आदि का प्रत्यक्ष आदि व्यवहार अविवेकपूर्वक है, यह प्रसिद्ध ही है। पशु आदि के साथ सादृश्य दिखाई देता है, इसलिए विवेकी पुरुषों का भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार तत्काल में (व्यवहार-काल में) समान है, ऐसा निश्चय होता है। शास्त्रीय व्यवहार में तो परलोक के साथ आत्मा का संवंध जाने बिना यद्यपि विवेकी पुरुष अधिकृत नहीं होता, तो भी जिस आत्म-तत्व का ज्ञान वेदान्त से प्राप्त होता है, जिसका क्षुधा आदि के साथ संबंध नहीं है। जिसमें ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि भेद नहीं है, ऐसे असंसारी आत्म-तत्व को कर्माधिकार में अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमें आत्म-तत्व का अनुपयोग है और अधिकार का विरोध है। इस प्रकार के आत्म-ज्ञान के पूर्व प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् का ही आश्रय लेता है, जैसे – 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र-वाक्य आत्मा में भिन्न-भिन्न वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि का अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं। **'जिसमें वह नहीं है, उसमें वह है' ऐसी बुद्धि अध्यास है,**[1] यह पहले बतला चुके हैं। वह अध्यास इस प्रकार है – 'पुत्र, भार्या आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ' ऐसा बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करना है। इसी प्रकार आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास करके लोग कहते हैं कि 'मैं मोटा हूँ', 'मैं कृश हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मैं खड़ा हूँ', 'मैं जानता हूँ', 'मैं लाँघता हूँ'। इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास करके लोग कहते हैं कि 'मैं गूंगा हूँ', 'मैं काला हूँ', 'मैं नपुंसक हूँ', 'मैं बहरा हूँ', 'मैं अंधा हूँ'। इसी प्रकार वे काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास करते हैं तथा 'मैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण का – अंतःकरण की सब वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में – अध्यास करते हैं। इसके विपरीत, वे उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास करते हैं। इस प्रकार अनादि अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञान-स्वरूप और (आत्मा में) कर्तुत्व, भोक्तृत्व आदि उत्पन्न करने वाला यह अध्याय सब लोगों को प्रत्यक्ष होता है।

इस अनर्थ के हेतु अध्यास का समूल नाश करने के लिए एवं ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का ज्ञान उत्पन्न करने के लिए सब वेदान्त आरंभ होते हैं। सब वेदान्तों का जिस प्रकार ब्रह्मात्मैकत्व विषय है, उसे हम इस शारीरक-मीमांसा में बतायेंगे।

2. ब्रह्म-जिज्ञासा की संभावना

[वादरायण के ब्रह्मसूत्र का पहला सूत्र है– **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**। अथ, अतः ब्रह्म, जिज्ञासा – इन चार शब्दों पर शंकराचार्य का भाष्य जिज्ञासा-भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें शंकराचार्य ने साधन-चतुष्टय तथा ब्रह्म-जिज्ञासा के स्वरूप का वर्णन किया है।]

---

1. अध्यासो नाम अतस्मिन् तद् बुद्धिरिति।

यहां पर अथ शब्द आनन्तर्य वाचक लिया जाता है, आरम्भवाचक नहीं, क्योंकि ब्रह्म-जिज्ञासा का आरंभ नहीं किया जा सकता और मङ्गल का वाक्यार्थ में समन्वय नहीं होता। अन्य अर्थ में (आनन्तर्य अर्थ में) प्रयुक्त हुआ ही 'अथ' शब्द श्रवण द्वारा मङ्गल का प्रयोजक होता है। फल (विचार) की हेतुभूत पूर्व प्रकृति के साथ जो अपेक्षा है, उसका आनन्तर्य से भेद नहीं है।

'आनन्तर्य' अर्थ होने पर जैसे धर्म-जिज्ञासा नियमतः पूर्व में होने वाले वेदाध्ययन की अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार ब्रह्म-जिज्ञासा भी नियमतः पूर्व में होने वाली जिस वस्तु की अपेक्षा रखती उसे कहना चाहिए। स्वाध्याय का आनन्तर्य तो दोनों में समान है। यदि कहिए कि इसमें कर्मज्ञान का आनन्तर्य विशेष है, तो ऐसा नहीं है। जिसने वेदान्त का अध्ययन किया है, उसे धर्म-जिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्म-जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। और जैसे हृदय आदि के अवदान में आनन्तर्य (क्रम) का नियम है, क्योंकि क्रम की विवक्षा है, वैसे यहां क्रम की विवक्षा नहीं है; धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा में शेषशेषिभाव अथवा अधिकृताधिकार मानने में प्रमाण नहीं है और दोनों के फल और विषय में भेद है। धर्म-ज्ञान का फल अभ्युदय है और वह अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है; ब्रह्म-ज्ञान का फल तो मोक्ष है और उसे अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है। धर्म-जिज्ञासा का विषय जो धर्म है, वह साध्य और ज्ञान-काल में नहीं है; क्योंकि वह पुरुष-व्यापार के अधीन है। यहाँ जिज्ञासा का विषय जो ब्रह्म है, वह नित्य होने से पुरुष-व्यापार के अधीन नहीं है और बोध कराने वाले प्रमाण की प्रवृत्ति के भेद से भी जिज्ञास्य-भेद है। जो विधि धर्म में प्रमाण है, वह पुरुष को स्वविषय (धर्म) में प्रवृत्त कराती हुई ही बोध कराती है। ब्रह्म-बोधक प्रमाण तो पुरुष को बोध मात्र ही कराता है, प्रवृत्ति कराता हुआ बोध नहीं कराता। बोध (प्रवृत्ति-सहित बोध) ब्रह्मप्रमाण से जन्य नहीं है। इसलिए वह (विधि द्वारा) पुरुष को बोध में प्रवृत्त नहीं करता। जैसे इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से पदार्थ-ज्ञान होता है, किंतु प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान से भी प्रवृत्ति नहीं होती।

इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा का उपदेश किया जाता है, ऐसा कोई असाधारण कारण कहना चाहिए। अब असाधारण कारण बतलाते हैं। ये हैं नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इस लोक में और परलोक में विषय-भोग के प्रति वैराग्य, शम-दम आदि[1] 'साधन-सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। इतना हो, तो धर्म-जिज्ञासा के पहले और पीछे भी ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा हो सकती है और ब्रह्म-ज्ञान भी हो सकता है। इन चार साधनों के बिना दोनों नहीं हो सकते, इसलिए 'अथ' शब्द से पूर्वोक्त साधन-सम्पत्ति के आनन्तर्य का उपदेश होता है।

---

1. यहाँ आदि का अर्थ उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा है। इस प्रकार कुल साधन सम्पत्ति छः हैं – सम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा।

'अतः' शब्द हेतु वाचक है। "जैसे खेती आदि से उपार्जित भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं, इसी प्रकार परलोक में पुण्य से सम्पादन किये हुए लोकों का क्षय हो जाता है,"[1] इत्यादि श्रुति-वाक्य कल्याण के साधन अग्निहोत्र आदि के फल स्वर्ग आदि में अनित्यता दर्शाते हैं। इसी प्रकार "ब्रह्म को जानने वाला मोक्ष प्राप्त करता है,"[2] इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म-ज्ञान से ही परम पुरुषार्थ को दिखलाती हैं। इसलिए उपर्युक्त साधन-सम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए।

ब्रह्म की जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा है। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में जिसका लक्षण कहा जायेगा वह ब्रह्म है। इसी कारण से ऐसी शंका न करनी चाहिए कि 'ब्रह्म' शब्द का जाति आदि दूसरा अर्थ है। 'ब्रह्म' यहाँ कर्मवाचक के अर्थ में संबंध कारक है, शेष-वाचक संबंध कारक नहीं है; क्योंकि जिज्ञासा को जिज्ञास्य की अपेक्षा रहती है और ब्रह्म के सिवा दूसरे जिज्ञास्य का निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा कहो शेषवाचक संबंध कारक के ग्रहण करने में भी ब्रह्म के जिज्ञासा का कर्म होने में कुछ विरोध नहीं है; क्योंकि जो संबंध सामान्य का वाचक है, वह विशेष संबंध को भी दिखलाता ही है? तो इस प्रकार भी ब्रह्म के प्रत्यक्षकर्मत्व को छोड़कर सामान्य-संबंध द्वारा परोक्ष कर्मत्व की कल्पना करने में प्रयास व्यर्थ होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के आश्रित सब पदार्थों के विचार की प्रतिज्ञा करना प्रयोजन है, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि प्रधान का परिग्रह होने पर, उसकी अपेक्षा रखने वाले सब पदार्थों का अर्थतः आक्षेप हो जाता है। ब्रह्म ज्ञान से प्राप्त करने के लिए इष्टतम (अत्यन्त इष्ट) है, अतः वह प्रधान है। जिज्ञासा के कर्म उस प्रधान के ग्रहण होते ही जिनकी जिज्ञासा हुए बिना ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होती, उन सबका अर्थतः आक्षेप हो ही जाता है, इसलिए सूत्र में उनको अलग कहने की आवश्यकता नहीं है, जैसे 'यह राजा जाता है' ऐसा कहने से ही परिवार-सहित राजा के गमन का कथन हो जाता है। इसी प्रकार श्रुति के साथ सूत्र का संबंध करने से भी कर्मवाचक संबंध कारक है। जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं।"[3] इत्यादि श्रुतियाँ "उसको जानने की इच्छा कर वह ब्रह्म है",[4] इस प्रकार ब्रह्म की जिज्ञासा का कर्म है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाती है और कर्मवाचक संबंध कारक मानने से ही श्रुति के साथ सूत्र की एकवाक्यता होती है; इसलिए 'ब्रह्म की जिज्ञासा' यहाँ कर्मवाचक संबंध कारक है।

जानने की इच्छा जिज्ञासा है। अवगति पर्यन्त ज्ञान यहाँ इच्छा का कर्म है, क्योंकि इच्छा का विषय फल है। ब्रह्म ज्ञान-रूप प्रमाण से जानने योग्य है, क्योंकि ब्रह्म की अवगति पुरुषार्थ है। कारण, उससे निःशेष संसार के बीजरूप अविद्या आदि अनर्थों का नाश होता है। इसलिए ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् 8/1/6
2. तैत्तिरीय उपनिषद् 2/1
3. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1
4. वही 3/1

वह ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध है? यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा करने की आवश्यकता नहीं है। यदि वह अप्रसिद्ध है, तो उसकी जिज्ञासा हो नहीं सकती है। इस शंका का समाधान करते हैं– नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सवर्ज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म प्रसिद्ध है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति से, 'वृह्' धातु के अर्थ के अनुसार नित्य, शुद्ध इत्यादि अर्थों की प्रतीति होती है। और सबकी आत्मा होने से ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है।[1] सबको आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है, 'मैं नहीं हूँ', ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध न होता, तो सब लोगों को 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान होता। आत्मा ही ब्रह्म है। यदि लोगों में ब्रह्म आत्म-रूप से प्रसिद्ध है, तो वह ज्ञात ही है। इसलिए उसकी जिज्ञासा नहीं बनती, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उसके विशेष ज्ञान में मतभेद है। चैतन्य-विशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृत जन और लोकायतिक (चार्वाक) मानते हैं। दूसरे कहते हैं कि चेतन इन्द्रियाँ ही आत्मा है। अन्य लोग कहते हैं कि मन ही आत्मा है। कोई कहते हैं कि क्षणिक-विज्ञानमात्र आत्मा है। दूसरों के मत में आत्मा शून्य है। देहादि से भिन्न, संसारी, कर्ता और भोक्ता आत्मा है, ऐसा और लोग मानते हैं। कोई कहते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता ही है, कर्ता नहीं। किसी का कहना है कि जीव से भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-सम्पन्न है। वह ईश्वर भोक्ता (जीव) का आत्मा-स्वरूप ही है, ऐसा कोई मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य और उनके आभास के आधार पर बहुत से मतभेद हैं। यदि उनका विचार किये बिना कोई इनमें से किसी मत को ग्रहण करता है तो वह मोक्ष से हट जायेगा और अनर्थ प्राप्त होने लगेगा। इसलिए ब्रह्म– जिज्ञासा के कथन अविरूद्ध तर्क के साधन हैं और इसका प्रयोजन मोक्ष है, ऐसे वेदान्त-वाक्यों की मीमांसा का हम आरंभ करते हैं।

[ब्रह्म का लक्षण ब्रह्मसूत्र के दूसरे सूत्र में किया गया है जिसे जन्मादि-सूत्र कहा जाता है। यह सूत्र है – **जन्माद्यस्य यतः** (जन्मादि+अस्य+यतः)। तीसरा सूत्र है **शास्त्रयोनित्वात्**। इसकी दो व्याख्यायें हैं। एक व्याख्या के अनुसार यह भी ब्रह्म का लक्षण है। दूसरी व्याख्या के अनुसार यह ब्रह्म के जानने का साधन बताता है।]

3. ब्रह्म का लक्षण

ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए, ऐसा ऊपर कहा गया है। अब प्रश्न है – ब्रह्म का लक्षण क्या है? भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि ब्रह्म का लक्षण "जन्माद्यस्य यतः" है। इसके (जगत् के) जन्मादि जिससे होते हैं वह ब्रह्म है। जन्म अर्थात् उत्पत्ति है आदि में जिसके, वे जन्म आदि हैं। यहाँ "जन्मादि" में तद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि समास है। इस समस्त पद का अर्थ है – जन्म, स्थिति और नाश। श्रुतिनिर्देश और वस्तुस्थिति की अपेक्षा से जन्म का पहले उपपादान किया गया है। श्रुतिनिर्देश है – 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'[2] इस वाक्य में जन्म, स्थिति और लय का

1. सर्वस्य आत्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।
2. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1

क्रमशः दर्शन होता है। वस्तु-स्थिति भी ऐसी ही है, क्योंकि जन्म से सत्ता को प्राप्त हुए धर्मों की स्थिति और फिर लय का होना सम्भव है।

"इसके" (इदम् का); इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से संवेदित धर्मी (जगत्, विपत् आदि) का 'इदम्' शब्द से निर्देश है। यहाँ संबंधकारक जन्म आदि धर्म से धर्मों के संबंध का द्योतन करता है। 'यतः (जिससे) कारण का निर्देश है। जगत् कैसा है? वह नाम रूप में प्रकट है। वह अनेक कर्ता-भोक्ता से संयुक्त है। उसमें क्रिया और फल का निश्चित संबंध है। वह देश-काल और निमित्त से नियमित या व्यवस्थित है। उसके आश्रय-आधार की रचना के स्वरूप का विचार मन से भी नहीं हो सकता है। ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सवर्ज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं वह ब्रह्म है – यह पूरा वाक्य है। अन्य भाव विकारों का भी इन तीनों में ही अंतभार्व है। इसलिए जन्म, स्थिति और नाश का यहाँ ग्रहण है। यास्क-मुनि से पठित 'जायते', अस्ति' इत्यादि छः भाव-विकारों का यदि ग्रहण किया जाये, तो जगत् के स्थिति-काल में उनकी सम्भावना होने से मूल कारण से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का ग्रहण नहीं होगा– ऐसी कोई शंका करेगा। यह शंका कोई न करे, इसलिए जिस ब्रह्म से इस जगत् की जो उत्पत्ति, उसी में जो स्थिति और उसी में जो लय श्रुति में कहे गये, वे ही जन्म, स्थिति और लय यहाँ गृहीत होते हैं।

पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त जगत् की उक्त विशेषण से विशिष्ट ईश्वर के सिवा अन्य से – अचेतन प्रधान से, अचेतन परमाणुओं से, अभाव (शून्य) से, अथवा संसारी (हिरण्यगर्भ) से, उत्पत्ति आदि की संभावना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार स्वभाव से भी जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ कार्यार्थी पुरुषों द्वारा विशेष देश, काल और निमित्त का ग्रहण किया जाता है।

ईश्वर को जगत् का कारण मानने वाले (नैयायिक) इसी अनुमान को संसारी (जीव) से पृथक् ईश्वर की सत्ता का साधक प्रमाण मानते हैं। तो क्या जन्मादि सूत्र में भी उसी अनुमान का उपन्यास किया गया है? नहीं, वेदान्त-वाक्य रूपी फूलों को गूँथना ही ब्रह्म-सूत्रों का प्रयोजन है। सूत्रों में वेदान्त-वाक्यों का उदाहरण देकर उनका विचार किया जाता है। वाक्यार्थ-विचार से जो तात्पर्य निश्चय होता है, उससे ब्रह्म-ज्ञान निष्पन्न होता है। अनुमान आदि प्रमाणान्तर से यह निश्चय नहीं होता। जगत् के जन्म आदि का निर्देश करने वाले वेदान्त-वाक्यों के रहने पर उनके अर्थ की दृढ़ता के लिए वेदान्त-वाक्यों से अनुमत अनुमान भी प्रमाण हो, तो उसका निवारण नहीं किया जाता, क्योंकि श्रुति ने ही सहायता के लिए तर्क को भी अंगीकार किया है। जैसे "(ब्रह्म) श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है"[1] यह श्रुति है और "जैसे पण्डित और मेधावी गान्दार देश पहुँच जाता है,

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/5

उसी प्रकार आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है,"[1] यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुष की बुद्धि को सहायक बतलाती है।

धर्म जिज्ञासा की तरह ब्रह्म-जिज्ञासा में श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं है, किन्तु श्रुति आदि और अनुभव आदि यथासंभव यहाँ प्रमाण हैं; क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तु (ब्रह्म) विषयक है और ब्रह्मज्ञान की चरम सीमा अनुभव (ब्रह्म-साक्षात्कार) है। धर्म के विषय में अनुभव की अपेक्षा नहीं है, किन्तु उसमें श्रुति आदि ही प्रमाण है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य की उत्पत्ति पुरुषाधीन है, इसलिए लौकिक और वैदिक कर्म करना, न करना और दूसरे प्रकार से करना अपने अधीन है – कर्ता के अधीन है। जैसे वह घोड़े पर जाता है, पैदल अथवा अन्य प्रकार से जाता है अथवा नहीं जाता, इसी प्रकार वह अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण करता है, अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नहीं करता, 'सूर्य उदय होने पर होम करता है', 'सूर्योदय से पूर्व होम करता है।' इस प्रकार विधि और प्रतिषेध तथा विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद यहाँ (धर्म में) सावकाश होते हैं। परंतु सिद्ध पदार्थ इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, है अथवा नहीं है, ऐसे विकल्पों का विषय वह नहीं है। विकल्प तो पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा करते हैं। सिद्ध वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता, किंतु वह तो सिद्ध पदार्थ के ही अधीन है। एक स्थाणु या ठूँठ में स्थाणु है या पुरुष है, या अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उसमें पुरुष है या अन्य कुछ है, यह मिथ्या ज्ञान है। स्थाणु ही है, यह तत्व-ज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु के अधीन है। उसी प्रकार सिद्ध वस्तु का प्रामाण्य वस्तु के अधीन है। अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्म-ज्ञान भी वस्तु के अधीन ही है, क्योंकि उसका विषय सिद्ध वस्तु है।

कोई शंका कर सकता है कि ब्रह्म सिद्ध वस्तु होने से अन्य प्रमाण का भी विषय होगा, इसलिए वेदान्त-वाक्यों के विचार की अनर्थकता ही प्राप्त होती है। यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिए अन्य प्रमाणों से उसका जगत्-रूप कार्य के साथ संबंध का ग्रहण नहीं होता। इन्द्रियाँ स्वभाव से विषयोन्मुख हैं। वे ब्रह्म को विषय नहीं करती। यदि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय हो, तो इस जगत-रूप कार्य का ब्रह्म के साथ संबंध है, ऐसा जाना जा सकता था। परंतु कार्यमात्र अर्थात यह जगत् ही इन्द्रियों से गृहीत होता है। लेकिन उसका संबंध ब्रह्म के साथ है अथवा किसी अन्य के साथ है, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए 'जन्मादि सूत्र' अनुमान के उपन्यास के लिए नहीं है, किन्तु वेदान्त-वाक्यों के प्रदर्शन के लिए हैं।

वे कौन से वेदान्त-वाक्य है, जिनका इस सूत्र द्वारा ब्रह्म के लक्षण रूप से विचार करना अभीष्ट है? भृगु वारुणि पिता वरुण के पास गया और कहा – 'भगवन! ब्रह्म का उपदेश कीजिए।' ऐसा उपक्रम आरंभ करके कहते हैं – "जिससे ये भूत उत्पन्न

1. छान्दोग्य उपनिषद् 6/14/2

होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, जिसके प्रति जीते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको ठीक-ठीक जानने की इच्छा कर, वह ब्रह्म है।"[1] उसका निर्णय वाक्य यह है– 'आनंद से ही निःसंदेह भूत उत्पन्न होते हैं, जन्म लेकर आनन्द (ब्रह्म) से पालित होते हैं और आनन्द में लीन होते हैं।"[2] नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त सर्वज्ञ स्वरूप जो कारण (ब्रह्म) है, उसके विषय में इस प्रकार के लक्षण का निर्देश करने वाले अन्य वाक्य भी उद्धृत किये जा सकते हैं।

ब्रह्म में जगत्कारणता दिखलाने से सर्वज्ञता सूचित हुई। अब उसी को दृढ़ करते हुए कहते हैं –

अनेक विद्यास्थानों से उपकृत, प्रदीप के समान सब अर्थों के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञ-कल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऋग्वेद आदि सर्वज्ञ गुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सवर्ज्ञ को छोड़कर दूसरे से नहीं हो सकती है। जो-जो विस्तरार्थ शास्त्र जिस पुरुष विशेष से रचे जाते हैं, जैसे पाणिनि के द्वारा रचा गया व्याकरण-शास्त्र वह पुरुष विशेष उस शास्त्र से अधिकतर ज्ञानवान् है, यह लोक में प्रसिद्ध है। तो अनेक शाखा-भेद से भिन्न देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि विभाग का हेतु, सर्वज्ञान का आकर, ऋग्वेद आदि संज्ञक शास्त्र का अनायास उद्‌भव लीला-न्याय से पुरुष निःश्वास के समान जिस महान् सत्य योनि से संभव है, उस महान् सत्य योनि के निरतिशय सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व के बारे में तो कहना ही क्या है?

इस महान् भूत का जो निश्वास है वह ऋग्वेद है।[3] इस श्रुति से जाना जाता है कि ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के निश्वास है। अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान में योनि (कारण) अर्थात् प्रमाण है। इसलिए ब्रह्म केवल वेद से जाना जाता है। शास्त्र-रूप प्रमाण से ही ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्म जगत् के जन्म आदि का कारण है, यह अभिप्राय है। पूर्व सूत्र में "यतो वा भूतानि जायन्ते" इत्यादि शास्त्रों का उदाहरण दिया गया है। जब पूर्व सूत्र में ही ऐसे शास्त्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार ने कह दिया कि ब्रह्म शास्त्र-योनि है, तो फिर इस सूत्र का प्रयोजन ही क्या है? इस विषय में कहा जाता है – पूर्व सूत्र के अक्षरों में शास्त्र का स्पष्ट उपपादान नहीं किया गया है, इसलिए जगत् के जन्म आदि का केवल अनुमान रूप से उपन्यास किया गया है, ऐसी आशंका कोई करे तो उस आशंका को दूर करने के लिए 'शास्त्रयोनित्वात्, यह सुत्र प्रवृत्त हुआ है।'

4. ब्रह्म में प्रमाण

[बादरायण के तीसरे सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' की दूसरी व्याख्या यह है कि ब्रह्म का ज्ञान शास्त्र से होता है। किन्तु शास्त्र का अर्थ धर्म है, न कि ब्रह्म, ऐसा जैमिनि

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1
2. वही 3/6
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/10

ने कर्ममीमांसासूत्र में कहा है। इस पक्ष का विचार करते हुए शंकराचार्य सिद्ध करते हैं कि शास्त्र का अर्थ धर्म न होकर ब्रह्म है। इसको शंकराचार्य बादरायण के चतुर्थ ब्रह्मसूत्र के भाष्य से कहते हैं। यह सूत्र है – तत्तु समन्वयात् अर्थात् वेदान्त-वाक्यों के समन्वय से वह ब्रह्म ज्ञात होता है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्ययतः, शास्त्रयोनित्वात् और तत्तु समन्वयात्, इन चार सूत्रों को चतुः सूत्री कहा जाता है। चतुःसूत्री अद्वैतवेदान्त का सारांश है। इसमें अद्वैतवेदान्त का सम्पूर्ण रचनात्मक या विधायक पक्ष विद्यमान है।]

ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण है, ऐसा कैसे कहते हो? इस पर कहते हैं कि शास्त्र को क्रियापरक दिखलाया गया है। जैमिनि-सूत्र है कि 'वेद क्रियार्थक है और क्रिया से भिन्न किसी वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वेद-वाक्य निरर्थक है।'"[1] इसलिए वेदान्त अनर्थक है क्योंकि वह क्रियापरक नहीं है अथवा कर्ता, देवता आदि अर्थों का प्रकाशन करने वाले वेद-वाक्य क्रिया-विधि के अंग हैं या वे उपासना आदि अन्य क्रियाओं के विधान है। किसी प्रकार से वेदान्त-वाक्य किसी सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकते। सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय है। वह न तो हेय है और न उपादेय, इसलिए उसका प्रतिपादन भी पुरुषार्थ से रहित है। 'वह रोया' ऐसे वाक्य निरर्थक न हों, इसलिए विधि-वाक्यों के साथ अर्थवाद के रूप में उनकी एकवाक्यता मानी जाती है।[2] स्तुतिपरक होने के कारण वे सार्थक माने गये हैं। "हे शाखाओं! तुझे अन्न के लिए काटता हूँ।" आदि वाक्य क्रिया तथा उसके साधनों का अभिधान करने के कारण कर्म-समवायी कहे गये हैं। कहीं भी बिना विधि-वाक्यों का स्पर्श किये हुए वेद-वाक्यों की अर्थवत्ता नहीं देखी जाती है और न सिद्ध ही होती है। फिर सिद्ध वस्तु के वर्णन में विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधि का विषय क्रिया है। अतः कर्म में अपेक्षित कर्ता, देवता आदि का प्रकाशन करने के कारण वेदान्त क्रियाविधि के अंग है। यदि अन्य प्रकरण के भय से यह स्वीकार न किया जाये तो भी वेदान्त अपने वाक्यों में उपलब्ध उपासना आदि के कर्म का अर्थ देते हैं। इसलिए ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं है।

ऐसी शंका होने पर भगवान् सूत्रकार कहते हैं – तत्तु समन्वयात्[3] अर्थात् वेदान्त वाक्यों के समन्वय से तत् अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण-रूप ब्रह्म ज्ञात होता है। इस सूत्र में 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्वपक्ष के निकारण के लिए है।

यह समन्वय कैसे है? इस पर कहते हैं – देखिए, 'सदेव सोम्य इदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्'[4] (हे सोम्य, पहले सत् ही था, वह एक और अद्वितीय था),

---

1. आम्नान्यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्, जैमिनि-सूत्र 1/2/1
2. विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। जैमिनि-सूत्र 1/2/7
3. यह बादरायण का चौथा सूत्र है। इसका अर्थ है – तत् (ब्रह्म) तो समन्वय से (सिद्ध है)।
4. छान्दोग्य उपनिषद् 6/2/1

होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, जिसके प्रति जीते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको ठीक-ठीक जानने की इच्छा कर, वह ब्रह्म है।''[1] उसका निर्णय वाक्य यह है– 'आनंद से ही निःसंदेह भूत उत्पन्न होते हैं, जन्म लेकर आनन्द (ब्रह्म) से पालित होते हैं और आनन्द में लीन होते हैं।''[2] नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त सर्वज्ञ स्वरूप जो कारण (ब्रह्म) है, उसके विषय में इस प्रकार के लक्षण का निर्देश करने वाले अन्य वाक्य भी उद्धृत किये जा सकते हैं।

ब्रह्म में जगत्कारणता दिखलाने से सर्वज्ञता सूचित हुई। अब उसी को दृढ़ करते हुए कहते हैं –

अनेक विद्यास्थानों से उपकृत, प्रदीप के समान सब अर्थों के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञ-कल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऋग्वेद आदि सर्वज्ञ गुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सवर्ज्ञ को छोड़कर दूसरे से नहीं हो सकती है। जो-जो विस्तरार्थ शास्त्र जिस पुरुष विशेष से रचे जाते हैं, जैसे पाणिनि के द्वारा रचा गया व्याकरण-शास्त्र वह पुरुष विशेष उस शास्त्र से अधिकतर ज्ञानवान् है, यह लोक में प्रसिद्ध है। तो अनेक शाखा-भेद से भिन्न देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि विभाग का हेतु, सर्वज्ञान का आकर, ऋग्वेद आदि संज्ञक शास्त्र का अनायास उद्भव लीला-न्याय से पुरुष निःश्वास के समान जिस महान् सत्य योनि से संभव है, उस महान् सत्य योनि के निरतिशय सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व के बारे में तो कहना ही क्या है?

इस महान् भूत का जो निश्वास है वह ऋग्वेद है।[3] इस श्रुति से जाना जाता है कि ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के निश्वास है। अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान में योनि (कारण) अर्थात् प्रमाण है। इसलिए ब्रह्म केवल वेद से जाना जाता है। शास्त्र-रूप प्रमाण से ही ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्म जगत् के जन्म आदि का कारण है, यह अभिप्राय है। पूर्व सूत्र में ''यतो वा भूतानि जायन्ते'' इत्यादि शास्त्रों का उदाहरण दिया गया है। जब पूर्व सूत्र में ही ऐसे शास्त्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार ने कह दिया कि ब्रह्म शास्त्र-योनि है, तो फिर इस सूत्र का प्रयोजन ही क्या है? इस विषय में कहा जाता है – पूर्व सूत्र के अक्षरों में शास्त्र का स्पष्ट उपपादान नहीं किया गया है, इसलिए जगत् के जन्म आदि का केवल अनुमान रूप से उपन्यास किया गया है, ऐसी आशंका कोई करे तो उस आशंका को दूर करने के लिए 'शास्त्रयोनित्वात्, यह सुत्र प्रवृत्त हुआ है।'

4. ब्रह्म में प्रमाण

[बादरायण के तीसरे सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' की दूसरी व्याख्या यह है कि ब्रह्म का ज्ञान शास्त्र से होता है। किन्तु शास्त्र का अर्थ धर्म है, न कि ब्रह्म, ऐसा जैमिनि

1. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1
2. वही 3/6
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/10

ने कर्ममीमांसासूत्र में कहा है। इस पक्ष का विचार करते हुए शंकराचार्य सिद्ध करते हैं कि शास्त्र का अर्थ धर्म न होकर ब्रह्म है। इसको शंकराचार्य बादरायण के चतुर्थ ब्रह्मसूत्र के भाष्य से कहते हैं। यह सूत्र है – तत्तु समन्वयात् अर्थात् वेदान्त-वाक्यों के समन्वय से वह ब्रह्म ज्ञात होता है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्ययतः, शास्त्रयोनित्वात् और तत्तु समन्वयात्, इन चार सूत्रों को चतुः सूत्री कहा जाता है। चतुःसूत्री अद्वैतवेदान्त का सारांश है। इसमें अद्वैतवेदान्त का सम्पूर्ण रचनात्मक या विधायक पक्ष विद्यमान है।]

ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण है, ऐसा कैसे कहते हो? इस पर कहते हैं कि शास्त्र को क्रियापरक दिखलाया गया है। जैमिनि-सूत्र है कि 'वेद क्रियार्थक है और क्रिया से भिन्न किसी वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वेद-वाक्य निरर्थक है।''[1] इसलिए वेदान्त अनर्थक है क्योंकि वह क्रियापरक नहीं है अथवा कर्ता, देवता आदि अर्थों का प्रकाशन करने वाले वेद-वाक्य क्रिया-विधि के अंग हैं या वे उपासना आदि अन्य क्रियाओं के विधान है। किसी प्रकार से वेदान्त-वाक्य किसी सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकते। सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय है। वह न तो हेय है और न उपादेय, इसलिए उसका प्रतिपादन भी पुरुषार्थ से रहित है। 'वह रोया' ऐसे वाक्य निरर्थक न हों, इसलिए विधि-वाक्यों के साथ अर्थवाद के रूप में उनकी एकवाक्यता मानी जाती है।[2] स्तुतिपरक होने के कारण वे सार्थक माने गये हैं। "हे शाखाओं! तुझे अन्न के लिए काटता हूँ।" आदि वाक्य क्रिया तथा उसके साधनों का अभिधान करने के कारण कर्म-समवायी कहे गये हैं। कहीं भी बिना विधि-वाक्यों का स्पर्श किये हुए वेद-वाक्यों की अर्थवत्ता नहीं देखी जाती है और न सिद्ध ही होती है। फिर सिद्ध वस्तु के वर्णन में विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधि का विषय क्रिया है। अतः कर्म में अपेक्षित कर्ता, देवता आदि का प्रकाशन करने के कारण वेदान्त क्रियाविधि के अंग है। यदि अन्य प्रकरण के भय से यह स्वीकार न किया जाये तो भी वेदान्त अपने वाक्यों में उपलब्ध उपासना आदि के कर्म का अर्थ देते हैं। इसलिए ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं है।

ऐसी शंका होने पर भगवान् सूत्रकार कहते हैं – तत्तु समन्वयात्[3] अर्थात् वेदान्त वाक्यों के समन्वय से तत् अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण-रूप ब्रह्म ज्ञात होता है। इस सूत्र में 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्वपक्ष के निकारण के लिए है।

यह समन्वय कैसे है? इस पर कहते हैं – देखिए, 'सदेव सोम्य इदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्'[4] (हे सोम्य, पहले सत् ही था, वह एक और अद्वितीय था),

---

1. आम्नान्यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्, जैमिनि-सूत्र 1/2/1
2. विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। जैमिनि-सूत्र 1/2/7
3. यह बादरायण का चौथा सूत्र है। इसका अर्थ है – तत् (ब्रह्म) तो समन्वय से (सिद्ध है)।
4. छान्दोग्य उपनिषद् 6/2/1

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"[1] (पहले यह एक आत्मा ही थी) 'तदेतद्ब्रह्म अपूर्वम्, अनपरम् अनन्तरम् अवाह्यम् (यह ब्रह्म अपूर्व, कार्यरहित, अनन्तर और अबाह्य है), अयं आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः[2] (यह आत्मा ही सब का अनुभव करने वाला ब्रह्म है), "ब्रह्मैव इदम् अमृतम् पुरस्तात्"[3] (सामने अविनाशी यह ब्रह्म ही है), इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म के अर्थ में ही प्रतिपादित होता है। वेदान्त-वाक्यों में प्राप्त पदों का ब्रह्मस्वरूप के विषय में निश्चित समन्वय जान लेने पर अन्यार्थ (कार्यरूप अर्थ) की कल्पनायुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से श्रुत (श्रुति प्रतिपादित ब्रह्म-अर्थ) की हानि और अश्रुत (श्रुति में अप्रतिपादित यागादि क्रिया) अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। और इन वाक्यों का कर्ता के स्वरूप-प्रतिपादन में तात्पर्य निश्चित नहीं होता, क्योंकि "तत्केन कं पश्येत्"[4] (ब्रह्म विद्या-काल में कौन कर्ता किस कारण से किस विषय को देखे?) इत्यादि श्रुति क्रिया, कारक और फल का निषेध करती है। सिद्ध वस्तु-स्वरूप होने पर भी ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है, क्योंकि 'तत्वमसि'[5] इस वेदान्त-वाक्य के बिना, ब्रह्मात्म-भाव अवगत नहीं होता।[6] हेयोपादेय-रहित होने से ब्रह्म का उपदेश निष्फल है, यह जो कहा गया है, वह दोष नहीं है क्योंकि हेयोपादेय-रहित ब्रह्मात्मभाव के अवगत होने से ही सब क्लेशों की निवृत्ति और परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। यदि देवतादि के प्रतिपादक (प्राण, पञ्चाग्नि आदि) वाक्य वेदान्त-वाक्यगत उपासना-परक हों तो भी कोई विरोध नहीं है। परंतु उसी प्रकार ब्रह्म उपासना-विधि का अंग नहीं हो सकता। एकत्व-ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म हेयोपादेय न होने से क्रिया, कारक आदि द्वैत-विज्ञान का बाध हो सकता है। एकत्व-विज्ञान से निवृत्त हुआ मिथ्या द्वैत-ज्ञान फिर संभव नहीं है जिससे ब्रह्म उपासना-विधि का अंग प्राप्त हो। यद्यपि वेदान्त से भिन्न स्थलों में अर्थवाद आदि वेद-वाक्यों की विधि के साथ संबंध के बिना प्रमाणता देखने में नहीं आती तो भी आत्म-ज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, फल-पर्यन्त होने से ब्रह्म-विषयक शास्त्र की प्रमाणता का खण्डन नहीं किया जा सकता। शास्त्र-प्रामाण्य अनुमान-गम्य

---

1. ऐतरेय उपनिषद् 2/1/1/1
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/5/19
3. मुण्डक उपनिषद् 2/2/11
4. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/13
5. छान्दोग्य उपनिषद् 6/8/7
6. यहाँ पर शंकराचार्य ने उपक्रम उपसंहार की एकता, अभ्यास (पुनरुक्ति), अपूर्वता (अन्य प्रमाण से अज्ञात) फल, मोक्ष, अर्थवाद (अद्वैत की स्तुति और द्वैत की निन्दा) तथा उपपत्ति– इन छः युक्तियों से सिद्ध किया है कि वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य ब्रह्मवाद है। इन छः युक्तियों को स्वयं मीमांसकों ने खोजा था। ये निम्न श्लोक में संग्रहीत हैं-
   उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्॥
   अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

नहीं है। अतः वह अन्य स्थलों में देखे हुए दृष्टान्तों की अपेक्षा नहीं करता। इससे सिद्ध हैं कि ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक है।

इस विषय में कुछ लोग[1] कहते हैं – यद्यपि ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक ही है, तथापि प्रतिपत्ति (उपासना) विधि के विषय-रूप से ही शास्त्र ब्रह्म का बोध कराता है, जैसे यूप, आहवनीय आदि अलौकिक पदार्थों का भी विधि के अंग रूप से शास्त्र बोध कराता है। ऐसा क्यों? शास्त्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति से प्रयोजन वाला है। इस अर्थ में शास्त्र के तात्पर्य को जानने वाले कहते हैं – "दृष्टोहि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्'[2] (कर्मों का ज्ञान कराना ही शास्त्र का दृष्टफल है) और 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्"[3] (क्रिया का प्रवर्तन वचन चोदना है), "तस्य ज्ञानमुपदेशः"[4] (धर्म का ज्ञापक अपौरुषेय विधि वाक्य – स्वर्गकामो यजेत् आदि उपदेश हैं), 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः'[5] (वेद में सिद्ध अर्थ के वाचक पदों का क्रिया वाचक पदों के साथ उच्चारण करना चाहिए), "आम्नायस्य क्रियार्थत्वदानर्थक्यमतदर्थानाम्" (वेद क्रियार्थक है, अतः क्रिया के भिन्न सिद्ध अर्थ-प्रतिपादक वेद-वाक्य निरर्थक है), इसलिए पुरुष को किसी एक विषय में प्रवृत्त करता हुआ और किसी एक विषय विशेष से निवृत्ति करता हुआ शास्त्र सार्थक होता है और दूसरे वाक्य उसके अंगभूत होकर उपयुक्त होते हैं। उनके साथ समानता होने से वेदान्त-वाक्य भी उसी प्रकार सार्थक होते हैं। यदि वेदान्त-वाक्य विधिपरक हों तो जैसे स्वर्ग आदि की कामना वाले पुरुष के लिए अग्निहोत्र आदि साधनों का विधान है वैसे ही अमृतत्व की कामना करने वालों के लिए भी ब्रह्म-ज्ञान का विधान किया जाता है, ऐसा मानना युक्त है। यदि कहो कि यहाँ जिज्ञासा का वैलक्षण्य (भेद) कहा गया है, कर्मकाण्ड में साध्य-धर्म जिज्ञास्य है और ज्ञानकाण्ड में तो नित्य निवृत्त सिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है। अनुष्ठान की अपेक्षा रखने वाले धर्म-ज्ञान के फल से ब्रह्मज्ञान का फल विलक्षण होना चाहिए। याज्ञवल्क्य कहते हैं – "हे मैत्रेयी! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।"[6] "यह आत्मा पापरहित है, वह खोज करने योग्य है, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए"[7] "आत्मा है, ऐसी उपासना करें"[8] "ज्ञान-स्वरूप आत्मा

---

1. कुछ कहते हैं, शंकराचार्य के इस कथन का क्या अर्थ है? वे किसके मत को यहाँ दे रहे हैं। रत्नप्रभा में कहा गया है कि वे वृत्तिकार का मत दे रहे हैं। भामतीकार ने लिखा है कि यह आचार्यदेशीय का मत है अर्थात् किसी आचार्य का मत है। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि यह वृत्तिकार उपवर्ष का मत है। प्रभाकर मीमांसक और मंडन मिश्र वेदान्ती इस मत को मानते हैं – ऐसा डी० वेंकट रमैया ने पचपादिका के अंग्रेजी अनुवाद में कहा है।
2. जैमिनि-सूत्र 1/1/1 पर शबर स्वामी का भाष्य
3. जैमिनि-सूत्र 1/1/5 पर शबर स्वामी का भाष्य
4. वही
5. वही 1/1/25
6. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/5
7. छान्दोग्य उपनिषद् 8/7/1
8. बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/7

की उपासना करें।''[1] ''ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है।''[2] इत्यादि विधानों के होने पर वह आत्मा कौन है? वह ब्रह्म क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराने के लिए कहा जाता है– ''वह नित्य और सर्वगत है'', ''ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है'', ''ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है।'' ये वेदान्त-वाक्य ब्रह्मज्ञान कराने में उपयुक्त हैं। उस ब्रह्म की उपासना से शास्त्र-विदित अदृष्ट मोक्षरूप फल होगा। यदि वेदान्त-वाक्य कर्तव्य-विधि के साथ असम्बद्ध होकर वस्तुमात्र का कथन करने वाले हों, तो हानोपादान के असम्भव होने से ''सात द्वीपों वाली पृथ्वी है,'' 'यह राजा जाता है', इत्यादि वाक्यों के समान वेदान्त-वाक्य प्रयोजन-रहित हो जायेंगे। परंतु 'यह रज्जू है, सर्प नहीं है', इत्यादि वाक्यों में वस्तुमात्र के कथन में भी भ्रान्ति से जनित भय की निवृत्त द्वारा अर्थवत्ता (सार्थकता) देखी गयी है। उसी प्रकार यहाँ प्रसंग में भी असंसारी आत्म-वस्तु के कथन से संसारित्व-भ्रांति की निवृत्ति द्वारा सर्थकता होगी, ऐसा तभी हो सकता है जब कि रज्जु-रूप वस्तु के श्रवण से जैसे सर्पभ्रान्ति निवृत हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म-स्वरूप के श्रवण मात्र से श्रोता की संसारित्व-भ्रांति निवृत हो। परंतु वह निवृत नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म का श्रवण करने वाले व्यक्ति में भी पूर्व के समान सुख-दुःखादि संसारि-धर्म देखने में आते हैं। अतएव ''आत्मा श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है'',[3] इस प्रकार श्रवण के उत्तर काल में मनन और निदिध्यासन की विधि देखने में आती है। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि उपासना विधि का विषय होने से ही ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक है।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं,[4] ऐसा नहीं है, क्योंकि कर्म और ब्रह्म-विद्या के फल में वैलक्षण्य है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृति में धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। इस विषय की जिज्ञासा 'अथातो धर्म-जिज्ञासा'[5] (वेदाध्ययन के अनन्तर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए) इस सूत्र में प्रतिपादित है। इसके साथ ही परिहार के उद्देश्य से वर्णित प्रतिषेध नोदनात्मक होने से हिंसा आदि अधर्म भी जिज्ञास्य हैं। और इस नोदनात्मक अर्थ और अनर्थ रूप धर्माधर्म का शरीर, वाणी और मन द्वारा उपभुज्यमान तथा विषयेन्द्रिय-संयोग से जन्य प्रत्यक्ष सुख-दुख-रूप फल ब्रह्मादि से लेकर स्थावर-पर्यन्त सब में प्रसिद्ध ही है। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त सभी शरीरधारियों में सुख का तारतम्य श्रुति कहती है। इससे सुख के साधन-भूत धर्म का तारतम्य ज्ञात होता है। धर्म के तारतम्य से अधिकारी का तारतम्य ज्ञात होता है। किन्तु फलकामना एवं द्रव्य-रूप सामर्थ्य आदि कारणों से तो अधिकारी का तारतम्य प्रसिद्ध ही है। और इस प्रकार यागादि अनुष्ठान करने वाले लोग ही उपासना-रूप

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/15
2. मुण्डक उपनिषद् 2/2/9
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/5
4. अब वृत्तिकार के मत का खंडन किया जा रहा है।
5. जैमिनि-सूत्र 1/1/1

समाधि-विशेष के बल से उत्तर मार्ग से जाते हैं, तथा केवल इष्ट, पूर्त और दत्त रूप साधनों से सम्पन्न पुरुष धूमादि-क्रम से दक्षिण मार्ग के द्वारा जाते हैं। वहाँ भी सुख का तारतम्य और इसके साधनों का तारतम्य है – यह सव "वहाँ कर्मों का क्षय होने तक रहकर वे फिर इसी मार्ग से जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं।[1] इस शास्त्र वाक्य से स्पष्ट ज्ञात होता है। इस प्रकार मनुष्य आदि से लेकर नारकीय एवं स्थावर पर्यन्त जीवों में तारतम्य से वर्तमान सुखलव नोदनात्मक धर्म से ही जन्य ज्ञात होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगत तथा अधोगत देहधारी जीवों में दुःख का तारतम्य देखने से उसके हेतु-भूत प्रतिषेध नोदनात्मक (प्रतिषेध-प्रवर्तक) वाक्यों से बोधित अधर्म का और इसके अनुष्ठान करने वालों का तारतम्य ज्ञात होता है। एवं अविद्या आदि दोष विशिष्ट जीवों के धर्म और अधर्म के तारतम्य से शरीर-ग्रहण-पूर्वक सुख-दुःख का तारतम्य अनित्य संसार-रूप है, ऐसा श्रुति, स्मृति और न्याय से सिद्ध है। इसी प्रकार "निःसंदेह उस सशरीर आत्मा के सुख-दुःख का विनाश नहीं होता,"[2] यह श्रुति यथावर्णित संसार-रूप का अनुवाद करती है। "देहादि अभिमान से रहित आत्मा को मिथ्या देह-संबंधी सुख-दुख स्पर्श नहीं करते,"[3] इस श्रुति से प्रिय और अप्रिय संबंध के प्रतिषेध से मोक्ष नामक शरीर-रहित अवस्था नोदनात्मक धर्म का कार्य है, इसका प्रतिषेध किया गया है, ऐसा ज्ञान होता है। यदि मोक्ष को धर्म का कार्य मानें, तो उसमें प्रियाप्रिय स्पर्श का प्रतिषेध अनुपपन्न है। यदि कहें कि अशरीरत्व ही धर्म का कार्य है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि "जो देवादि शरीरों में शरीर-रहित तथा अनित्यों में नित्य स्वरूप है, उस महान् और सर्वव्यापक आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जानकर विद्वान् शोक नहीं करता है,"[4] "वह प्राण-रहित, मनरहित शुद्ध है,[5] "यह पुरुष असङ्ग है",[6] इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि अशरीरत्व उसका स्वभाव है। अतएव अनुष्ठेय कर्म फल से विलक्षण, मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यह सिद्ध हुआ। [नित्य भी दो प्रकार का होता है परिणामी नित्य तथा पारमार्थिक नित्य।] इन दोनों में परिणामी नित्य वह है जिसके विकृत होने पर भी वही यह है ऐसी प्रतिज्ञा-रूप बुद्धि का नाश नहीं होता। जगत् को नित्य मानने वालों के मत में पृथ्वी आदि परिणामी नित्य हैं और सांख्यों के मत में गुण परिणामी नित्य है, परंतु यह (ब्रह्म) तो पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सभी विक्रियाओं से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव और स्वयंप्रकाश स्वरूप है। जिस परमात्मा में धर्माधर्म सुख-दुःख रूप कार्य के साथ तीनों कालों में

1. छान्दोग्य उपनिषद् 5/10/5
2. वही 12/1
3. वही 8/12/1
4. कठोपनिषद् 1/2/21
5. मुण्डक उपनिषद् 2/1/2
6. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/3/15

भी संबंध नहीं रख सकते, 'जो धर्माधर्म, कार्य-कारण, भूत-भविष्यत् से भिन्न है,'[1] इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध मोक्ष नामक अशरीरत्व है। इसलिए कर्मफल से विलक्षण होने के कारण वह अशरीर मोक्ष ब्रह्म है जिसकी यहाँ जिज्ञासा प्रस्तुत है। यदि वह (ब्रह्म) कार्य के अङ्ग-रूप से उपदिष्ट हो और उस कार्य से मोक्ष को साध्य स्वीकृत किया जाये तो वह अनित्य ही होगा। मोक्ष के अनित्य सिद्ध होने पर तारतम्य (न्यूनाधिक) से वर्तमान यथोक्त अनित्य कर्म-फलों में से कोई अतिशय मोक्ष है, ऐसा मानना पड़ेगा। परंतु सब मोक्षवादी यह स्वीकार करते हैं कि मोक्ष नित्य है। इस लिए कार्य के अङ्गरूप से ब्रह्म का उपदेश युक्त नहीं है। और 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है।'[2] 'उस परावर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने से इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।[3] ब्रह्म के आनन्द को जाननेवाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता।[4] 'हे जनक! तू निश्चय अभय को प्राप्त हो गया है।'[5] 'अज्ञान के निवृत्त होने के कारण जीव संज्ञक ब्रह्म ने गुरु के उपदेश से अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा जाना, अतः वह सर्व हो गया।'[6] 'उस समय एकत्व का अनुभव करने वाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है?''[7] इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म-ज्ञान के अनन्तर मोक्ष दिखलाती हुई ब्रह्म-ज्ञान और मोक्ष के मध्य में कार्यान्तर का निषेध करती है। इसी प्रकार 'वह ब्रह्म मैं प्रत्यगात्मा हूँ, ऐसा ज्ञान प्राप्त कर मुनीन्द्र वामदेव शुद्ध ब्रह्म-स्वरूप हुए अर्थात्, उसे आत्मरूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना– मैं मनु हुआ और सूर्य भी।'[8] इस श्रुति को ब्रह्म-दर्शन तथा सर्वात्म-भाव के मध्य में अन्य कर्तव्य का निषेध करने के लिए उदाहरण-रूप से समझना चाहिए। जैसे जब कोई खड़ा होकर गायन करता है तब उसके खड़े होने और गायन क्रिया के मध्य में तत्कर्तृक अन्य कार्य नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है। सुकेश भारद्वाज आदि छः ऋषियों ने पिप्पलाद गुरु से कहा – 'तुम ही तो हमारे पिता हो जिसने हमें अविद्या के उस पार पहुँचा दिया है।[9] 'मैंने भगवत्-तुल्य आप जैसों से सुना है कि आत्मवित् शोक को पार कर लेता है अर्थात् शोक से मुक्त हो जाता है, और हे भगवन्! मैं शोक करता हूँ अतः मुझकों आप शोक से मुक्त कर दीजिए–ऐसा नारद ने कहा है।'[10] भगवान् सनत्कुमार ने उस पाप-रहित नारद को

---

1. कठोपनिषद् 2/14
2. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डकोपनिषद् 3/2/9
3. वही 2/2/8
4. तैत्तिरीय उपनिषद् 2/9
5. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/2/4
6. वाजसनेयि ब्राहम्णोपनिषद् 1/4/10
7. ईशावास्योपनिषद् 7
8. बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10
9. प्रश्नोपनिषद् 6/8
10. छान्दोग्य उपनिषद् 7/1/3

अज्ञानरूपी अंधकार से पार (ब्रह्म) दिखलाया।'[1] ये श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि मोक्ष के प्रतिबंध की निवृत्ति मात्र आत्मज्ञान का फल है। उसी प्रकार 'दुख, जन्म, प्रवृति, धर्म, अधर्म, दोष एवं मिथ्याज्ञान इनमें कारण-रूप उत्तर-उत्तर का, नाश होने पर उसके पूर्व-पूर्व कार्य का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है।'[2] इस प्रकार युक्तियों से पुष्ट आचार्य गौतम प्रणीत यह सूत्र है। यह ब्रह्मात्मकैत्व-विज्ञान सँपद्रूप नहीं है। 'मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं। इसलिए मन में अनन्त विश्वे-देवों की दृष्टि करने के कारण वह अनन्त लोक को जीतता है।[3] ऐसा सँपद्रूप भाव मोक्ष नहीं है। वह ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान अध्यास रूप भी नहीं है, जैसे 'मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करें, आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है।'[4] इस प्रकार मन और आदित्यादि में ब्रह्म-दृष्टि अध्यासरूप है। 'वायु ही संवर्ग है। प्राण ही संवर्ग है।'[5] इसके समान वह विशिष्ट क्रिया-संबंध-निमित्तक भी नहीं है। और आज्यावेक्षण आदि कर्म के समान कर्माङ्ग का संस्कार-रूप भी नहीं है क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान को संपदादि रूप मानने पर **'तत्वमसि,[6] अहं ब्रह्मास्मि,[7] अयमात्मा ब्रह्म[8]** इत्यादि वाक्यों का ब्रह्मात्मैकत्व वस्तु-प्रतिपादन-परक पद-समन्वय वाधित हो जायेगा। 'ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इसकी हृदय-ग्रंथि टूट जाती है और सब संशय नष्ट हो जाते हैं?[9] यह अज्ञान निवृत्ति रूप फल का बोधक श्रुति-वाक्य बाधित हो जायेगा। और **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** इत्यादि ब्रह्मभाव- प्राप्ति-प्रतिपादक श्रुति वाक्य संपदादि पक्ष में मुख्य रूप से उत्पन्न नहीं होंगे। इसलिए ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान संपादादि रूप नहीं है। फिर ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान विधेय न होने के कारण। ब्रह्मविद्या पुरुष-व्यापार के अधीन नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय वस्तु-ज्ञान के समान वस्तु के ही अधीन है। ऐसे ब्रह्म और उसके ज्ञान की किसी भी युक्ति से कार्य के साथ संबंध की कल्पना नहीं की जा सकती। जानना क्रिया के कर्मरूप से भी कार्य के साथ ब्रह्म का संबंध नहीं है, क्योंकि 'यह विदित (कार्य) से अन्य और अविदित (कारण) से भी अन्य है।'[10] और 'जिसके द्वारा इस सबको जाना जाता है उसे किससे जाना जा सकता है? इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म में जानना क्रिया के कर्म का

1. वही 7/26/2
2. न्यायसूत्र 1/1/2
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 3/1/9
4. छान्दोग्य उपनिषद् 3/18/1,3/19/1
5. वही 4/3/1,4/3/3
6. वही 4/3/1,4/3/3
7. छान्दोग्य उपनिषद् 6/8/7
8. बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10
9. वही 2/5/19
10. मुण्डकोपनिषद् 2/2/8

निषेध किया गया है।[1] उसी प्रकार जो वाणी (शब्द) से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है,[2] इस प्रकार ब्रह्म को इंद्रियों का अविषय कहा गया है। फिर 'उसी को तू ब्रह्म जानो। जिसकी लोग उपासना करते हैं। वह ब्रह्म नहीं है,'[3] इस श्रुति से उपासना क्रिया के कर्मत्व का भी ब्रह्म में प्रतिषेध है। यदि कहो कि इन्द्रियादि का अविषय होने से ब्रह्म में शास्त्र-प्रमाणकत्व अनुपपन्न होगा, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि शास्त्र तो अविद्या से कल्पित भेदकी निवृत्ति के लिए है। शास्त्र इंद-रूप से विषयभूत ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं चाहता, क्योंकि ब्रह्म प्रत्यगात्म रूप से अविषय है ऐसा प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र अविद्या से कल्पित ज्ञेय और ज्ञाता तथा ज्ञान के भेद को निवृत्त करता है। जैसे जिसको ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म ज्ञात नहीं है उसे ब्रह्म ज्ञात है अर्थात् उसने ब्रह्मस्वरूप को जाना है और जो ऐसा समझता है कि 'मुझे ब्रह्म ज्ञात है' उसने ब्रह्म को जाना ही नहीं, क्योंकि जिसे ब्रह्म ज्ञान हो गया है, उसके लिए ब्रह्म अविज्ञात, विषय रूप से अज्ञात है।[4] कारण ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है और जो अज्ञानी है, उनके लिए ब्रह्म विषय रूप से ज्ञात है, क्योंकि ब्रह्म को ज्ञान का विषय समझकर, 'मैंने ब्रह्म को जाना है।' ऐसा कहते हैं अर्थात् अज्ञानियों के मत में ब्रह्म विषय है। और 'दृष्टि-इंद्रियवृत्ति के साक्षीभूत आत्मा को तुम चक्षु आदि इंद्रियों से देख नहीं सकते और बुद्धिवृत्ति के साक्षी को तुम-बुद्धि वृत्ति से नहीं जान सकते।[5] इत्यादि श्रुतियां हैं। अतः शास्त्र तत्वज्ञान से अविद्या से कल्पित संसारित्व का निवर्तन कर नित्यमुक्त आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकट करता है। अतः मोक्ष में अनित्यत्व दोष नहीं है। जिसके मत में मोक्ष उत्पाद्य है उसके मत में मोक्ष मानसिक या वाचिक अथवा कायिक क्रियाओं की अपेक्षा रखता है, यह ठीक है। इसी प्रकार विकार्यत्व-पक्ष में भी। इन दोनों पक्षों में मोक्ष का अनित्यत्व निश्चित है। लोक में विकार्य दही आदि और उत्पाद्य घड़ा आदि में नित्यत्व नहीं देखा गया है। ब्रह्मज्ञान से प्राप्य होने पर भी कार्य की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि वह स्वात्मस्वरूप होने के कारण प्राप्य नहीं है। यदि ब्रह्म को स्वरूप (आत्मा) से भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं है। कारण, आकाश के समान सर्वव्यापक होने के कारण ब्रह्म सबको नित्य प्राप्त ही है और, मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है जिससे वह व्यापार की अपेक्षा करे। संस्कार्य पदार्थ में विशेष गुण लाने अथवा दोष हटाने से संस्कार होता है। मोक्ष में गुणाधान (विशेष गुण का लाना) से संस्कार संभव नहीं है, क्योंकि मोक्ष तो आधेयातिशय (अतिशय को लाना) से रहित ब्रह्मस्वरूप है। दोषापनयन से भी उसका संस्कृत होना संभव नहीं

1. केन उपनिषद् 1/3
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/13
3. केन उपनिषद् 1/4
4. वही
5. बृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/2

है, क्योंकि मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है। यदि ऐसा कहो कि जैसे घर्षण क्रिया से दर्पण संस्कृत होने पर अपने भास्वर गुण से अभियुक्त होता है, वैसे उपासनादि क्रिया से आत्मा के संस्कृत होने पर उसका अविद्यादि मल से रहित होना मोक्षरूप गुण अभिव्यक्त करता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा में क्रिया का आश्रयत्व अनुपपन्न है। जिस आश्रय में क्रिया रहती है उसको विकृत किये बिना वह अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकती। यदि आत्मा क्रिया से विकृत हो तो आत्मा में अनित्यत्व प्रसक्त होगा। 'यह आत्मा अविकार्य है,[1] इत्यादि वाक्य तब बाधित होंगे, अतः वह युक्त नहीं है। इसलिए आत्मा में स्वाश्रय क्रिया संभव नहीं है। अन्य पदार्थ आश्रय क्रिया का आत्मा-विषयक संबंधी नहीं है। अतः उससे भी आत्मा संस्कृत नहीं हो सकती। परंतु देहाश्रय स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रियाओं से जीवात्मा संस्कृत होता देखा गया है? ऐसा नहीं, क्योंकि देहादि संघातयुक्त अविद्या में प्रतिबिम्बित आत्मा का संस्कार होता है। स्नान, आचगन आदि क्रियाओं का संबंध देह के साथ तो प्रत्यक्ष ही है। जो कोई अविद्या से देहादि संघात को आत्मरूप से जानता है, उसका उस देहाश्रित क्रिया से संस्कृत होना युक्त है। जैसे देह के आश्रित चिकित्सा-निमित्तक धातुओं की समता द्वारा जिस देहाभिमानी आत्मा में 'मैं अरोग हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, देहादि के साथ संबंध और उसमें 'मैं, मेरा' अभिमान रखने वाला आरोग्य फल पाता है, वैसे ही स्नान, आचमन, यज्ञोपवीतादि से 'मैं शुद्ध हूँ, संस्कृत हूँ' ऐसी बुद्धि जिसमें उत्पन्न हो वही संस्कृत होता है। वह तो देह के साथ संबंध ही है। 'उसमें एक तो स्वादिष्ट कर्मफल को भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ साक्षी-रूप से रहता है अर्थात् प्रकाशित करता है,[2] 'शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को विद्वान भोक्ता कहते हैं,'[3] इत्यादि श्रुति-वाक्यों से स्पष्ट होता है कि 'अहं' प्रतीति के विषयभूत प्रत्ययी अहंकर्ता से ही सम्पूर्ण क्रियायें सिद्ध होती है और उनका फल वही भोगता है। इसी प्रकार 'सब भूतों में एक, स्वप्रकाश, गूढ़, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण, भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ सबका साक्षी सबको चेतना प्रदान करने वाला निर्गुण और शुद्ध आत्मा है'',[4] 'वह आत्मा सर्वगत शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित, स्थूल शरीररहित और अपाहत है',[5] ये दोनों मंत्र ब्रह्म में अनाधेयातिशयता और नित्य शुद्धता दिखलाते हैं। ब्रह्मभाव ही तो मोक्ष है।[6] इसलिए मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। इस कारण मोक्ष के प्रति उत्पत्ति, विकृति, आप्ति, और संस्कृति से भिन्न क्रिया-संबंध

---

1. भगवद्गीता 2/25
2. मुण्डकोपनिषद् 3/1/1
3. कठोपनिषद 1/3/4
4. ईशावास्योपनिषद् 8
5. श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/11
6. ब्रह्मभावश्च मोक्षः (शंकराचार्य)

का द्वार कोई नहीं दिखा सकता। इसलिए मोक्ष में केवल ज्ञान के सिवा क्रिया का लेशमात्र भी संबंध उत्पन्न नहीं है। परंतु ज्ञान तो मानसी क्रिया का नाम है?[1] ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञान उससे विलक्षण है। वस्तु-स्वरूप से अनपेक्ष जहाँ जिसका विधान किया जाता है वह क्रिया है, और वह पुरुष-संकल्प के अधीन है, जैसे 'जिस देवता के लिए अध्वर्यु ने हवि का ग्रहण किया हो उस समय होता 'वषट्' शब्द का उच्चारण करता हुआ उसका मन ध्यान करे।'[2] और 'सन्ध्या का मन से ध्यान करें',[3] इत्यादि श्रुति में ध्यान और चिन्तन यद्यपि मानसिक क्रियाएँ हैं, तो भी पुरुष के अधीन होने के कारण वे पुरुष द्वारा करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने योग्य हैं। ज्ञान तो प्रमाण-जन्य हैं और प्रमाण यथार्थ वस्तु-विषयक होता है। इसलिए ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य नहीं हो सकता। वह केवल वस्तु के ही अधीन है, विधि के अधीन नहीं है और पुरुष के भी अधीन नहीं है। अतः मानसिक होने पर भी ज्ञान का ध्यान से महान् अन्तर है। जैसे 'हे गौतम! पुरुष अग्नि है, हे गौतम! स्त्री अग्नि है,।[4] यहाँ स्त्री और पुरुष में अग्नि-बुद्धि मानसिक है और वह केवल बुद्धि-जन्य होने के कारण क्रिया ही है और पुरुष के अधीन है। लोक प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्नि-बुद्धि है वह न निधि के अधीन है और न पुरुष के ही अधीन, किन्तु प्रत्यक्ष-विषय वस्तु (अग्नि) के अधीन है। अतः वह ज्ञान ही है, क्रिया नहीं। इसी प्रकार समस्त प्रमाण विषयक वस्तु के बारे में भी समझना चाहिए । लोक-ज्ञान से अविधेय होने पर भी ब्रह्मात्म-विषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं है। यद्यपि ज्ञान के विषय में लिङ्, लोट् आदि विधि प्रत्यय सुने जाते हैं, तो भी अनियोज्य विषयक होने के कारण वे पत्थर आदि में प्रयुक्त उस्तरे की तीक्ष्णधार के समान कुंठित हो जाते हैं अर्थात उक्त विधि प्रत्यय भी अनियोज्य विषयक होने से पुरुष को प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वे अहेय और अनुपादेय वस्तु विषयक हैं।'' तब **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः**'[5] इत्यादि विधि-तुल्य वाक्य किस लिए है अर्थात् इन का क्या प्रयोजन है? हम कहते हैं कि विषय में पुरुष की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उससे उसको वे पराङ्मुख करने के लिए हैं। जो पुरुष बाह्य विषयों में 'इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो अनिष्ट प्राप्त न हो' इस प्रकार बहिर्मुखी होकर प्रवृत्त होता है, वह उन विषयों से आत्यन्तिक पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकता। उस आत्यन्तिक पुरुषार्थ के अभिलाषी को '**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**' इत्यादि वाक्य कार्य (शरीर) और कारण (इंद्रिय) के समुदाय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय शब्दादि से हटाकर उसकी चित्तवृत्ति को अन्तरात्मा की ओर प्रवाह-रूप

1. ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया
2. ऐतरेय ब्राह्मण 3/8/1
3. वही
4. छान्दोग्य उपनिषद 5/7,8/1
5. वृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/5

से प्रवृत्त करते हैं। आत्मस्वरूप की खोज में प्रवृत्त हुए उस पुरुष को 'यह जो कुछ भी है सब आत्मा है,'[1] किन्तु जिस तत्वज्ञानावस्था में इसके लिए सब आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसे देखें, किससे किसे जानें, अरे उस जिज्ञासा को किससे जाने,'[2] 'यह आत्मा ब्रह्म है,'[3] इत्यादि श्रुतियों से हेय तथा उपादेय से रहित आत्म-तत्व का उपदेश किया गया है। यद्यपि अकर्तव्य-प्रधान आत्म-ज्ञान किसी के त्याग अथवा ग्रहण के लिए नहीं होता, तथापि हम उसको उसी प्रकार स्वीकार करते हैं। हम वेदान्तियों के लिए यह अलंकार है कि प्रत्यक् ब्रह्म का ऐक्य ज्ञान होने पर सर्व-कर्तव्यता की हानि और कृतकृत्यता की प्राप्ति होती है। इस विषय में 'यदि पुरुष स्वयंप्रकाश आत्मा को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार विशेष रूप से जान जाये तो फिर किस फल की इच्छा करता हुआ किस कामना से शरीर के पीछे स्वयं संतप्त हो,''[4] यह श्रुति, 'हे अर्जुन! इस गुह्यतम तत्व को जानकर पुरुष ज्ञानी और कृतकृत्य हो जाता है,'[5] यह स्मृति है। इस कारण वेदान्त-वाक्य उपासना विधि के विषयरूप से बह्म का ज्ञान नहीं कराते। कोई कहते है कि प्रवृत्ति-विधि, निवृत्ति-विधि और उनके अंगों से भिन्न केवल सिद्ध वस्तु का प्रतिपादक वेद-भाग नहीं है।[6] यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि उपनिषत्-प्रतिपाद्य पुरुष अन्य का शेष (अङ्ग) नहीं है। जो केवल उपनिषदों से ही अधिगत असंसारी पुरुष ब्रह्म है, वह तो उत्पाद्य आदि चार प्रकार के द्रव्यों से विलक्षण, स्वप्रकाश में स्थित, अनन्य शेष है। यह नहीं है अथवा नहीं जाना जाता – ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'यह नहीं, यह नहीं,'[7] इस प्रकार जो आत्मा उपदिष्ट है वह यह है, इस श्रुति में आत्मशब्द है। अतः आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो निषेधकर्ता है उसका वही तो आत्मा (स्वरूप) है। यदि कहो कि 'आत्मा' 'मैं' इस प्रसिद्ध लोक-प्रतीति का विषय होने से केवल उपनिषदों से ही जाना जाता है, तो यह कथन अयुक्त है, ऐसा नहीं, क्योंकि आत्मा तो 'मैं' इस लोक-प्रसिद्ध प्रतीति का साक्षी है, विषय नहीं, ऐसा कहा गया है। 'मैं' इस लोक-प्रतीति का विषय लोक-प्रसिद्ध कर्ता से भिन्न उसका साक्षी, सब भूतों में स्थित, सम, एक, कूटस्थ, नित्य, सबका आत्मा पुरुष है। वह विधि-काण्ड से अधिगत नहीं है और न तर्कशास्त्र से निराकरण-योग्य ही है। इसलिए उसका न कोई निषेध कर सकता है और न कोई उसे किसी विधि के अंग-रूप से ग्रहण कर सकता है। वह सबका आत्मा है, इसलिए न हेय है और न उपादेय ही। नष्ट होता हुआ सब विकार-समुदाय पुरुष-पर्यन्त नष्ट होता है। विनाश-हेतु के अभाव

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/6
2. वही 4/5/15
3. वही 4/5/19
4. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/12
5. भगवद्गीता 15/20
6. प्रभाकर। देखिए बृहती।
7. नेति-नेति। बृहदारण्यक उपनिषद् 3/9/26

से पुरुष अविनाशी है। विक्रिया-हेतु के अभाव से वह कूटस्थ नित्य है। अतएव उसका स्वभाव नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। इस कारण पुरुष से परे और कुछ नहीं है, वह सूक्ष्मत्व की पराकाष्ठा है और वही परागति है',[1] 'उस औपनिषद् पुरुष को मैं पूछता हूँ'[2], इस श्रुति में पुरुष का 'औपनिषद' विशेषण उपनिषदों में मुख्य रूप से ज्ञानगम्य होने पर उत्पन्न होता है। इसलिए सिद्धवस्तु विषयक वेदभाग नहीं है, वादी का यह कथन साहस मात्र है। यद्यपि शास्त्र का तात्पर्य जानने वालों का कहना है कि 'कर्म का ज्ञान कराना ही शास्त्र का प्रत्यक्ष प्रयोजन है'[3] तथापि इस कथन का तात्पर्य है कि विधि-प्रतिषेध-शास्त्र का विषय धर्म-जिज्ञासा और इस प्रकरण में सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्यों का अभिप्राय उससे समझना चाहिए। 'वेद क्रियार्थक है, अक्रियार्थक वेद-वाक्य निरर्थक है,'[4] इस अव्यभिचारी नियम को मानने वाले मीमांसकों के मत में सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद-वाक्य भी निरर्थक होंगे। यदि कहो कि शास्त्र प्रवृत्ति-विधि, निवृत्ति-विधि और उनके अंगों के अतिरिक्त सिद्ध वस्तु का उपदेश धर्म के लिए करता है तो वह कूटस्थ नित्य, सिद्ध वस्तु का उपदेश नहीं करता इसमें क्या कारण है? जिस सिद्ध वस्तु का उपदेश दिया जाता है वह केवल उपदेश से ही क्रिया नहीं हो जाती। यदि कहो कि सिद्ध वस्तु भले ही क्रिया न हो किंतु क्रिया की निष्पत्ति के साधन होने के कारण उसका उपदेश क्रिया के लिए ही होता है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि सिद्ध वस्तु क्रिया के लिए है तथापि वह क्रियोत्पादन-शक्ति से विशिष्ट वस्तु के रूप में निर्दिष्ट है। क्रियार्थत्व ही उसका प्रयोजन है अर्थात् क्रिया को निष्पन्न करना ही सिद्ध वस्तु का प्रयोजन है। क्रियार्थक होने पर भी सिद्ध वस्तु अनुपदिष्ट नहीं होती। यहाँ पर पूर्वपक्षी कहता है, 'यदि सिद्ध वस्तु का उपदेश होता भी तो उससे तुमको क्या लाभ होगा? इस पर सिद्धान्ती कहता है– दधि आदि पदार्थों के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अज्ञात ब्रह्मात्म वस्तु का भी शास्त्र से उपदेश होना ही युक्त है। उसके ज्ञान से संसार के हेतुभूत मिथ्या-ज्ञान की निवृत्ति प्रयोजन है। इस कारण क्रिया के साधन-भूत सिद्ध वस्तु के उपदेश के समान आत्मा का उपदेश भी सार्थक है। और **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** (ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिए) इत्यादि श्रुतियां निवृत्ति का उपदेश करती है। वह निवृत्ति न तो क्रिया है और न तो क्रिया का साधन ही। यदि क्रिया को न कहने वाले वाक्य अनर्थक हैं तो ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्तिपरक उपदेश व्यर्थ होंगे। परंतु यह इष्ट नहीं है। नकार का स्वभावतः प्राप्त हनन क्रिया के साथ संबंध होने से हनन-क्रिया से निवृत्त होकर उदासीनता के अतिरिक्त किसी अन्य अप्राप्त क्रिया की कल्पना नहीं की जा सकती। नकार का यह स्वभाव है कि वह अपने संबंधी पदार्थ के अभाव का ज्ञान कराता है। अभाव-ज्ञान उदासीनता का कारण है। वह दग्धेन्धन

1. कठोपनिषद् 1/3/11
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 3/9/26
3. शाबरभाष्य, जैमिनि-सूत्र 1/1/1 पर
4. कर्ममीमांसा सूत्र 1/2/1

अग्नि के समान स्वयं ही विलीन हो जाता है। इस कारण प्रजापति व्रत[1] आदि के प्रसंग को छोड़कर अन्यत्र '**ब्राह्मणो न हन्तब्यः**' इत्यादि स्थालों में स्वभावतः प्राप्त हनन क्रिया से निवृत्त होना या उदासीनता (अभाव) ही प्रतिषेध का अर्थ हमारे मत से है। इस कारण आनर्थक्य का अभिधान करने वाला जैमिनि सूत्र भूतार्थवाद को पुरुषार्थ के लिए अनुपयोगी कहता है, ऐसा समझना चाहिए। पहले पूर्वपक्षी ने कहा है कि जो कथन कर्तव्य-विधि से संबंधित नहीं है और केवल वस्तु मात्र का केवल कथन करता है जैसे 'सात द्वीप वाली पृथ्वी है', वह अनर्थक है। किन्तु यह रज्जु है, सर्प नहीं है, इस प्रकार वस्तु मात्र के कथन से भी भयादि की निवृत्ति देखी गयी है। अतः उसका कथन ठीक नहीं है। परंतु ब्रह्म को सुन लेने पर भी संसारित्व देखने में आता है, अतः यह रज्जु है, इस कथन के समान ब्रह्म-स्वरूप का कथन सार्थक नहीं हो सकता, ऐसा पूर्वपक्षी ने कहा है। इस पर हम कहते हैं – 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अवगत ब्राह्मात्म-भाव वाले विद्वान में संसारित्व नहीं दिखलाया जा सकता, क्योंकि वेद-प्रमाण से जनित ब्रह्मात्म-भाव के साथ उसका विरोध है। [इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए भगवान भाष्यकार तीन उदाहरण देते हैं, उनमें से प्रथम] अनात्म शरीरादि में आत्मबुद्धि रखने वाले पुरुष में दुख भयादि देखे गये हैं परंतु वेद से जनित ब्रह्मात्म-भाव का ज्ञान होने पर देहात्म-बुद्धि के निवृत्त हो जाने पर मिथ्याज्ञान-निमित्तक वही दुःख भयादि पहले के समान उस आत्मवित् में होते हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। [द्वितीय उदाहरण] धनाभिमानी धनी गृहस्थ को धनापहार से दुःखी देखा गया है। संन्यास ग्रहण किये हुए धनाभिमान-रहित उसी पुरुष को धनापहार निमित्तक वही दुःख नहीं होता। [तृतीय उदाहरण] कुंडल पहनने वाले को कुंडलित्वाभिमान निमित्तक दुःख देखा गया है, कुंडल-वियुक्त कुंडलित्वाभिमान रहित उसी पुरुष में कुंडलित्वाभिमान निमित्तक वही दुःख नहीं होता। यही बात 'शरीर-रहित हुए आत्मा को सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते',[2] इस श्रुति से भी कही गई है। यदि कहो कि शरीरपात होने पर अशरीरत्व हो जायेगा, जीवित रहने पर नहीं? तो यह ठीक नहीं

---

1. प्रजापति-व्रत उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) है। आचार्य बटु (ब्रह्मचारी) से कहता है– उदय होते हुए सूर्य को न देखो। यहाँ नकार का अर्थ देखना-क्रिया का विरोध है अर्थात् न देखने का संकल्प करना है। यहां नकार का अर्थ अभाव या उदासीनता नहीं है। ऐसे स्थलों को छोड़कर शेष अन्य स्थानों पर नकार का अर्थ उदासीनता है। नकार के छः अर्थ हैं –

   तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
   अप्रशस्तत्वं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

   (1) सादृश्य – जैसे यह अनिक्षु (सरकंडा) है। यहाँ अनिक्षु का अर्थ है इक्षु के सदृश। (2) अभाव– जैसे पृथ्वी पर घड़ा नहीं है। (3) अन्यत्व– जैसे घट अपट है अर्थात् पट घट से भिन्न (अन्य) है। (4) अल्पता – जैसे उसका पेट अनुदर है अर्थात छोटा है। (5) अप्रशस्तता – जैसे अकाल अर्थात् बुरा काल (6) विरोध जैसे अधर्म अर्थात् धर्म का विरोधी अर्थात् पाप।

2. छान्दोग्य उपनिषद् 8/12/1

है, क्योंकि सशरीरत्व मिथ्या ज्ञान-निमित्तक है। 'शरीर ही आत्मा है' इस अभिमान रूप मिथ्याज्ञान को छोड़कर अन्य किसी कारण से आत्मा में सशरीरत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। कर्म से उत्पन्न न होने के कारण अशरीरत्व नित्य है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। यदि कहो कि आत्मकृत धर्माधर्म निमित्तक उसमें सशरीरत्व है। तो ऐसा नहीं, क्योंकि आत्मा का शरीर के साथ संबंध ही असिद्ध है, इससे धर्माधर्म में आत्मकृतत्व भी असिद्ध है। आत्मा का शरीर के साथ संबंध हो तो धर्माधर्म की उत्पत्ति हो, आत्मकृत धर्माधर्म हो तो आत्मा का शरीर के साथ संबंध हो, ऐसा अन्योन्याश्रय-दोष प्रसक्त होगा। इन दोनों का कार्य-कारण भाव अनादि है, यह अनादित्व कल्पना भी अन्धपरंपरा ही है। क्रिया संबंध का अभाव होने से आत्मा कर्ता भी नहीं हो सकती। यदि कहो कि सेवकों के साथ सान्निध्य-मात्र से राजा में कर्तृत्व देखा गया है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि धनदान आदि के उपायों से सम्पादित सेवकों के साथ संबंध होने के कारण उसमें कर्तृत्व की उपपत्ति होती है। परंतु आत्मा में शरीर के साथ धनदान आदि के समान स्वस्वाभिमान के संबंध के कारण की कल्पना किसी प्रकार नहीं की जा सकती। किंतु मिथ्याभिमान संबंध का हेतु प्रत्यक्ष है। इस कथन से आत्मा में यजमानत्वादि का प्रतिपादन हो गया अर्थात् जब तक मिथ्याभिमान है तभी तक आत्मा में यजमानत्वादि भी है। इस विषय में प्रभाकर कहते हैं–देहादि से भिन्न आत्मा का अपने देहादि में 'मैं', 'मेरा', अभिमान गौण है, मिथ्या नहीं। किन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जिसको वस्तु का भेद ज्ञात है उसी को गौण और मुख्य का ज्ञान होता है, यह प्रसिद्ध है। जिसको दो वस्तुओं का भेद ज्ञात है, जैसे अन्वय-व्यतिरेक से सिंह शब्द सिंह-ज्ञान का विषय केसर आदि से युक्त, विशेष आकृति वाला, पुरुष से भिन्न सिंह प्रसिद्ध है और उससे भिन्न प्रायः क्रूरता एवं शूरता आदि सिंह के गुणों से सम्पन्न पुरुष भी ज्ञात है। वही व्यक्ति सिंह-गुण सम्पन्न पुरुष में सिंह शब्द का प्रयोग और सिंह-ज्ञान का प्रयोग गौण रूप में करता है, परंतु जिसकी वस्तु का भेद ज्ञात नहीं है वह ऐसा नहीं कर सकता। उसकी तो दूसरे शब्द में अन्य शब्द और ज्ञान भ्रान्ति से ही होते हैं, गौण नहीं। जैसे मन्द अंधकार में 'यह स्थाणु है' ऐसा विशेष ज्ञान के गृहीत न होने पर 'पुरुष' यह शब्द और ज्ञान स्थाणु में होते हैं, जैसे शुक्ति में अकस्मात् 'यह रजत है' यह शब्द और ज्ञान निश्चित होते हैं, वैसे देहादि संघात में मुख्य रूप से होने वाले 'मैं' ऐसा शब्द और ज्ञान आत्मा-अनात्मा के विवेक न होने के कारण उत्पन्न होते हैं। वे गौण कैसे कहे जा सकते हैं? आत्मा-अनात्मा का भेद जानने वाले पंडितों को भी भेड़-बकरी पालने वाले प्राकृत पुरुषों के समान देहादि में अपृथक रूप से शब्द-प्रयोग और ज्ञान भ्रान्ति से उत्पन्न होते हैं। इस कारण आत्मा को देहादि से भिन्न मानने वालों का देहादि में अहं-प्रत्यय (मैं) मिथ्या ही है, गौण नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्याज्ञान से होता है और ज्ञान होने पर इस जीवन में ही आत्मवित् को अशरीरत्व प्राप्त होता है। और उसी प्रकार 'जिस प्रकार सर्प की कांचुली बांबी के ऊपर मृत और सर्प द्वारा परित्यक्त

हुई पड़ी रहती है उसी प्रकार जिस विद्वान् ने अभिमान त्याग दिया है उसका शरीर पड़ा रहता है और शरीर में स्थित यह आत्मा अशरीर है, अमृत है, प्राण है, ब्रह्म है, स्वयं प्रकाश है[1] 'और वस्तुतः वह नेत्र-रहित होकर भी सनेत्र के समान, श्रोत्र-रहित होकर भी श्रोत्र-सहित-सा, वाणी-रहित होकर भी वाणी-सहित-सा, मन-रहित होकर भी मन-सहित सा, प्राण-रहित होकर भी प्राण-सहित सा है।[2] यह श्रुति ब्रह्मवित् के संबंध में है। स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा (जिसकी प्रज्ञा स्थित है उसकी भाषा क्या है?) इत्यादि स्मृति[3] भी स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहती हुई यह दिखलाती है कि विद्वान् का किसी प्रवृत्ति के साथ संबंध नहीं रहता है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का ब्रह्मात्मभाव साक्षात्कार करने वाला विद्वान् पूर्व के समान संसारी नहीं रहता। जो पूर्व के समान संसारी है मानों उसने ब्रह्मात्मभाव का साक्षात्कार ही नहीं किया है। इस कारण वेदान्त शास्त्र निर्दोष है। पहले यह जो कहा गया है कि श्रवणानन्तर मनन और निदिध्यासन देखने में आते हैं, इसलिए ब्रह्म विधि का अङ्ग है और स्वरूप-पर्यवसायी नहीं है वह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि श्रवण के समान मनन और निदिध्यासन भी ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान के लिए है। यदि ज्ञात ब्रह्म का कहीं कर्मादि में विनियोग होता तो वह विधि का अंग भी होता; परंतु ऐसा नहीं है अर्थात् वेदान्त-श्रवण के लिए बिना ब्रह्म अज्ञात है। श्रवण के समान मनन और निदिध्यासन भी ज्ञान-रूप है। इसलिए उपासना-विधि की विषयता रूप से ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक है यह संभव नहीं है। अतः वेदान्त-वाक्यों के समन्वय से ब्रह्म स्वतंत्र शास्त्र-प्रमाणक है, यह सिद्ध हुआ। ऐसा होने से ही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से आरंभ होने वाला ब्रह्म-विषयक शास्त्र एक पृथक शास्त्र है। वेदान्त यदि उपासना-विधिपरक होते तो **'अथातो धर्मजिज्ञासा'**[4] से आरब्ध हो जाने के कारण 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस पृथक शास्त्र का आरंभ न होता। यदि कदाचित आरंभ भी किया जाता तो 'अथातः परिशिष्ट धर्मजिज्ञासा, (अब अवशिष्ट धर्म की जिज्ञासा) इस प्रकार प्रारंभ होता। ब्रह्म-आत्मा के एकत्व ज्ञान की प्रतिज्ञा पूर्व मीमांसा में नहीं है, इस कारण 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस अपूर्व शास्त्र का आरम्भ युक्तियुक्त है। इससे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के ज्ञान पर्यन्त सब विधियां और अन्य सब प्रमाण हैं, क्योंकि हेयोपादेय से रहित अद्वैत आत्मावगति होने पर निर्विषयक प्रमाता-रहित प्रमाण नहीं हो सकते। ब्रह्मवेत्ता[5] लोग कहते हैं –'अबाधित सत्चित आनन्द स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा ज्ञान होने पर पुत्र-देहादि का बोध होता है अर्थात् यह सब माया

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/7
2. यह कहां का वचन है? यह अज्ञात है
3. भगवद्गीता 2/54
4. जैमिनि सूत्र 1/1/1
5. ये ब्रह्मवेत्ता सुंदरपाण्ड्य हैं। यहाँ इनके तीन श्लोकों का उद्धहरण शंकराचार्य ने दिया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र की किसी प्राचीन वृत्ति पर एक वार्तिक लिखा था जो कारिकाबद्ध था। वह

मात्र है वास्तविक नहीं, ऐसा निश्चय हो जाता है। उसमें गौण मिथ्यात्मा पुत्र, दारा, देहादि में आत्माभिमान निवृत्त हो जाने पर विधि, निषेधादि सब व्यवहार कैसे हो सकता है? गौण और मिथ्या भेद से आत्माभिमान दो प्रकार का है। पुत्र, दारा आदि में 'मैं पुत्र हूँ, यह मेरा है' इत्यादि आत्माभिमान गौण है, क्योंकि दोनों का भेद ज्ञात है। उनके सुख-दुःख से अपने को सुखी-दुःखी अनुभव करता है। अपने देहादि में 'मैं मनुष्य हूं, कर्ता, भोक्ता हूँ' यह मिथ्याभिमान है। ये दोनों प्रकार के अभिमान बाधित हो जाने पर विधि-निषेध आदि सब व्यवहार कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते।

जो आत्मा सर्वपापरहित, जरा, मृत्यु, शोक आदि से रहित है उसकी खोज करनी चाहिए। इस आत्मज्ञान से पूर्व ही विद्रूप आत्मा में प्रमातृत्व रहता है। प्रमाता के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर पाप-पुण्य, राग-द्वेष, जन्मादि से रहित परमात्मा-स्वरूप हो जाता है। यहाँ शंका होती है कि यदि प्रमाता कल्पित है, तो प्रमाता के आश्रित प्रमाण में प्रमाणता कैसे सिद्ध होगी? इसका समाधान है? – जिस प्रकार 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान कल्पित होने पर भी प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण भी आत्म-साक्षात्कार पर्यन्त प्रमाण है। वेदान्त तीनों काल में बाधा-रहित ब्रह्मात्मैकत्व का बोध कराता है। अतः इसको तत्व का बोध कराने वाला प्रमाण कहा जाता है।

ग्रन्थ अब अनुपलब्ध है। पद्मपाद की पंचपादिका के ऊपर नरसिंह स्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप ने प्रबोधपरिशोधिनी नामक टीका लिखी है। उन्होंने इन श्लोकों के रचयिता का नाम सुंदरपाण्ड्य कहा है। अमलानन्द ने कल्पतरु में इनके तीन और श्लोक दिये हैं। कुमारिल ने तंत्रवार्तिक में एक जगह इनके पाँच श्लोक दिये हैं जिनमें से तीन वे ही हैं जिनको अमलानन्द ने उद्धृत किया है और दो भिन्न हैं। फिर उन्होंने एक जगह वहीं इनके दो और श्लोक दिये हैं। इस प्रकार इस समय सुंदर पाण्ड्य के वार्तिक के कुल दस श्लोक उपलब्ध हैं। पं. गोपीनाथ कविराज ने कहा है कि सुंदर पाण्ड्य शैव वेदान्ती थे।

तर्कपाद

1. सांख्य का निराकरण

(1) रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्। यद्यपि वेदान्त-शास्त्र वेदान्त वाक्यों का इदं-परक (ब्रह्म-तत्व परक) निरूपण करने के लिए प्रवृत्त हुआ है और तर्कशास्त्र के समान केवल युक्तियों से किसी सिद्धान्त को सिद्ध करने या दूषित करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है, तो भी वेदान्त-वाक्यों का व्याख्यान करने वाले को सम्यक् दर्शन के प्रतिपक्षी सांख्य आदि दर्शनों का निराकरण करना चाहिए। इसके लिए द्वितीय पाद प्रवृत्त होता है। वेदान्तार्थ का निर्णय तत्वज्ञान के लिए है। उस निर्णय से प्रथम स्वपक्ष की स्थापना की गयी क्योंकि अन्य पक्ष के खंडन करने की अपेक्षा वह अधिक अभीष्ट है। मुमुक्षुओं को मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में तत्वज्ञान का निरूपण करने के लिए केवल स्वपक्ष का स्थापन करना ही युक्तियुक्त है। दूसरे के साथ द्वेष करके उसके मत का खंडन करने से क्या प्रयोजन? यह ठीक है, तो भी सांख्य आदि शास्त्र महापुरुषों से परिगृहीत है और वे तत्व-ज्ञान निरूपण के बहाने से प्रवृत्त हुए हैं, उनको प्राप्त कर कुछ मंदमतियों का कहना कि वे भी तत्वज्ञान के लिए उपादेय है। उनमें दृढ़तर युक्तियों के संभव होने से और सर्वज्ञ द्वारा प्रचारित होने से उनमें लोगों की श्रद्धा भी हो सकती है। इसलिए वे शास्त्र असार है, ऐसा प्रतिपादन करने के लिए यहां प्रयत्न किया जाता है। परंतु 'इक्षतेर्नाशिब्दम'[1] 'कामाच्चनानुमानापेक्षा'[2] 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याता:[3] इत्यादि सूत्रों में पहले भी सांख्यादि पक्षों का खण्डन किया गया है, तो पुनः किए हुए को खंडित करने से क्या लाभ? इस पर हम कहते हैं – सांख्यादि अपने पक्ष की स्थापना करने के लिए वेदान्त-वाक्यों का उदाहरण देकर स्वपक्ष के अनुसार ही उनकी योजना करते हुए व्याख्यान करते हैं। उनका जो व्याख्यान है वह व्याख्यानाभास हैं, सम्यक् व्याख्यान नहीं है। इतना ही प्रतिपादन पहले किया गया है। इस पाद में वेदान्त-वाक्यों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतंत्र रूप से उनकी युक्तियों का प्रतिषेध करना है। यही इस पाद का विशेष विषय है।

सांख्यों का यह मत है कि जैसे घट-शराब आदि विकार मिट्टी से युक्त होने के कारण मृत्तिका-रूप असाधारण कारण से युक्त हैं, ऐसा लोक में देखा जाता है, वैसे ही सब बाह्य और आध्यात्मिक विकास सुख-दुःख-मोहात्मकता से युक्त है। इससे उनके असाधारण कारण सुख-दुःख मोहात्मक ही हो सकते हैं। जो वह सुख-दुःख-मोहात्मक सामान्य है, वह त्रिगुणात्मक प्रधान है। मृत्तिका के समान वह अचेतन पुरुष के भोग और मोक्ष अर्थ को सिद्ध करने के लिए स्वभाव से ही विचित्र विकार रूप से प्रवृत्त

---

1. ब्रह्मसूत्र 1/1/5
2. वही 1/1/18
3. वही 1/4/28

होता है। इसी प्रकार कार्यगत परिमाण आदि लिगों के आधार पर उसी प्रधान का वे अनुमान करते हैं।[1] ऐसा पूर्वपक्ष होने पर हम सिद्धान्ती कहते हैं – यदि दृष्टांत के बल से ही इसका निरूपण किया जाय, तो लोक में स्वतंत्रचेतन से अनधिष्ठित अचेतन प्रधान विशिष्ट पुरुषार्थ के साधन में समर्थ विकारों की रचना करता हुआ नहीं देखा जाता। घर, महल, शयन, आसन विहार-भूमि आदि काल के अनुसार सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार करने योग्य पदार्थ बुद्धिमान शिल्पियों से रचे गये देखने मे आते हैं, वैसे भिन्न-भिन्न कर्मफल के उपभोग के योग्य पृथिवी आदि बाह्य जगत् और भिन्न-भिन्न जातियों से युक्त असाधारण अवयवों से युक्त अनेक कर्मफलों के अनुभव का अधिष्ठान रूप दृश्यमान शरीर आदि आध्यात्मिक जगत् जिसकी आलोचना बड़े-बड़े बुद्धिमान शिल्पी मन से भी नहीं कर सकते, उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है? ढेले, पत्थर आदि अचेतनों में ऐसी शक्ति नहीं देखी जाती। हां मृत्तिका आदि में भी कुम्भकार आदि से अधिष्ठित होने पर विशिष्ट आकार वाली रचना देखी जाती है। इसी प्रकार प्रधान को भी उससे भिन्न किसी चेतन से अधिष्ठित मानना पड़ेगा। मृत्तिका आदि उपादान के स्वरूप का आश्रय करके रहने वाले धर्म से ही मूल कारण का निश्चय करना चाहिए और बाह्य कुम्भकार आदि के आश्रित धर्म से मूल कारण का निश्चय नहीं करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है और ऐसा होने से कुछ विरोध भी नहीं आता। चेतन को कारण मानने में उल्टे श्रुति अनुगृहीत होती है, क्योंकि वह चेतन कारण का प्रतिपादन करती है। इसलिए रचना की अनुपपत्ति-रूप हेतु से अचेतन प्रधान जगत् का कारण है, ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है। अन्वय आदि की अनुपपत्ति होने से इस हेतु की असिद्धि का च (और) शब्द से सूत्र में समुच्चय किया गया है क्योंकि बाह्य और आध्यात्मिक विकारों का सुख-दुःख मोहात्मकता के साथ अन्वय उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सुख आदि आन्तर हैं, ऐसा प्रतीत होता है, और शब्द आदि अतद्रूप प्रतीत होते हैं, और उनके निमित्तरूप से प्रतीत होते हैं, और शब्द आदि विशेष के न होने पर भी भावना-विशेष से सुख आदि विशेष प्राप्त होता है। इसी प्रकार मूलांकुरणादि परिमित विकार संसर्गपूर्वक है, ऐसा देखकर बाह्य और आध्यात्मिक विकार परिमित होने से संसर्गपूर्वक है, ऐसा अनुमान करने वालों को सत्व, रज और तम भी संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि उनमें भी परिमितत्व है। अपेक्षापूर्वक निर्माण किंये हुए शयन, आसन आदि का कार्य-कारण भाव देखने में आता है, कार्यकारण भाव से बाह्य और आध्यात्मिक विकार अचेतन प्रकृति के हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।

---

1. सांख्य दार्शनिक प्रकृति या प्रधान को निम्न युक्तियों से सिद्ध करते हैं –
भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागाद्, अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य।
कारणमस्त्यव्यक्तम् (सांख्यकारिका 15,16)

(2) **प्रवृत्तेश्च**– इस रचना को रहने दो, उसकी सिद्धि के लिए जो प्रवृत्ति, सत्व, रज और तम गुणों की साम्यावस्था से च्युति, सत्व, रज और तम के अंगांगिभाव की आपत्ति, विशिष्ट कार्यों के उत्पादन में जो प्रवृत्ति है, वह भी स्वतंत्र अचेतन पदार्थ में नहीं घट सकती क्योंकि मृत्तिका आदि में और रथ आदि में वह नहीं देखी जाती। मृत्तिका आदि या रथ आदि स्वयं अचेतन होने से चेतन कुम्भकार आदि या अश्व आदि से अधिष्ठित हुए बिना विशिष्ट कार्य की ओर प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते और दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है। इसलिए प्रवृत्ति की अनुपपत्ति रूप हेतु से भी अचेतन प्रधान जगत् का कारण है, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है। परंतु केवल चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। यह ठीक है, तो भी चेतन संयुक्त रथ आदि अचेतन की प्रवृत्ति देखने में आती है और अचेतन-संयुक्त चेतन में प्रवृत्ति देखने में नहीं आती। परंतु यहाँ क्या युक्त है? जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी वह प्रवृत्ति है या जिसके संयोग से अचेतन में प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी वह प्रवृत्ति है या जिसके संयोग से अचेतन में प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी है?

पूर्वपक्षी– जिसमें प्रवृत्ति दिखती है वह उसी की है, ऐसा ही कहना ठीक है, क्योंकि प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं, परंतु केवल चेतन रथ आदि की भाँति प्रवृत्ति के आश्रय रूप से प्रत्यक्ष नहीं है, परंतु प्रवृत्ति के आश्रय जो देह आदि है उनसे संयुक्त होकर ही चेतन के अस्तित्व की सिद्धि होती है क्योंकि जीवित देह में अचेतन रथ आदि से विलक्षणता दिखाई देती है। इसी से जब देह का प्रत्यक्ष होता है तब चैतन्य दिखता है और देह का प्रत्यक्ष नहीं होता तब नहीं दिखता। इसलिए देह ही अचेतन है ऐसा लोकायतिक मानते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अचेतन की प्रवृत्ति होती है।

सिद्धान्ती इस पर कहते हैं – जो अचेतन में प्रवृत्ति दिखती है, वह उसकी नहीं है ऐसा हम नहीं कहते। वह उसी की हो। परंतु वह होती चेतन से है, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि चेतन के अस्तित्व में उसका अस्तित्व है और चेतन के अभाव में अभाव है, जैसे काष्ठ आदि में रहने वाले दाह और प्रकाश की क्रिया केवल अग्नि में नहीं देखी जाती, तो भी होती है अग्नि ही से, क्योंकि अग्नि का संयोग होने पर वह दिखती है और वियोग होने पर वह नहीं दिखती, उसी प्रकार चेतन के साथ संयोग होने पर शरीर में प्रवृत्ति दिखती है और उसके अभाव में नहीं दिखती। चार्वाक के मत में भी चेतन देह ही अचेतन रथ आदि का प्रवर्तक माना गया है। इसलिए चेतन के प्रवर्तक होने में कोई विरोध नहीं है। परंतु तुम्हारे मत में देह से संयुक्त आत्मा की विज्ञान-स्वरूप मात्र से अतिरिक्त प्रवृत्ति के अनुपपन्न होने से प्रवर्तकत्व भी अनुपपन्न है ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि लोह चुम्बक के और रूप आदि के समान प्रवृत्ति -रहित पदार्थों में भी प्रवर्तकता देखी जाती है जैसे लोह चुम्बक स्वयं प्रवित्तिरहित होने पर भी नेत्र आदि के

प्रवर्तक होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति-रहित होता हुआ भी ईश्वर, सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होने से सबको प्रवृत्त करे, यह युक्त है। एकत्व के कारण प्रवर्त्य का अभाव होने से प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है – ऐसा यदि कहो तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्या से कल्पित नामरूपात्मक माया के आवेश के बल से उसमें ईश्वरभाव उपपन्न है। ऐसा अनेक बार कहा जा चुका है। इसलिए सर्वज्ञ को कारण मानने में प्रवृत्ति की उपपत्ति हो सकती है, परंतु अचेतन के कारण मानने में नहीं हो सकती।

(3) पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि – पूर्वपक्षी – ठीक है, जैसे अचेतन दूध स्वभाव से ही बछड़े के लिए प्रवृत्त होता है और जैसे अचेतन जल स्वभाव से ही लोगों के उपकार के लिए बहता है, वैसे ही अचेतन प्रधान की भी स्वभाव से ही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति हो सकती है?

सिद्धान्ती– नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चेतन से अधिष्ठित दूध और जल में ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा हम अनुमान करते हैं। दोनों वादियों से सम्मत रथ आदि चेतन से अनधिष्ठित अचेतनों में प्रवृत्ति नहीं दीखती। जो 'जल में रहता हुआ जल में रहने वाली देवता का नियमन करता है।'[1] 'हे गार्गि, इस अविनाशी के प्रशासन में पूर्व दिशा की तरफ अन्य नदियां बहती है',[2] इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ईश्वर समस्त लोक चेष्टा का अधिष्ठाता है। इसलिए साध्यवान् पक्ष में प्रविष्ट होने में **'पयोऽम्बुवत्'** (दूध और जल के समान) यह व्यभिचार-स्थल नहीं है और चेतन धेनु की स्नेहेच्छा से दूध प्रवृत्त हो सकता है और बछड़े के चूसने से दूध खिंच जाता है। जल के बहने में किसी की अपेक्षा नहीं है, ऐसा नहीं है, क्योंकि उसे बहने के लिए नीची भूमि आदि की अपेक्षा है। चेतन की अपेक्षा तो सर्वत्र दिखलाई गई है। 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि''[3] इस सूत्र में तो बाह्य निमित्त की अपेक्षा के बिना भी स्वाश्रय कार्य होता है, ऐसा लोकदृष्टि से दिखलाया गया है। शास्त्रदृष्टि से तो सर्वत्र ईश्वर की अपेक्षा होती है, इसका अपलाप नहीं किया जाता।

(4) व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् – सांख्यों के मत से तीन गुणों की साम्यावस्था प्रधान है। परंतु उनसे भिन्न प्रधान का प्रवर्तक या निवर्तक कुछ बाह्य अपेक्षणीय नहीं है, और पुरुष उदासीन है अर्थात् वह प्रवर्तक या निवर्तक नहीं है। इसलिए प्रधान अपेक्षा-रहित है और अपेक्षा-रहित होने से कभी प्रधान महत आदि आकारों में परिणत होगा और कभी न होगा। इस प्रकार प्रधान अयुक्त है। ईश्वर तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और महामाया से युक्त है, इस कारण उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति में कोई विरोध नहीं होता।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 3/7/4
2. वही 3/8/7
3. ब्रह्मसूत्र 2/1/24

(5) अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् – पूर्वपक्षी – जैसे तृण, पल्लव, जल आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही दूध आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रधान भी महत् आदि के रूप में परिणत हो जायेगा। और तृण आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखते, यह कैसे जानते हो? इससे कि अन्य निमित्त का दर्शन नहीं होता। यदि हम अन्य निमित्त प्राप्त कर सकते तो उसके द्वारा इच्छानुसार तृण आदि लेकर दूध आदि का सम्पादन कर सकते, परंतु हम ऐसा सम्पादन नहीं कर सकते, इसलिए तृण आदि का परिणाम स्वाभाविक है, उसी प्रकार प्रधान का भी परिणाम है।

सिद्धान्ती इस पर कहते हैं – यदि तृण आदि का परिणाम स्वाभाविक माना जाता, तो तृण आदि के समान प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम माना जाता। परंतु तृण आदि का स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जाता, क्योंकि अन्य निमित्त उपलब्ध है। अन्य निमित्त किस प्रकार उपलब्ध है? क्योंकि अन्यत्र अभाव है, कारण कि धेनु से ही उपयुक्त तृण आदि दूध के रूप में परिणत होते हैं, नष्ट हुए तृण या बैल आदि से उपयुक्त तृण दूध के रूप में परिणत नहीं होते। यदि इसमें कोई निमित्त न हो तो धेनु के शरीर-संबंध से अन्यत्र भी तृण आदि दूध बन जाये और मनुष्य अपनी इच्छानुसार उसको बना ही नहीं सकते, इतने से ही दूध निमित्त-रहित नहीं होता, क्योंकि कितने ही कार्य मनुष्य से सम्पादन किए जा सकते हैं और कितने ही दैव से। मनुष्य भी उचित उपाय से तृण आदि का ग्रहण करके दूध का सम्पादन कर ही सकते हैं, क्योंकि पुष्कल दूध की कामना वाले पुरुष धेनु को पुष्कल घास चराते हैं और उससे पुष्कल दूध प्राप्त करते हैं। इसलिए तृण आदि के समान प्रधान का परिणाम स्वाभाविक नहीं है।

(6) अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्– प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा स्थिर किया जा चुका है। परंतु आपकी श्रद्धा के अनुसार हम प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति मान भी लें, तो भी दोष आता है। किससे? प्रयोजन का अभाव होने से। यदि प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उस प्रवृत्ति में दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं है – ऐसा कहो, तो जिस प्रकार प्रधान को किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं होगी ऐसी अवस्था में प्रधान पुरुष के भोग-रूप तथा मोक्ष-रूप अर्थ की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी। यदि वह ऐसा कहे कि प्रधान केवल सहकारी की ही अपेक्षा नहीं रखता है, प्रयोजन की अपेक्षा तो रखता ही है, तो भी प्रधान की प्रवृत्ति के प्रयोजन का विवेचन करना चाहिए। उसकी प्रवृत्ति का प्रयोजक भोग है या अपवर्ग अथवा भोग और मोक्ष दोनों हैं? यदि पुरुष का प्रवृत्ति में भोग प्रयोजक हो तो भी मानना पड़ेगा। यदि मोक्ष प्रयोजन हो, तो प्रवृत्ति के पूर्व में भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निरर्थक हो जायेगी और शब्द आदि की अनुपलब्धि का प्रसंग

आयेगा। प्रधान की प्रवृत्ति भोग और अपवर्ग दोनों के लिए है– ऐसा मानें, तो भी भोग योग्य पदार्थों, प्रधान-मात्राओं के अनन्त होने से मोक्ष के ही अभाव का प्रसंग आयेगा। औत्सुक्य-निवृत्ति करने के लिए प्रवृत्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अचेतन प्रधान में औत्सुक्य – इच्छा का संभव नही है। इसी प्रकार निर्मल एवं निष्फल पुरुष में भी औत्सुक्य नहीं हो सकता। प्रधान में सर्ग-शक्ति और पुरुष में दृक् शक्ति की सार्थकता के लिए यदि प्रवृत्ति को स्वीकार करो, तो जैसे पुरुष की दृक् -शक्ति नित्य है, वैसे ही सर्ग-शक्ति के नित्य होने से तथा संसार का विनाश न होने से मोक्ष का अभाव मानना पड़ेगा। इसलिए प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के प्रयोजन के निमित्त है, यह कथन अयुक्त है।

(7) **पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि**– ऐसा हो सकता है। जैसे दर्शन-शक्ति सम्पन्न किन्तु गमन-शक्ति विहीन कोई पंगु पुरुष, गमन शक्ति सम्पन्न किन्तु दर्शन शक्ति रहित अन्य अन्ध पुरुष के कंधे पर बैठकर उसे प्रवृत्त करता है और जैसे अयस्कान्तमणि-लोह चुम्बक स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी लोहे को प्रवृत्त करता है, वैसे ही पुरुष प्रधान की प्रवृत्ता करेगा। ऐसे दृष्टान्त के बल से सांख्य फिर खड़ा होता है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं – तो भी दोष से मुक्ति नहीं है। एक तो स्वीकृत सिद्धान्त की हानि का दोष आता है, क्योंकि स्वतंत्र प्रधान की प्रवृत्ति को स्वीकार किया गया है और पुरुष का प्रवर्त्तकत्व स्वीकार नहीं किया गया है। और उदासीन पुरुष प्रधान को किस प्रकार प्रवृत्त करेगा? क्योंकि पंगु भी अन्ध पुरुष को वाणी से प्रवृत्त करता है। इस प्रकार पुरुष में कुछ भी प्रवर्तन व्यापार नहीं है, क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है और लौह चुम्बक के समान सन्निधिमात्र से भी प्रधान को प्रवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसके नित्य सन्निहित होने से प्रवृत्ति में नित्यता प्राप्त होगी। [लौह चुम्बक का सामीप्य अनित्य है] अनित्य सामीप्य वाले लोह चुम्बक का व्यापार तो अनित्य सन्निधि ही है और उसको परिमार्जन, सीधा रखना आदि की अपेक्षा होने से ('पुरुष और अश्म के समान') यह सम दृष्टान्त का उपन्यास नहीं है। उसी प्रकार प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन है और उन दोनों का संबंध कराने वाला तीसरा कोई नहीं है, इसलिए संबंध अनुपपन्न हो जायेगा और उनको योग्यता निमित्तक संबंध मानें, तो योग्यता के अनुच्छेद से अनिर्मोक्ष का प्रसंङ्ग आयेगा और पूर्व के समान यहां भी प्रयोजन के अभाव के विकल्पों का विचार करना चाहिए। परमात्मा तो स्वरूप के आश्रय से उदासीन हैं और माया के आश्रय से प्रवर्तक हैं, ऐसा अतिशय है।

(8) **अङ्गित्वानुपपत्तेश्च**– इससे भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों का परस्पर गुण – प्रधान-भाव को छोड़कर साम्य से, केवल स्वरूप मात्र से जो स्थित है वह प्रधानावस्था है। उस अवस्था में परस्पर अपेक्षा-रहित सत्व आदि गुणों के स्वरूप के नाश होने के भय से परस्पर अङ्गाङ्गि भाव नहीं बन सकता और उनमें क्षोभ उत्पन्न करने वाले किसी

बाह्य पदार्थ का अभाव होने से गुणों की विषमता से उत्पन्न होने वाले महत् आदि की उत्पत्ति नहीं होगी।

(9) अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्– पूर्वपक्षी – जिस प्रकार यह पूर्वोक्त दोष प्राप्त न हो, उस प्रकार हम अनुमान करते हैं। हम गुणों को निरपेक्षस्वभाव कूटस्थ नहीं मानते, क्योंकि वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। कार्य के अनुसार गुणों का स्वभाव माना जाता है, जैसे-जैसे कार्यों के उत्पत्ति की उपपत्ति होती है वैसे-वैसे गुणों का स्वभाव माना जाता है। गुणों का स्वभाव चंचल है, ऐसा स्वीकार किया गया है। इसलिए वे साम्यावस्था में भी वैषम्य-प्राप्ति के योग्य रहते हैं।

सिद्धान्ती– इस प्रकार अनुमान करने पर भी प्रधान में ज्ञान-शक्ति का अभाव होने से रचना की अनुपपत्ति आदि पूर्वोक्त दोष ज्यों के त्यों ही रहते हैं, उनका परिहार नहीं होता। यदि सांख्य प्रधान में ज्ञान-शक्ति का भी अनुमान करे तो वह प्रतिपक्षता से ही निवृत्त हो जायेगा, क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपंच रूप जगत का उपादान कारण है इस ब्रह्मवाद का प्रसंङ्ग हो जायेगा। वैषम्य-प्राप्ति के योग्य भी गुण साम्यावस्था में निमित्त के अभाव में विषमता को नहीं प्राप्त होंगे। यदि वे वैषम्य के भाजन होने लगेंगे तो निमित्त के अभाव की तुल्यता होने से सर्वदा वैषम्य के भाजन होंगे, इस प्रकार पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति रह ही जाती है।

(10) विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् – सांख्यों का मत परस्पर विरुद्ध है। वे कहीं सात इंद्रियां गिनाते हैं तो कहीं ग्यारह, कहीं महत् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति का उपदेश करते हैं तो कहीं अहंकार से, और कहीं अन्तःकरण तीन बताते हैं (मन, बुद्धि और अहंकार) तो कहीं एक (बुद्धि)। ईश्वर को जगत् का कारण बताने वाली श्रुति से और उसी का अनुकरण करने वाली स्मृति से इनका विरोध तो प्रसिद्ध ही है। इसलिए भी सांख्यों का मत अयुक्त है।

पूर्वपक्षी– वेदान्त दर्शन भी अयुक्त है क्योंकि उसमें भी तप्य अर्थात् दुःख का भोग करने वाला जीव और तापक अर्थात् जीव को दुःख देने वाला संसार इनमें भेद स्वीकार नहीं किया गया है। वेदान्त में एक ही ब्रह्म सब की आत्मा है और सब प्रपंच का कारण है। इसके अनुसार तय और तापक रूप जो जीव और संसार हैं वे एक ही आत्मा के विशेष होते हैं, इसलिए इनमें जाति का भेद नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। जीव और संसार यदि एक ही आत्मा के विशेष हैं, तो इस अवस्था में आत्मा की जीव-भाव से और संसार-भाव से निवृत्ति नहीं हो सकती इससे ताप की निवृत्ति के लिए सम्यक् ज्ञान का उपदेश देने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उष्णता और प्रकाश जो दीपक के धर्म हैं, उनसे वह दीपक कभी भी अलग नहीं हो सकता। जल के तरंग, लहरें, झाग आदि के उदाहरणों में भी एक ही जल के तरंग आदि विशेष कभी प्रकट और कभी विलीन रहने के कारण नित्य ही हैं, इसलिए उनकी भी जल से पृथक्ता नहीं होती। परंतु जीव और संसार की भिन्नता जगत् में प्रसिद्ध है। वैसे ही अर्थ और अर्थी जगत में परस्पर भिन्न ही देखे जाते

हैं। यदि अर्थी का अपने से भिन्न कोई अर्थ न हो, तो जिस अर्थी का जिस विषय में अर्थित्व है, उसके लिए वह विषय नित्य सिद्ध ही है। अतः उस विषय में उसका अर्थित्व नहीं बन सकता। प्रकाश-रूप दीपक का प्रकाश अर्थ नित्य सिद्ध ही है, वह दीपक प्रकाश का अर्थी नहीं बन सकता, क्योंकि अप्राप्त अर्थ में ही अर्थी का अर्थित्व होता है। इसी प्रकार अर्थ का अल्थत्व भी नहीं होता और यदि हो तो वह सबके लिए ही होना चाहिए, परंतु ऐसा नहीं होता क्योंकि अर्थ और अर्थी ये दोनों शब्द एक दूसरे से सापेक्ष या संबंधित हैं और दो संबंधियों का संबंध होता है, एक का नहीं, इसलिए अर्थ और अर्थी दोनों भिन्न ही हैं। वैसे ही, अनर्थ और अनर्थी भी भिन्न हैं। अर्थी के अनुकूल विषय को अर्थ कहा जाता है और प्रतिकूल विषय को अनर्थ। एक का उन दोनों के साथ क्रम से संबंध होता है। उनमें अर्थ के अल्प और अनर्थ के अधिक होने से अर्थ और अनर्थ दोनों अनर्थरूप ही है, इसलिए अर्थ को तापक कहा जाता है और क्रम से दोनों के साथ जो संबंधित होता है, वह पुरुष तप्य कहा जाता है। यदि तप्य और तापक को एक मान लें तो मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी। परंतु यदि उनमें जाति का भेद माना जाय, तो उसके संयोग हेतु के त्याग के द्वारा कदाचित् मोक्ष की सिद्धि हो सकती है।

सिद्धान्ती – यह ठीक नहीं है क्योंकि परमार्थ में एकता होने से ही तप्य-तापक-भाव नहीं बनता। यदि इस अद्वैत अवस्था में तप्य और तापक विषय-विषयि भाव को प्राप्त होते तो ऊपर कहा हुआ दोष प्राप्त होता है। परंतु ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहां से भिन्नता ही नहीं है। अकेली अग्नि यद्यपि उष्णता, प्रकाश आदि भिन्न धर्मों से युक्त है और परिणामशील है तो भी वह अपने को जलाती नहीं या प्रकाशित नहीं करती। फिर एक ही कूटस्थ ब्रह्म में तप्य-तापक भाव किस प्रकार घटेगा? और यह तय-तापक भाव भी कहाँ होगा? क्या तुम नहीं देखते कि कर्म कारक चैतन्ययुक्त देह तय है और सविता तापक है? ताप दुःख को कहते हैं और दुःख चेतन को होता है, अचेतन देह को नहीं होता। यदि देह ही को दुःख होता हो, तो देह के नाश होने पर दुःख आप ही आप नष्ट हो जायेगा, उसके नाश के लिए साधन ढूढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका समाधान हम यों करते हैं – देह के अभाव में केवल चेतन का ताप कहीं भी नहीं देखा जाता और ताप रूपी विकार केवल चेतन को हो यह तुम्हें भी इष्ट नहीं है। वैसे ही, अशुद्धि आदि दोषों की प्राप्ति होने से देह और चेतन का संघात भी तुम्हें इष्ट नहीं है। न ताप का ताप्य होना तुम्हें मान्य है। फिर तुम्हारे मत में भी तप्य तापक भाव किस प्रकार सिद्ध होगा? यदि कहो कि सत्व गुण तय है और रजो गुण तापक है, तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि उनका चेतन से संबंध नहीं हो सकता। यदि कहो कि बुद्धि के अनुरोध से चेतन मानों दुख भोगता-सा प्रतीत होता है, तो परमार्थतः वह मानों दुःखी नहीं होता, क्योंकि मानों शब्द का यहाँ प्रयोग है। यदि परमार्थतः आत्मा तप्त नहीं होती तब मानों शब्द दोषपूर्ण नहीं है। निर्विष दुमुही सांप-सा होता है – ऐसा कहने से दुमुही विष वाला नहीं हो जाता, वैसे की

सांप दुमुही सा हो जाता है, ऐसा कहने से सांप निर्विष नहीं हो जाता। इसलिए यह तप्य तापक भाव अविद्यात्मक है, ऐसा ही मानना पड़ेगा और ऐसा मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। परंतु चेतन का भोक्तापन यदि तुम परमार्थतः मानोंगे तो तुम्हारे ही मत में मोक्ष का अभाव हो जायेगा, क्योंकि तुम्हारे मत में ताप देने वाला रजो गुण नित्य माना गया है। तप्य और तापक दोनों शक्तियों के नित्य होने पर भी ताप-निमित्त-सहित संयोग पर भी ताप-निमित्त-सहित संयोग की अपेक्षा रखता है। इससे संयोग के हेतु-रूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से संयोग का आत्यन्तिक विराम हो जाने पर आत्यन्तिक मोक्ष की सिद्धि होगी। यह ठीक नहीं है, अज्ञान तमोगुण रूप है और वह तमोगुण नित्य है, ऐसा तुम्हारे मत में माना गया है। गुणों के उद्‌भव और लय अनियमित होने से संयोग के निमित्त का उपराम भी अनियत है। उसका वियोग भी अनियत है। इसलिए सांख्यों के ही मत में मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी। उपनिषद्-पक्ष में तो आत्मा के एक होने से विषय और विषयी ये दो भाव ही नहीं बनते और भिन्न-भिन्न विकार वाणी-विलास मात्र हैं, ऐसी श्रुति[1] होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग स्वप्न में भी नहीं आ सकता। परंतु व्यवहार में जहां जैसा तप्य तापक-भाव है, वहाँ वैसा ही है, इसलिए उसके लिए कोई प्रश्न उठाना या उसका खंडन करना अनावश्यक है।[2]

---

1. छान्दोग्य उपनिषद्
2. शंकराचार्य ने सांख्य के खंडन में बहुत प्रयत्न किया है। वे कहते हैं – तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतः (1/4/28) का भाष्य)। सांख्य के खंडन में उन्होंने बड़ा परिश्रम क्यों किया? इसके उत्तर में वे तीन तर्क देते हैं –(1) मन्दमतियों को वेदान्त में सांख्य के कुछ पोषक चिन्ह या संकेत मिलते हैं। (2) सांख्य कारण और कार्य का अभेद स्वीकार करता है और अतः वह वेदान्त के सन्निकट है। (3) देवल आदि कुछ धर्मसूत्रकारों ने सांख्य को अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है (देखिए शारीरिक भाष्य 1/4/28)। इन कारणों से शंकराचार्य ने सांख्य का जितना खंडन किया है उतना वैशेषिक का खंडन नहीं किया है। यह उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ने ईश्वरकृष्ण (150 ई.) की सांख्यकारिका से ही उद्धरण देकर सांख्य का खंडन किया है। सांख्य-कारिका षष्टितंत्र का सारांश है। षष्टितंत्र साठ हजार श्लोकों का ग्रंथ था। इसके रचयिता संभवतः वार्षगण्य थे। कुछ लोग पंचशिख को भी षष्टितन्त्र का प्रणेता मानते हैं। किन्तु पंचशिखके वचन गद्य में ही मिले हैं। अतएव जिस पष्टितंत्र का साराँश सांख्यकारिका है उसका प्रणेता वार्षगण्य ही है। वार्षगण्य का यह श्लोक मिलता है –
   गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
   यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव स तुच्छकम्। (भामती 2/1/3 में उद्धृत)
   जर्मन विद्वान् याकोबी मानते हैं कि गुण का सिद्धान्त अतर्कतः सांख्य-सिद्धान्त पर कालान्तर में बाहर से आरोपित किया गया है। पष्टितंत्र का संक्षेप में अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय 12 श्लोक 18-30 में दिया गया है। जिनेन्द्रबुद्धि नामक बौद्ध दार्शनिक ने दिग्नाग के ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की टीका में षष्टितंत्र के अनेक उद्धरण दिये हैं। यह तिब्बती भाषा में है। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने सांख्य के उसी प्रकार का खंडन किया है जो निरीश्वरवादी या अज्ञेयवादी है। उन्होंने सेश्वर सांख्य का खंडन नहीं किया है। दिग्नाग ने प्रमाण समुच्चयवृत्ति में माधव नामक एक सांख्य आचार्य को सांख्य वैनाशिक कहा है।

(2) वैशेषिक परमाणुवाद का निराकरण

प्रधानकारणवाद का निराकरण किया जा चुका है। अब परमाणुवाद का निराकरण करना चाहिए। यहाँ पर परमाणुवादी द्वारा ब्रह्मवादियों के पक्ष में जो दोष लगाये जाते हैं, पहले उनका समाधान किया जाता है। परमाणुवादी वैशेषिकों का सिद्धान्त है कि कारण-द्रव्य में रहने वाले गुण कार्य-द्रव्य में अपने समान जाति वाले अन्य गुणों को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि शुक्ल तन्तुओं से शुक्ल वस्त्र ही उत्पन्न होता है, विरुद्ध रंगवाला वस्त्र उत्पन्न होता नहीं दिखाई देता। इसलिए यदि चेतन ब्रह्म को जगत् का कारण माने तो उसका कार्यरूप जगत् भी चैतन्ययुक्त होना चाहिए, परंतु ऐसा देखने में नहीं आता। इसलिए चेतन ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता है। उनके इस सिद्धान्त का खंडन हम उन्ही की प्रक्रिया से करते हैं–

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्

वैशेषिकों की यह प्रक्रिया हैं – यथासंभव रूप आदि युक्तपारिमाण्डल्य परिमाण वाले परमाणु कुछ काल तक कार्य आरंभ किए बिना रहते हैं। बाद में अदृष्ट आदि कारण में युक्त होकर द्वि-अणुक आदि के क्रम से समस्त कार्य-समूह का आरंभ करते हैं। और कारण के गुण कार्य में अन्य गुणों का आरंभ करते हैं। जब दो परमाणु द्वि-अणुक का आरंभ करते हैं, तब परमाणुओं में रहने वाले रूप आदि गुणविशेष शुक्ल आदि द्वि-अणुक में अन्य शुक्ल आदि गुणों का आरंभ करते हैं। परंतु परमाणु गुण विशेष पारिमाण्डल्य द्वि-अणुक में अन्य पारिमाण्डल्य का आरंभ नहीं करता, क्योंकि द्वि-अणुक का अन्य परिणाम माना गया है। द्वि-अणुक में रहने वाले परिमाणों को वे अणु और ह्रस्व कहते हैं। परंतु जब दो द्वि-अणुक चतुरणुक का आरंभ करते हैं,[1] तब भी द्वि-अणुक में समवाय-संबंध से रहने वाले शुक्ल आदि गुण पूर्ववत् ही

शंकराचार्य की आलोचना विशेषतः माधव के प्रति की गई है – ऐसा प्रतीत होता है।

1. चतुरणुक कैसे बनता है? आधुनिक वैशेषिक कहते हैं कि चार द्वि-अणुकों से एक चतुरणुक बनता है। किंतु शंकराचार्य ने यहाँ लिखा है कि दो द्वि-अणुकों से ही एक चतुरणुका बनता हैं। शंकराचार्य ने ऐसा क्यों लिखा?

इसके तीन उत्तर हैं –

(1) आनन्दगिरि ने न्यायनिर्णय में लिखा है कि अणुक का अर्थ द्वि-अणुक है। अतः दो द्वि-अणुक का अर्थ है अणुकों का दो समूह अर्थात् द्वि-अणुकों का दो समूह या चार द्वि-अणुक। इस प्रकार चार द्वि-अणुकों से एक चतुरणुक बनता है।

(2) भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं – 'दो द्वि-अणुकों से' इस पदावली का अर्थ है उन द्वि-अणुकों से जिनमें दो द्वित्वों का वास है अर्थात् जिनमें द्वि-अणुकों के दो समूह का वास है या जिनमें चार द्वि-अणुक हैं।

(3) रत्नप्रभाकार रामानंद ने लिखा है कि दो द्वि-अणुकों से महत् परिमाण वाला चतुरणुक नहीं बन सकता। उन्होंने प्रकटार्थ विवरण का उल्लेख किया है। प्रकटार्थविवरण ने रावणप्रणीत भाष्य के आधार पर कहा है कि दो द्वि-अणुकों से उत्पन्न कार्य में जो महत्परिमाण दीखता

कार्य के आरम्भक होते हैं। परंतु अणुत्व और ह्रस्वत्व द्वि-अणुक में समवाय-संबंध से रहने पर भी कार्य के आरंभक नहीं होते हैं, क्योंकि चतुरणुक का महत्व और दीर्घत्व परिमाण माना गया है। परंतु जब बहुत परमाणु या बहुत द्वि-अणुक या द्वि-अणुक सहित परमाणु किसी कार्य का आरम्भ करते हैं, तब भी यह योजना समान है। तो इस प्रकार जैसे परिमण्डल-परिमाण परमाणुओं से अणु और ह्रास्व द्वि-अणुक उत्पन्न होता है, और महत् और दीर्घ त्र्यणुकादि उत्पन्न होते हैं तथा परिमंडल उत्पन्न नहीं होता, अथवा जिस प्रकार द्वि-अणुक अणु और ह्रस्व है तो भी उससे महत् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होता है, अणु उत्पन्न नहीं होता या ह्रस्व उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न होगा, ऐसा स्वीकार करने में तुम्हारी क्या हानि है?

पूर्वपक्षी– यदि ऐसा मानो कि द्वि-अणुकादि कार्य द्रव्य-विरोधी अन्य परिमाण से व्याप्त है, इस कारण गत पारिमाण्डल्यादि उनके आरम्भक नहीं होते, तो ऐसा मैं स्वीकार करता हूँ। परंतु चेतना से विरोधी अन्य गुण से जगत् युक्त नहीं है, जिससे कारणगत चेतना कार्य में अन्य चेतना का आरंभ न करे, क्योंकि अचेतना नामक चेतना का विरोधी कोई गुण नहीं है, क्योंकि अचेतना चेतना का अभाव मात्र है। इसलिए पारिमाण्डल्यादि से भिन्न होने से चेतना कार्य का आरंभ कर सकती है।

सिद्धान्ती – तो ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे कारण में विद्यमान भी पारिमाण्डल्यादि अनारंभक है, वैसे चैतन्य भी – इतना अंश दोनों पक्षों में समान है और पारिमाण्डल्यादि के अनारंभक होने में उनका (द्वि-अणुकादि का) अन्य परिमाण से युक्त होना कारण नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाण के आरंभ के पहले पारिमाण्डल्यादि का आरंभक होना उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि आरब्ध भी कार्य द्रव्य गुणों के आरंभ से पहले क्षण भर गुणरहित रहता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार पारिमाण्डल्यादि अन्य परिमाण के आरंभ करने में व्यग्र होने के कारण अपने स्वसमान जातीय अन्य परिमाण का आरंभ नहीं करते, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाण से अन्य हेतु कहे गये हैं, क्योंकि 'कारण के बहुत्व से, कारण के महत्व से और अवयव के संयोग विशेष से महत् परिमाण उत्पन्न होता है।[1] उसके विपरीत जो है वह अणु है'।[2] इससे दीर्घत्व और ह्रास्वत्व का व्याख्यान हुआ।'[3] ये कणाद के सूत्र हैं और किसी संविधान विशेष से कारण-बहुत्व आदि ही आरंभक होते हैं, पारिमाण्डल्यादि आरंभक नहीं होते –

है उसका हेतु प्रचय अर्थात् प्रशिथिल अवयवों का संयोग है। इस प्रकार प्राचीन वैशेषिक दृष्टि से शंकराचार्य ने यहां लिखा है। रावणभाष्य कणाद के वैशेषिकसूत्र पर लिखा गया भाष्य था जो अब उपलब्ध नहीं है। शंकराचार्य को यह भाष्य उपलब्ध था। इसी के आधार पर उन्होंने यहाँ वैशेषिक मत का वर्णन किया है।

1. वैशेषिक सूत्र 7/1/9
2. वही 7/1/10
3. वही 7/117

ऐसा कहा नहीं जा सकता क्योंकि, अन्य द्रव्य या अन्य गुण आरंभ करने में सब कारण-गुण स्वाश्रय में समान रूप से समवेत है। इसलिए स्वभाव से ही परिमाण्डल्यादि अनारम्भक है। वैसे चेतना भी अनारंभक है, ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार संयोग से विलक्षण द्रव्य आदि की उत्पत्ति देखने में आती है, इससे समान जाति वाले की उत्पत्ति में व्यभिचार है। द्रव्य प्रकृत है, उसमें गुण का उदाहरण अयुक्त है, ऐसा कहो तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दृष्टांत से विलक्षण आरंभ मात्र विवक्षित है और द्रव्य का उदाहरण द्रव्य ही होना चाहिए और गुण का गुण ही, इस नियम में कोई हेतु नहीं है। तुम्हारे सूत्रकार ने भी द्रव्य का गुण उदाहरण दिया है – 'प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संयोग अप्रत्यक्ष होने से शरीर पंचभूतात्मक नहीं है।'[1] जैसे प्रत्यक्ष भूमि और अप्रत्यक्ष आकाश में समवाय संबंध से रहना वाला संयोग अप्रत्यक्ष है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पाँच भूतों में समवाय संबंध से रहने वाला शरीर अप्रत्यक्ष हो जायेगा। शरीर तो प्रत्यक्ष है, इसलिए पांचभौतिक नहीं है। तात्पर्य यह है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य है। 'दृश्यते तु'[2] इस सूत्र में भी विलक्षण की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया गया है। परंतु ऐसा हो, तो उससे ही यह सूत्र गतार्थ है। नहीं, ऐसा हम करते हैं। जो सांख्य के प्रति कहा गया है, वह वैशेषिक के प्रति भी कहा जाता है। परंतु अतिदेश भी 'इससे शिष्टों से अपरिगृहीतों का भी प्रत्याख्यान हुआ'[3] इस प्रकार समान न्याय से किया गया है। यह सत्य है, परंतु उसी का इस वैशिषिक प्रक्रिया के आरंभ में उसकी प्रक्रिया के अनुसारी निदर्शन-दृष्टान्त से प्रपंच किया गया है। अब हम परमाणुकारणवाद निराकरण करते हैं।

(1) उभयथापि न कर्मातस्तदभावः– यह वाद इस प्रकार उपस्थित होता है – व्यवहार में देखा जाता है कि पट आदि सावयव द्रव्य अपने अनुकूल संयोग-सहित तंतु आदि द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि कोई सावयव-अवयवी द्रव्य है, वे सब अपने अनुकूल संयोगयुक्त तत्-तत् द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं। वह अवयवावयविविभाग, अवयव और अवयवी का विश्लेषण जहां से निवृत्त होता है उस न्यून परिमाण की सीमा को परमाणु कहते हैं। पर्वत समुद्र आदि यह सम्पूर्ण जगत सावयव है और सावयव होने से उत्पत्तिमान और विनाशी है। कोई भी कार्य कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए परमाणु जगत् के कारण हैं। यह वैशेषिकों का सिद्धान्त है। पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों को सावयव देख कर चार प्रकार के परमाणुओं की कल्पना की जाती है। वे न्यूनता की चरम सीमा है। उनसे आगे विभाग का संभव न होने से नाशशील पृथिवी आदि का परमाणुपर्यन्त विभाग होता है। परमाणुपर्यन्त विभाग होना ही

1. वैशेषिक सूत्र 4/2/2
2. वही 2/1/6
3. ब्रह्मसूत्र 2/1/12

प्रलय है। फिर सृष्टि के समय वायवीय परमाणुओं में अदृष्ट वश कर्म उत्पन्न होता है । वह कर्म जिस परमाणु में होता है उसका दूसरे परमाणु से संयोग होता है। तत्पश्चात् द्वि-अणुक आदि के क्रम से वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार इन्द्रिय-सहित शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अणुओं से उत्पन्न होता हैं। जैसे तन्तुओं के रूप से वस्त्र में रूप उत्पन्न होता है, वैसे ही अणु में रहने वाले रूप आदि से द्वि-अणुक-गत रूप आदि होते हैं। ऐसा वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

इस विषय में हम कहते हैं – विभाग की अवस्था में स्थित परमाणुओं का संयोग किसी कर्म की अपेक्षा करता है यह मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्मयुक्त तंतु आदि में संयोग दिखाई देता है। कर्म कार्य है, इसलिए उसका कोई निमित्त मानना पड़ेगा। यदि निमित्त को स्वीकार न किया जाय, तो निमित्त के अभाव में अणुओं में आद्यकर्म नहीं होगा। यदि निमित्त को स्वीकार करें भी, तो जैसे व्यवहार में कर्म का निमित्त प्रयत्न या अभिघात दिखाई देता है वैसे ही अणु के कर्म का कोई निमित्त मानना पड़ेगा। उसका संभव न होने से अणुओं में आद्य कर्म नहीं होगा। सृष्टि के पूर्व आत्म गुण प्रयत्न नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय शरीर ही नहीं रहता। शरीर में रहने वाले मन में आत्मा का संयोग होने पर आत्मा का गुण प्रयत्न होता है। इस कथन से अभिघात आदि इष्ट निमित्त का भी प्रत्याख्यान हो गया। क्योंकि वे सब सृष्टि के अनन्तर ही संभव है, अतः वे आदि कर्म के निमित्त नहीं हो सकते हैं। यदि आद्यकर्म का निमित्त आदृष्ट है, तो प्रश्न होता है कि वह कर्म आत्मा में समवाय-संबंध से रहने वाला है या अणुओं में। दोनों प्रकार से भी अणुओं में अदृष्ट निमित्तक कर्म की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि अदृष्ट अचेतन है। चेतन से अधिष्ठित हुए बिना अचेतन न तो स्वतंत्र रूप से प्रवृत्त हो सकता है और न किसी को प्रवृत्त कर सकता है – ऐसा सांख्य प्रक्रिया में कहा गया है। चैतन्य के उत्पन्न न होने से आत्मा भी उस अवस्था में अचेतन ही है। अदृष्ट आत्मा में समवाय संबंध से रहता है ऐसा स्वीकृत होने से वह अणुओं में कर्म का निमित्त नहीं होगा, क्योंकि अदृष्ट से उसका कोई संबंध ही नहीं है। अदृष्ट वाले पुरुष के साथ अणुओं का संबंध है ऐसा यदि कहो तो संबंध के सदा होने से सदा प्रवृत्ति होने लगेगी, क्योंकि कोई अन्य नियामक नहीं है। इस प्रकार कोई भी कर्म का नियत निमित्त नहीं है। अतः अणुओं में आद्यकर्म नहीं होगा। कर्म के अभाव में कर्म से होने वाला संयोग नहीं होगा और संयोग के अभाव से उसके आधार पर होने वाले द्वि-अणुक आदि कार्य नहीं होंगे और एक अणु का अन्य अणु के साथ संयोग सर्वात्मना होगा या एकदेश से होगा? सर्वात्मना होगा, तो उपचय की अनुपपत्ति से अणुमात्रत्व का प्रसंग आयेगा और जो देखने में आता है उससे विपरीत का प्रसंङ्ग आयेगा, क्योंकि प्रदेश वाले द्रव्य का प्रदेश वाले अन्य द्रव्य के साथ संयोग देखा जाता है, और एक देश से होगा तो सावयवत्व का प्रसंग आयेगा। परमाणुओं के कल्पित प्रदेश होंगे – ऐसा कहोगे, तो कल्पित अवस्तु

होने से संयोग अवस्तुरूप होगा, इससे वस्तुरूप कार्य का असमवायी कारण नहीं होगा और असमवायी कारण न होने से द्वि-अणुकादि कार्य द्रव्य उत्पन्न न होंगे और जैसे आदि सृष्टि में निमित्त के अभाव से संयोग की उत्पत्ति के लिए अणुओं में कर्म नहीं हो सकता वैसे महाप्रलय में भी विभाग की उत्पत्ति के लिए अणुओं में कर्म न होगा क्योंकि उसमें भी उसका कुछ नियत निमित्त देखने में नहीं आता। अदृष्ट भी भोग की प्रसिद्धि के लिए है, प्रलय की प्रसिद्धि के लिए नहीं है, इसलिए निमित्त के अभाव से अणुओं में संयोग की उत्पत्ति के अर्थ और विभाग की उत्पत्ति के अर्थ कर्म नहीं होगा, इसलिए संयोग और विभाग के अभाव से उनके आधार पर होने वाले सर्ग और प्रलय का अभाव हो जायेगा। इसलिए यह परमाणुवाद अनुपपन्न है।

(2) **समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः।** वैशेषिकों द्वारा समवाय को स्वीकार करने से भी सृष्टि और प्रलय का अभाव है। इसका प्रकृत अणुवाद के निराकरण के साथ संबंध हैं। दो अणुओं से उत्पन्न होने वाला द्वि-अणुक अणुओं से अत्यन्त भिन्न है और अणुओं में समवेत है, ऐसा तुम स्वीकार करते हो। परंतु ऐसा स्वीकार करते हुए तुम अणुकारणता का समर्थन नहीं करते। किससे? साम्य से और अनवस्थिति से। जिस प्रकार दो अणुओं से अत्यन्त भिन्न होकर द्वि-अणुक समवायलक्षण संबंध से उनके साथ संबद्ध होता है, उसी प्रकार समवाय भी समवायियों से अत्यन्त भिन्न होकर समवायलक्षण अन्य संबंध से ही समवायियों के साथ संबद्ध होगा, क्योंकि (दोनों में) अत्यन्त भेदरूपी साम्य है। और तदनन्तर उस समवाय के अन्य-अन्य संबंध की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। परंतु यहां पर इस प्रतीति से ग्रहण करने योग्य समवाय समवायियों के साथ नित्य संबद्ध ही गृहीत होता है, असंबद्ध या अन्य संबंध की अपेक्षा वाला नहीं है। इसलिए उसके लिए अन्य संबंध की कल्पना युक्त नहीं है जिससे अनवस्था प्रसक्त हो, ऐसी शंका करोगे तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में संयोग भी संयोगियों के साथ नित्य संबंद्ध ही है, इसलिए समवाय के समान उसको अन्य संबंध की अपेक्षा नहीं है। यदि अन्य अर्थ होने से संयोग अन्य संबंध की अपेक्षा रखे, तो समवाय भी अन्य अर्थ होने से अन्य संबंध की अपेक्षा रखेगा। गुण होने से संयोग अन्य संबंध की अपेक्षा रखता है। परंतु अगुण होने से समवाय अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि दोनों में अपेक्षा का कारण समान है और गुण परिभाषा अतन्त्र है। इसलिए समवाय को अन्य अर्थरूप स्वीकार करने वाले वैशेषिक को अनवस्था प्राप्त होगी ही। और अनवस्था प्राप्त होने पर एक की असिद्धि से सब असिद्ध होने से दो अणुओं से द्व्यणुक उत्पन्न होगा ही नहीं। इसलिए भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

(3) **नित्यमेव च भावात्**– अणु प्रवृत्तिस्वभाव वाले माने जाते हैं या निवृत्ति स्वभाव वाले माने जाते हैं या उभय स्वभाव वाले माने जाते हैं या अनुभय स्वभाव वाले माने जाते हैं, क्योंकि इनसे अन्य गति का अभाव है?[1] चारों प्रकार से भी

1. यहाँ पर शंकराचार्य ने चतुष्कोटिक न्याय-प्रणाली का प्रयोग किया है।

प्रवृत्ति उपपत्ति नहीं होती। यदि उन्हें प्रवृत्तिस्वभाव वाले मानें, तो नित्य ही प्रवृत्ति होने से प्रलय के अभाव का प्रसङ्ग आयेगा। यदि निवृत्तिस्वभाव वाले मानें तो नित्य ही प्रवृत्ति होने से प्रलय के अभाव का प्रसङ्ग आयेगा। यदि निवृत्तिस्वभाव वाले माने तो नित्य ही निवृत्ति होने से सृष्टि के अभाव का प्रसङ्ग होगा। उभयस्वभाव होना तो विरोध से ही अनुपपन्न है। यदि अनुभयस्वभाव मानें, तो तब उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति निमित्तवश मानी जाती है, इसलिए अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्निहित होने से नित्य प्रवृत्ति का प्रसंग आयेगा। अदृष्ट आदि अतन्त्र हों, तो भी नित्य अप्रवृत्ति का प्रसंग होगा। इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

(4) **रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्**– अवयवशः विभक्त होने वाले सावयव द्रव्यों का जहाँ से आगे विभाग नहीं हो सकता है, वे चार प्रकार के रूप आदि युक्त परमाणु चार प्रकार के रूप आदि युक्त भूत-भौतिक के आरंभक हैं और नित्य हैं ऐसा वैशेषिक स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका यह स्वीकार करना निराधार ही है, क्योंकि रूप आदि से युक्त होने से परमाणुओं के अणुत्व और नित्यत्व के विपर्यय की प्राप्ति होगी। परम कारण की अपेक्षा से वे स्थूल और अनित्य है, इस प्रकार उनके अभिप्राय से विपरीत की प्राप्ति होगी, ऐसा अर्थ है। किससे? इससे कि लोक में इसी प्रकार देखने में आता है। लोक में जो रूपादि युक्त वस्तु है, वह अपने कारण की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य दिखाई देती है। इसलिए जैसे पट तन्तुओं की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य है, इसी प्रकार ये परमाणु रूपादि युक्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए कारण वाले होने से वे कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं, ऐसा प्राप्त होता है, और परमाणुओं में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं –(1) सत् अकारण वाला नित्य है,[1] वह भी ऐसा होने से अर्थात् परमाणुओं के भी कारण होने से अणुओं में संभव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से अणुओं का भी कारण है, ऐसा प्रयत्न हो सकता है, और नित्यत्व सिद्ध करने के लिए जो (2) दूसरा प्रमाण दिया है – 'अनित्य है, इस प्रकार विशेषरीति से प्रतिषेध का अभाव है'[2] वह भी अवश्य परमाणुओं का नित्यत्व सिद्ध नहीं करता, क्योंकि यदि कोई नित्यवस्तु न हो, तो नित्य शब्द के साथ नञ् समास (नकार प्रयोग) उपपन्न न होगा, और परमाणु के नित्यत्व की ही अपेक्षा नहीं है, तो वह नित्य परमकारण ब्रह्म है ही। और शब्दार्थ व्यवहार मात्र से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्य प्रमाण से सिद्ध हुए शब्दार्थ व्यवहार में आते हैं। इसी प्रकार[3] नित्यत्व सिद्ध करने के लिए जो तीसरा प्रमाण कहा गया है – 'अविद्या च' (और अविद्या), उसका यदि ऐसा विवरण करें जिसका अर्थ परिदृश्यमान (सर्वतः दीखता

1. वैशेषिक सूत्र 4/1/1
2. वही 4/1/1
3. वही 4/1/5

हुआ) है, ऐसे विद्यमान कारणों के प्रत्यक्ष से अग्रहण अविद्या है, तो द्वि-अणुक की भी नित्यता का प्रसंङ्ग आयेगा। यदि 'अद्रव्य होकर' इतना विशेषण दें, तो भी अकारणवत्व ही नित्यता का निमित्त होगा और उसके पूर्व कथित होने से 'अविद्याच' यह पुनरुक्त हो जायेगा। उसी प्रकार यदि कारण-विभाग से या कारण-विनाश से अन्य तृतीय विनाश-हेतु का असंभव अविद्या है और वह परमाणुओं का नित्यत्व स्थापन करती है, ऐसी व्याख्या करो, तो विनष्ट होने वाली वस्तु अवश्य दो ही हेतुओं से विनष्ट होने योग्य है, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि संयोग-सहित अनेक द्रव्यों को अन्य द्रव्य का आरम्भक स्वीकार करें, तो यह सिद्ध हो। परंतु जिसमें से विशेष दूर हो गया है, ऐसा सामान्यात्मक कारण विशेषयुक्त अवस्थान्तर प्राप्त करने वाले आरम्भक रूप से स्वीकार किया जाय तो घी के काठिन्य के नाश के समान मूर्त अवस्था के विलय से भी विनाश उपपन्न हो सकता है। इसलिए रूपादियुक्त होने से परमाणु जैसे माने गये हैं, उससे विपरीत होगा, इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

(5) **उभयथा च दोषात्** – गंध, रस रूप, और स्पर्श गुण वाली पृथ्वी स्थूल है, रूप, रस और स्पर्श गुणवाला जल सूक्ष्म है, रूप और स्पर्श गुण वाला तेज सूक्ष्मतर है और स्पर्श गुण वाला वायु सूक्ष्मतम है, इस प्रकार ये चार भूत अधिक और न्यून गुण वाले एवं स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तारतम्य से युक्त लोक में देखे जाते हैं। इसी प्रकार – स्थूल, सूक्ष्म पृथ्वी, जल आदि के समान उनके परमाणु भी अधिक और न्यून गुणों से युक्त है, ऐसी कल्पना की जाती है या नहीं? कल्पना करें या न करें, दोनों प्रकारों में दोष की प्राप्ति का परिहार नहीं हीं किया जा सकता। उपचित और अपचित गुण वाले परमाणुओं की यदि कल्पना की जाय, तो उपचित गुण वाले परमाणुओं की मूर्ति के उपचय से परमाणुत्व की हानि का प्रसंग आयेगा। मूर्ति के उपचय के बिना भी गुण का उपचय होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य भूतों में गुण का उपचय होने से मूर्ति का उपचय देखा जाता है। यदि उपचित और अपचित गुण वाले परमाणुओं की कल्पना न की जाये और परमाणुत्व की समता की सिद्धि के लिए सब परमाणु एक-एक गुणयुक्त मानें जाय तो तेज में स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी, तथा जल में रूप और स्पर्श की, पृथ्वी में रस, रूप और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि कार्य के गुण कारण-गुणपूर्वक होते हैं अर्थात् कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। यदि सब भूत चार गुण वाले हैं, ऐसी कल्पना करें, तो जल में भी गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए, तेज में गन्ध और रस की और वायु में गन्ध, रूप और रस की उपलब्धि होनी चाहिए, परंतु ऐसा देखा नहीं जाता। इसलिए भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

(6) **अपरिग्रहाच्यचात्यन्तमनपेक्षा** – प्रधानकारणवाद सत्कार्यवाद, आत्मा का असंगत्व, चिद्रूपत्व आदि अंशों में अपने सिद्धान्त का अनुसरण करता है, इस कारण मनुआदियों ने उन अंशों की दृष्टि से उसका अपनी स्मृति में संग्रह किया है। परंतु परमाणुकारणवाद किन्हीं भी शिष्टों द्वारा किसी भी अंश में स्वीकृत नहीं है, इसलिए

वेदवादियों से अत्यन्त ही अनादरणीय है। और वैशेषिक अपने शास्त्र के अर्थभूत प्रतिपाद्यरूप द्रव्य, गुण, कार्म, सामान्य, विशेष और समवाय नाम के मनुष्य, अश्व और शस्त्र के समान अत्यन्त भिन्न और भिन्न लक्षण वाले छः पदार्थों का स्वीकार करते हैं।[1] और इस प्रकार मानकर उसके विरुद्ध शेष सभी पदार्थ द्रव्य के अधीन हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। परंतु उनका यह पक्ष उपपन्न नहीं है। किस प्रकार? लोक में जैसे शश, कुश, पलाश आदि अत्यन्त भिन्न होने से, अन्योन्य के अधीन नहीं होते हैं, उसी प्रकार द्रव्य आदि के भी परस्पर अत्यन्त भिन्न होने से गुण आदि द्रव्य के अधीन नहीं होते। परन्तु गुण आदि द्रव्याधीन होते हैं, क्योंकि द्रव्य के अस्तित्व में उनका अस्तित्व और द्रव्य के अभाव में अभाव होता है। इसलिए संस्थानादि भेद से द्रव्य ही अनेक शब्द और प्रतीतिवाला होता है। जैसे कि देवदत्त एक ही होता हुआ भी अन्य अवस्था के योग से अनेक शब्द और प्रतीतिवाला होता है। ऐसी परिस्थिति में सांख्य सिद्धान्त का प्रसङ्ग और स्वसिद्धान्त का विरोध प्राप्त होगा।

परंतु अग्नि से अन्य होने पर भी धूम अग्नि के अधीन दिखाई देता है। ठीक है, दिखाई देता है, परंतु भेद-प्रतीति से उस स्थल में अग्नि और धूप अन्य हैं, ऐसा निश्चय होता है। परंतु यहां शुक्ल, कम्बल, लाल गाय, नील कमल, इस प्रकार विभिन्न द्रव्यों की विशेष प्रतीति होने से अग्नि और धूम के समान द्रव्य और गुण की भेद प्रतीति नहीं है। इसलिए गुण द्रव्यात्मक है। इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय भी द्रव्यात्मक है, ऐसा व्याख्यान हुआ।

गुण आदि द्रव्य के अधीन हैं, क्योंकि द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध हैं, ऐसा यदि कहा जाय, तो वह अयुतसिद्धत्व अपृथक्देशत्व है या अपृथक्कालत्व है अथवा अपृथक स्वाभावत्व है। सर्वथा ही वह उपपन्न नहीं होता। जो पृथग्देश में न हो, वह अयुतसिद्ध है, ऐसा यदि अयुतसिद्ध माने तो फिर वह स्वासिद्धान्त का विरोधी होगा। किस प्रकार? क्योंकि तन्तु में उत्पन्न हुआ यह तन्तु-देश माना जाता है, पटदेश नहीं माना जाता, परंतु पट के शुक्ल आदि गुण पटदेश माने जाते हैं, तन्तु देश नहीं माने जाते। वैशेषिक कहते हैं "द्रव्य अन्य द्रव्य को उत्पन्न करते हैं और गुण अन्य गुण को",[2] क्योंकि कारण-द्रव्य तन्तु कार्य-द्रव्य पट को उत्पन्न करते हैं और तन्तु-गत शुक्ल आदि गुण कार्य-द्रव्य पट में शुक्ल आदि अन्य गुणों को उत्पन्न करते हैं, ऐसा वे मानते हैं। द्रव्य और गुण को अपृथग्देश स्वीकार करने से उक्त सिद्धान्त बाधित हो जायेगा। यदि जो पृथक्काल न हो वह अयुतसिद्ध है, ऐसे कहा जाय तो गाय की दाई और बाई सीगों में भी अयुतसिद्धत्व हो जायगा। इसी प्रकार जिसका स्वभाव पृथक् न हो, वह अयुतसिद्ध है, ऐसा यदि अयुतसिद्धत्व मानें, तो द्रव्य और गुण का स्वरूप-भेद नहीं हो सकता क्योंकि गुण और द्रव्य की तादात्म्य से प्रतीति होती है।

---

1. शंकराचार्य के समय तक वैशेषिक दर्शन में छः पदार्थों की ही मान्यता थी। बाद में अभाव नामक सातवाँ पदार्थ माना गया।
2. वैशेषिकसूत्र 1/1/10

युतसिद्ध पदार्थों का संबंध संयोग है और अयुतसिद्ध पदार्थों का संबंध समवाय है, ऐसा मानना मिथ्या ही है, क्योंकि कार्य से पूर्व में सिद्ध कारण अयुतसिद्ध हो, यह उपपन्न नहीं हो सकता। अयुतसिद्ध कार्य. का कारण के साथ जो संबंध है, वह समवाय है, यह अंगीकार दोनों में से एक की अपेक्षा से ही है, यदि ऐसा कहो, तो भी पूर्व में असिद्ध जिसने स्वरूप प्राप्त नहीं किया ऐसे कार्य का कारण के साथ संबंध युक्त नहीं होगा, क्योंकि संबंध दोनों के अधीन होता है। कार्य सिद्ध होकर कारण से संबद्ध होता है, ऐसा यदि कहो, तो कारण संबंध के पूर्व कार्य की सिद्धि स्वीकार करने से अयुतसिद्धि का अभाव होने के कारण 'कार्य कारण का संयोग और विभाग नहीं होता' वैशेषिक का यह कथन दुरुक्त हो जायेगा और जैसे उत्पन्न मात्र क्रियारहित कार्य द्रव्य का विभु आकाशादि अन्य द्रव्यों के साथ संबंध संयोग ही माना जाता है, समवाय नहीं माना जाता, इसी प्रकार कारण द्रव्य के साथ भी संबंध संयोग ही हो जायेगा, समवाय नहीं होगा। और संयोग तथा समवाय संबंध के संबंधियों की अपेक्षा से पृथक् अस्तित्व में कुछ भी प्रमाण नहीं है। 'संबंधी' इस शब्द और प्रतीति से व्यतिरिक्त संयोग और समवाय, इन शब्दों और प्रतीतियों के दर्शन से उनका पृथक् अस्तित्व है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि एक में भी स्वरूप और बाह्य रूप की अपेक्षा से अनेक शब्द और प्रतीतियां उपलब्ध होती है। जैसे यद्यपि देवदत्त एक ही है, तो भी व्यवहार में वह स्वरूप और सम्बन्धित-रूप की अपेक्षा से अनेक शब्द और प्रतीतियों का भाजन होता है – मनुष्य ब्राह्मण, श्रोत्रिय, दाता, बालक, युवक, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता और जामाता इत्यादि। और जैसे एक ही रेखा स्थान भेद से भिन्न-भिन्न स्थानों में योजित होने के कारण एक, दश, शत, सहस्त्र आदि शब्द और प्रतीतियों की भाजन होती है, वैसे ही दो संबंधी ही संबंधी शब्द और 'यह संबंधी है' इस प्रतीति के भेद से संयोग और समवाय इन शब्द और प्रतीतियों के पात्र होते हैं। 'संयोग' और 'समवाय' रूप व्यतिरिक्त वस्तु के अस्तित्व से वे शब्द और प्रत्यय के पात्र नहीं होते हैं। इस प्रकार उपलब्धि रूप, लिंङ्ग से प्राप्त अन्य पदार्थ का (संयोग आदि के संबंधी की अपेक्षा भिन्न रूप से) अनुपलब्धि से अभाव है। उसी प्रकार 'संबंध' इस शब्द और प्रतीति के संबंधी विषयक होने से उसके (संबंध के) निरंतर अस्तित्व की प्राप्ति होगी, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह स्वरूप और बाह्यरूप की अपेक्षा से है, ऐसा उसका उत्तर कहा जा चुका है। उसी प्रकार अणु, आत्मा और मन का संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें प्रदेश नहीं है, और प्रदेश वाले द्रव्य का प्रदेश वाले अन्य द्रव्य के साथ संयोग दिखाई देता है। यदि कहो कि अणु आत्मा और मन के प्रदेश कल्पित होंगे तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यमान अर्थ की कल्पना करने पर सब अर्थों की सिद्धि का प्रसंग आयेगा। इतनी ही अविद्यमान, विरुद्ध या अविरुद्ध अर्थ की कल्पना करनी चाहिए, अधिक नहीं, इस नियम के लिए हेतु नहीं है। और कल्पना स्वाधीन है, अतः उसकी कोई सीमा सम्भव नहीं है। वैशेषिकों से

कल्पित छः पदार्थों के अतिरिक्त सैकड़ों हजारों पदार्थों की कल्पना नहीं करनी चाहिए, इस तरह का कोई निवारक हेतु नहीं है। इसलिए जिसको जो जो पदार्थ रुचिकर होगा वह सिद्ध हो जायेगा। कोई एक कृपालु ऐसी कल्पना करेगा कि प्राणियों का यह दुःख से परिपूर्ण संसार ही न हो अथवा कोई अन्य व्यसनी मुक्तों की भी पुनरुत्पत्ति की कल्पना करेगा, ऐसी स्थिति में उन दोनों के निवारक कौन होगा? और इसके अतिरिक्त दूसरा दूषण यह है कि जैसे निरवयव आकाश के साथ द्वि-अणुक का संबंध संभव नहीं है, वैसे ही दो निरवयव परमाणुओं के साथ सावयव द्वि-अणुक का संबंध अनुपपन्न है। आकाश और पृथ्वी आदि का लाख और लकड़ी के समान संश्लेष नहीं है। यदि समवाय को न मानोगे, तो कार्य-द्रव्य और कारण-द्रव्य का अश्रिताश्रय-भाव अनुपपन्न हो जायेगा। अतः समवाय की कल्पना अवश्य करनी चाहिए, ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि अन्योन्याश्रय हो जायेगा, कारण-कार्य और कारण का कुण्ड और बदर के समान भेद सिद्ध होने पर आश्रिताश्रय भाव की सिद्ध होती है और कुण्ड-बदर के समान आश्रिताश्रय भाव के सिद्ध होने पर भेद सिद्ध होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय होता है। कार्य और कारण का भेद या आश्रिताश्रय भाव हम वेदान्ती स्वीकार नहीं करते, क्योंकि कारण का ही आकार विशेष कार्य है, ऐसा हमारा सिद्धान्त है। और अन्य दूषण यह है कि परमाणुओं के परिछिन्न होने से जितनी दिशाएँ, छः, आठ या दस हैं उतने अवयवों से वे सावयव हो जायेंगी और सावयव होने से वे अनित्य हो जायेंगी। इस प्रकार उनके नित्य त्व और निरवयत्व में बाध होगा। दिशा के भेद से भेद वाले जिन अवयवों की तुम कल्पना करते हो, वे ही मेरे परमाणु हैं, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म के तारतम्य क्रम से परम कारण पर्यन्त विनाश उपपन्न होता है। जैसे द्वि-अणुक आदि की अपेक्षा से अति स्थूल और तुम्हारे मत में वस्तुभूत होती हुई भी पृथ्वी नष्ट होती है उसके अनन्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पृथिवीत्वरूप एक जाति वाले नष्ट होते हैं और तब द्वि-अणुक, वैसे ही परमाणु भी पृथिवीत्वरूप एक जाति वाले होने से नष्ट होंगे। नष्ट होते हुए भी अवयव विभाग से नष्ट होंगे, ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि घृत के काठिन्य-विलयन के समान विनाश उपपन्न है, ऐसा हम कह चुके हैं। जैसे घृत, सुवर्ण आदि जिनके अवयव विभक्त नहीं हो सकते, अग्नि-संयोग से द्रवभाव की प्राप्ति से उनमें भी काठिन्य का विनाश होता है, इसी प्रकार परमाणुओं के भी परमकारण भाव की प्राप्ति होने से उनकी मूर्ति आदि का विनाश होगा। उसी प्रकार कार्य की उत्पत्ति भी केवल अवयव संयोग से ही नहीं होती, क्योंकि अन्य अवयव-संयोग के बिना भी दूध, जल आदि से दही, हिम आदि कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए इस प्रकार परमाणुकारणवाद असारतर तर्कों से रचित है, तथा ईश्वर को कारण कहने वाली श्रुतियों के विरुद्ध है और श्रुतिशरण शिष्ट मनु आदि से परिगृहीत-स्वीकृत नहीं है। अतः अपना श्रेय चाहने वाले सत्पुरुषों को इस परमाणुकारणवाद में अत्यन्त हेय बुद्धि रखनी चाहिए।

(3) सर्वास्तिवादी बौद्धमत का निराकरण

(1) समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः– असत् तर्कों के योग से, वेद के विरोध से और मनु आदि के शिष्टों से स्वीकृत न होने से वैशेषिक सिद्धान्त उपादेय नहीं है ऐसा कहा जा चुका है। वह अर्धवैनाशिक है, इसलिए वैनाशकित्व रूप सादृश्य से सर्ववैनाशिकों का सिद्धान्त अत्यन्त अनुपादेय है, इसका प्रतिपादन करते हैं। प्रतिपत्ति के भेद से या शिष्यों के भेद से वह बहुत प्रकार का है। उस सिद्धान्त में तीन वादी हैं, कोई सर्वास्तित्ववादी है, कोई विज्ञानास्तित्व वादी है, और अन्य सर्वशून्यत्ववादी है। उनमें जो सर्वास्तित्ववादी बाह्य (भूत और भौतिक), आन्तर (चित्त और चैत्त) वस्तुओं को स्वीकार करते हैं,[1] पहले उनके मत का निरसन करते हैं। उनके भूत पृथिवी धातु आदि है। भौतिक रूप आदि और नेत्र आदि है।[2] पृथ्वी आदि के चार प्रकार के परमाणु कठिन, स्नेह, उष्ण और चलन स्वभाव वाले होते हैं, वे पृथिवी आदि भावों के रूप में संचीभूत होते हैं, ऐसा मानते हैं। उसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना संज्ञा और संस्कार नाम के पांच स्कन्ध हैं। वे आध्यात्मिक हैं और सब व्यवहारों के विषय रूप से संचीभूत होते हैं, ऐसा मानते हैं।

इस विषय में कहते हैं – जो यह उभयहेतुकउभय प्रकार के समुदाय बौद्धों को अभिप्रेत है, अणु जिसका हेतु है, ऐसा भूत भौतिक संधात रूप और स्कन्ध

---

1. शंकराचार्य ने सर्वास्तिवादियों के धर्मों (तत्वों) का वर्गीकरण भूत और भौतिक तथा चित्त और चैत्त में किया है। यह वर्गीकरण उन्होंने वसुबन्धु के अभिधर्मकोश और उसकी टीकाओं से लिया है। देखिए आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा अनुवादित अभिधर्मकोश पृष्ठ 117-19। आचार्य जी ने भूत और भौतिक तथा चित्त और चैत्त का विवेचन इन पृष्ठों की टिप्पणियों में अच्छा किया है।
2. तुलनीय
   भूतानि पृथ्वीधातुरप्तेजोवायुधातवः।
   धृत्यादिकर्मसंसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः॥
   वसुबन्धु, अभिचार्यकोश, 1/12
   शंकराचार्य ने 'खरस्नेहोष्णतेरण' इसको ज्यों का त्यों वसुबन्धु के अभिधर्म कोश से ही लिया है। उन्होंने जो भूत और भौतिक का विभाजन किया है वह भी अबिधर्म कोश से ही है। देखिए अभिधर्म कोश नरेंद्र देव द्वारा अनुवादित पृष्ठ 117
   'परमाणु का हमारा लक्षण सुष्ठु है। द्रव्य शब्द का यथायोग मुख्य वृत्या द्रव्य और आयतन है। संघात परमाणुओं के 8 द्रव्यों में (1) चार मुख्यवृत्या द्रव्य अर्थात् चार महाभूत हैं जो भौतिक रूप में आश्रयभूत है। (2) चार आयतन हैं जो महाभूतों के आश्रयीभूत, चार प्रकार के भौतिक रूप हैः रूप, गंध, रस और स्प्रष्टव्य'। यामाकामी सोजन ने शंकाराचार्य के टीकाकारों की व्याख्या को शंकराचार्य का मत समझ लिया और फिर कहा कि शंकराचार्य ने भूल से प्रत्येक परमाणु का एक ही गुण माना है। वास्तव में यहाँ शंकराचार्य ने कोई व्याख्या नहीं दी। अतएव सोजन का दोषारोपण मिथ्या है। देखिए सिस्टम्स आव् बुद्धिष्ट थाट पृष्ठ 122-124।

जिसका हेतु है, ऐसा पाँच स्कन्धरूप उस उभय हेतु तुक समुदाय के मानने पर भी उसकी अप्राप्ति है – समुदाय की अप्राप्ति है समुदाय भाव की अनुपपत्ति है, ऐसा अर्थ है। किससे? इससे कि समुदायी अचेतन है। चित्ताभिज्वलन समुदाय सिद्धि के अधीन है।[1] और अन्य कोई स्थिर चेतन भोक्ता या शासक का संघात कर्ता रूप से स्वीकार नहीं है, अपेक्षा रहित प्रवृत्ति के स्वीकार में तो प्रवृत्ति बंद न होने का प्रसंग आयेगा। आशय[2] का भी संतानी से अन्यरूप से या अनन्य रूप से निरुपण नहीं किया जा सकता। और उसको क्षणिक मानने से व्यापार रहित होने के कारण उसकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होगी। इसलिए समुदाय की अनुपपत्ति है। और समुदाय की अनुपपन्न होने पर उसके आधार पर होने वाली लोक यात्रा लुप्त हो जायेगी।

(2) इतरेतरप्रत्ययत्वादितिचेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वाद्। पूर्वपक्षी–यद्यपि भोक्ता प्रशासिता (शासन करने वाला) कोई स्थिर चेतन संघातकर्ता का स्वीकार नहीं किया गया है, तो भी अविद्या आदि के परस्पर के प्रति कारण होने से लोकयात्रा उपपन्न होगी। और उसके उत्पन्न होने से दूसरे निमित्त की अपेक्षा नहीं है और अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख और दुर्मनस्ता इस प्रकार के परस्पर के कारण रूप वे अविद्या आदि बौद्धसिद्धान्त में कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से दिखलाये गये हैं। अविद्या आदि समुदाय सभी बौद्धों को मान्य हैं। इस प्रकार अविद्या आदि समुदाय के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक होने से घटीयन्त्र के समान सर्वदा प्रवर्तमान होने के कारण उससे संघात उत्पन्न होता है। सिद्धान्ती-यह कथन युक्त नहीं है। क्यों? इसलिए कि वे उत्पत्तिमात्र के निमित्त हैं। यदि संघात का कोई निमित्त ज्ञात होता, तो संघात उपपन्न होता, परन्तु उसका निमित्त अवगत नहीं होता, क्योंकि अविद्या आदि यद्यपि परस्पर

---

1. यामाकामी सोजन कहते हैं कि शंकराचार्य ने यहां बड़ी भूल की है क्योंकि उन्होंने लिखा है कि चित्त पंच स्कन्दों को संगठित करता है। देखिए उनकी पूर्व उद्धृत पुस्तक पृ. 127। किन्तु सोजन का आरोप गलत है। शंकराचार्य सिर्फ यह कहते हैं कि पंच स्कन्धों का संगठन कर्त्ता अचेतन नहीं हो सकता। यदि वे चित्त को ऐसा समझते तो सर्वास्तिवादी की क्यो आलोचना करते?
2. भामती में आशय का अर्थ आलयविज्ञान किया गया है किन्तु जैसा कि यमाकामी सोजन ने लिखा है आलयविज्ञान सर्वास्तिवादियों का सिद्धान्त नहीं है, विज्ञानवादियों का सिद्धान्त है। देखिए सिस्टम्स् आव् बुद्दिस्ट थाट पृ. 129। यह उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ने यहां आशय शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि ड. वेलबल्कर ने कहा है शंकराचार्य ने इस शब्द को हीनयान के किसी ग्रन्थ से लिया है। देखिए उनका ब्रह्मसूत्र आव बादरायण II. I-II पृ. 126। अतः यामाकामी सोजन का यह कहना कि शंकराचार्य आलयविज्ञान को सर्वास्तिवादियों पर मढ़ते हैं, बिल्कुल गलत है। आलयविज्ञान का विकास विज्ञानवाद ने किया, किन्तु इसके बीज हीनयान के ग्रन्थों में भी विद्यमान थे। हम कह सकते हैं कि आशय से ही आलयविज्ञान का विकास हुआ। इसी कारण वाचस्पति मिश्र ने भामती में आशय का अर्थ आलयविज्ञान किया है।

कारणभूत हैं तो भी पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर की केवल उत्पत्ति का निमित्त होता हो, तो हो, परन्तु संघात की उत्पत्ति का कोई निमित्त नहीं हो सकता।[1] अविद्या आदि से संघात गम्यमान होता है, ऐसा कहा है। इस पर कहते हैं–अविद्या आदि संघात के बिना अपने स्वरूप की प्राप्ति न करने से संघात की अपेक्षा रखते हैं; यदि ऐसा अभिप्राय हो, तो उस संघात का निमित्त कहना चाहिए। अणुओं को नित्य मानने और आश्रयाश्रयिभूत भोक्ता को स्वीकार करने पर भी संघात नहीं हो सकता, ऐसा वैशेषिकों की परीक्षा में कहा गया है, तो क्षणिक अणु जो भोक्तृरहित और आश्रयाश्रयिशून्य माने गये हैं, उनमें संघात कैसे हो सकता है? अविद्या आदि ही संघात के निमित्त हैं, ऐसा यदि अभिप्राय हो तो उसका ही आश्रय करके अस्तित्व प्राप्त करने वाले वे उसके ही निमित्त किस प्रकार होंगे? संघात ही अनादि संसार में प्रवाह-रूप से वर्तमान हैं और उनके आश्रय से अविद्या आदि हैं; ऐसा यदि तुम मानते हो, तो भी संघात से अन्य संघात उत्पन्न होने वाला नियम से समान ही उत्पन्न होगा अथवा अनियम से समान या असदृश उत्पन्न होगा? नियम स्वीकार करने से मनुष्य के देवत्व, तिर्यक् योनित्व या नारकीयत्व की शारीरक प्राप्ति का अभाव प्राप्त होगा। अनियम स्वीकार करने से भी मनुष्य शरीर कभी क्षणभर में हाथी होकर देव या पीछे मनुष्य होगा, ऐसा प्राप्त होगा। और ये दोनों ही सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।[2] और जिसके भोग के लिए संघात हो, वह स्थिर भोक्ता नहीं है, ऐसा तुम्हारा मत होने से भोग-भोग के लिए ही होगा, उसी प्रकार मोक्ष मोक्ष के लिए ही होगा, इसलिए अन्य मुमुक्षु होना युक्त नहीं है। यदि भोग और मोक्ष दोनों अन्य से प्रार्थित हों, तो वह भोग और मोक्ष के समय में स्थायी होना चाहिए। परन्तु स्थायी मानने पर क्षणिकत्व के स्वीकार का विरोध आता है।[3] इसलिए अविद्या आदि केवल अन्योन्य की उत्पत्ति

---

1. यामाकामी सोजन ने शंकराचार्य के तर्क को नहीं समझा है। उन्होंने उत्पत्ति-हेतु और संघात-हेतु में घपला किया है। शंकराचार्य ने इन दोनों हेतुओं में भेद किया है। उनकी आलोचना है कि द्वादश निदान का सिद्धान्त उत्पत्ति-हेतु हो सकता है, किन्तु संघात-हेतु नहीं हो सकता। यामाकामी सोजन की भूल को देखिए उनकी पूर्व-उद्धृत पुस्तक पृ० 130–131।
2. यहाँ भी यामाकामी सोजन ने शंकराचार्य के तर्क को नहीं समझा है। सोजन कहते हैं कि जब स्कन्धों के एक प्रकार के बाद दूसरा प्रकार आता है तब उत्तरवर्ती प्रकार पूर्ववर्ती से सर्वथा भिन्न है, संघात-भेद के कारण। देखिए वही पृ० 132। किन्तु संघात कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर सोजन नहीं देते हैं।
3. मोक्ष कों कौन चाहता है? इसका उत्तर यामाकामी सोजन देते हैं–'चित्त (वही पृ० 133)। किन्तु यदि चित्त क्षणिक है तो वह कैसे नित्य साध्य हो सकता है? यामाकामी सोजन ने शकंराचार्य के इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया है। वे कहते हैं कि शंकराचार्य नहीं जानते कि सर्वास्तिवादी चित्त को स्थिर या स्थायी मानते हैं वही पृ० 141। किन्तु चित्त की स्थायी धर्म मानने वाला सर्वास्तिवाद जापानी पंडित यामाकामी सोजन का मत हो सकता है, भारतीय बौद्ध पंडित तो आज भी यही मानते हैं कि चित्त क्षणिक है। राहुल सांकृत्यायन

के लिए ही हों, तो होने दो, परन्तु संघात सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भोक्ता का अभाव है, ऐसा अभिप्राय है।

(3) **उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्**– अविद्या आदि के (परस्पर) उत्पत्तिमात्र के निमित्त होने से संघात की सिद्धि नहीं होती, ऐसा कहा है, परन्तु वे उत्पत्तिमात्र के निमित्त हों, ऐसा भी नहीं हो सकता, यह अब उपपत्ति से प्रतिपादन करते हैं। क्षणभंगवादी का कहना है कि उत्तर क्षण की उत्पत्ति के समय में पूर्वक्षण का नाश होता है।[1] ऐसा स्वीकार करने वाला पूर्व और उत्तर क्षण का कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं कर सकेगा, क्योंकि नष्ट होता हुआ या नष्ट हुआ पूर्वक्षणिक कार्य अभावग्रस्त होने से उत्तरक्षणिक कार्य का हेतु है, ऐसा अभिप्राय हो, तो वैसा मानने पर भी कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि भावभूत के फिर व्यापार की कल्पना करने पर उसका अन्य क्षण के साथ संबन्ध का प्रसङ्ग आता है। यदि भाव ही इसका व्यापार है, ऐसा अभिप्राय है, तो वैसे भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि हेतु-स्वभाव से अनुपरक्त हुए बिना फल की उत्पत्ति संभव नहीं है। स्वभाव से ही उपरक्त होता है, ऐसा स्वीकार करें तो हेतु-स्वभाव फल के काल में स्थायी होने से क्षणभंग के स्वीकार के त्याग का प्रसङ्ग आवेगा अथवा हेतु-स्वभाव से उपरक्त हुए बिना ही फल उत्पन्न होता है, ऐसा कार्यकारणभाव स्वीकार करने से तुम्हारे मत में सर्वत्र उसके प्राप्त होने से अतिप्रसङ्ग होगा। और उत्पाद और निरोध वस्तु का ही स्वरूप हो, या अन्य वस्तु हो, सर्वथा भी उपपन्न नहीं होता। यदि उत्पाद और निरोध शब्दों से मध्यवर्ती वस्तु के आदि और अन्त नाम की अवस्थाएं वाच्य होती हैं, ऐसा कोई एक विशेष है, ऐसा माना जाय, तो ऐसी अवस्था में भी वस्तु का आदि, अन्त और मध्य इन तीन क्षणों के साथ संबन्ध होने से क्षणिकत्व स्वीकार की हानि होती है। यदि अश्व और महिष के समान वस्तु के उत्पाद और निरोध अत्यन्त व्यतिरिक्त हों, तो वस्तु के उत्पाद और निरोध से संस्पृष्ट न होने से उसके शाश्वत होने का प्रसङ्ग आवेगा। यदि वस्तु के दर्शन उत्पाद और अदर्शन निरोध हो, तो ऐसी अवस्था में भी वे द्रष्टा के धर्म होंगे, वस्तु के नहीं, इससे वस्तु के शाश्वत होने का प्रसङ्ग आवेगा ही। इससे भी सौगत मत असंगत है।[2]

ने डा० राधाकृष्णन् की आलोचना दर्शन-दिग्दर्शन में इसीलिए की कि डा० राधाकृष्णन् ने बौद्धों के चित्त को स्थायी मान लिया है। कुछ भी हो, सोजन ने शंकराचार्य की आलोचनाओं से सर्वास्तिवाद को बचाने के लिए सर्वास्तिवाद की गलत व्याख्या कर दी है।

1. इस अर्थ में शंकराचार्य ने सर्वास्तिवाद को वैनाशिकवाद कहा है। किन्तु यामाकामी सोजन ने इस अर्थ को न समझकर यह समझ लिया कि शंकराचार्य मानते हैं कि सर्वास्तिवादी असत्वादी हैं। निश्चय ही यह यामाकामी सोजन की एक भयंकर भूल है। देखिए वही पृ० 130।
2. यहां भी यामाकामी सोजन ने क्षणभंगवाद की गलत व्याख्या करके सर्वास्तिवाद को शंकराचार्य की आलोचनाओं से बचाने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि सर्वास्तिवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु की द्रव्यता नित्य और स्थायी है और जो परिवर्तनशील है वह केवल उस वस्तु की एक विशेष अवस्था है। वही पृ० 134। स्पष्ट है कि सर्वास्तिवादियों को यामाकामी सोजन

(4) असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा– क्षणभंगवाद में पूर्वक्षण निरोधग्रस्त होने से उत्तरक्षण का हेतु नहीं होता, ऐसा कहा जा चुका है। यदि हेतु के रहने पर भी फल की उत्पत्ति कहो, तो प्रतिज्ञा का बाध होगा। चार प्रकार के हेतुओं को प्राप्त कर के चित्त और चैत्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं इस प्रतिज्ञा की हानि होगी और निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर तो प्रतिबन्ध के न होने से सब वस्तु सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगी। उत्तरक्षण की उत्पत्ति तक पूर्वक्षण अवस्थित रहेगा, यदि ऐसा कहो तो हेतु और फल समकालीन हो जायेंगे। तो भी प्रतिज्ञा का बाध होगा ही। सर्व संस्कार क्षणिक है, यह प्रतिज्ञा बाधित होगी।

(5) प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्– वैनाशिक ऐसी कल्पना करते हैं, जो बुद्धि बोध्य, उत्पाद्य और क्षणिक है वह तीन वस्तुओं से भिन्न हैं और उन तीनों को वे प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश कहते हैं। और ये तीन अवस्तुएं अभावमात्र निरुपाख्य हैं, ऐसा मानते हैं। भावों का बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है और उससे विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध है और आवरण का अभाव मात्र आकाश है, ऐसा उनका कथन है। उनमें से आकाश का आगे प्रत्याख्यान करेंगे। इस समय दोनों निरोधों का प्रत्याख्यान करते हैं। प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति संभव नहीं है ऐसा अर्थ है। किससे? अविच्छेद से। ये प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध सन्तानों में होंगे या भावों में होंगे? सन्तान में तो हो नहीं सकते, क्योंकि सर्व सन्तानों में सन्तानियों के कार्यकारण का अविच्छेद होने से संतान का विच्छेद होना संभव नहीं है। इसी प्रकार ये निरोध भावों में भी नहीं हो सकते क्योंकि भावों का निरन्वय निःस्वरूप विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व अवस्थाओं में भी प्रत्यभिज्ञान-बल से अन्वयी का अविच्छेद देखने में आता है। जिनमें प्रत्यभिज्ञान अस्पष्ट है, ऐसी अवस्थाओं में भी कुछ अन्वयी का अविच्छेद देखने में आता है, उससे अन्यत्र भी उसका अनुमान होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कल्पित दोनों निरोध अनुपपन्न हैं।

(6) उभयथा च दोषात्– प्रतिसंख्यानिरोध अन्तर्भूत जो यह अविद्या आदि का निरोध परिकल्पित है, वह परिकरयुक्त सम्यग्ज्ञान से है या स्वतः ही है? प्रथम कल्प में निर्हेतुक विनाश[1] के स्वीकार की हानि होगी, दूसरे कल्प में मार्गोपदेश अनर्थक हो जायगा। इस प्रकार दोनों पक्ष में दोष के प्रसङ्ग से यह दर्शन अयुक्त है।

का यह कथन अमान्य है। परमार्थ-दृष्टि से भी कोई वस्तु नित्य या स्थायी नहीं है –ऐसा सर्वास्तिवादी मानते हैं।

1. यामाकामी सोजन लिखते हैं कि यहाँ शंकर ने एक बड़ी भयंकर भूल की है। निर्हेतुकविनाशवाद बौद्धमत में कहीं मिलता ही नहीं है। देखें वही पृ० 168। किन्तु वास्तव में यामाकामी सोजन को बौद्ध मत का पूर्ण ज्ञान नहीं है। ज्ञानश्री मित्र ने अपने क्षणभंगवाद में चौथा अध्याय अहेतुक विनाशाधिकार रखा है। दे० ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली। क्षणभंगवाद के साथ निर्हेतुक या अहेतुक विनाश लगा हुआ है। कम से कम निर्वाण अहेतुक विनाश है– ऐसा सभी बौद्ध

(7) आकाशे चाविशेषात्– पूर्वोक्त दोनों निरोध और आकाश निरूपाख्य है, ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है। उनके दोनों निरोध निरूपाख्य है, इसका पीछे निराकरण किया जा चुका है। आकाश निरूपाख्य है, इसका अब निराकरण करते हैं। आकाश में (वह निरूपाख्य हैं), ऐसा स्वीकार अयुक्त है, क्योंकि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध में जिस प्रकार वस्तुत्व की प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार उसमें वस्तुत्व की प्रतिपत्ति है, इन तीनों में कोई विशेष नहीं है। प्रथम शास्त्र के प्रमाण से आकाश में वस्तुत्व सिद्ध होता है–''आत्मनः आकाशः सम्भूतः''[1] (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियों से आकाश वस्तु है, ऐसी प्रसिद्धि है। परन्तु जो आगमप्रमाण को नहीं मानते, उनके प्रति आकाश शब्द गुण से अनुमेय है, ऐसा कहना युक्त है, क्योंकि गन्ध आदि गुणों के आश्रयरूप से पृथिवी आदि देखने में आते हैं।[2] और जो आकाश आवरण का अभाव मात्र है,[3] ऐसा मानते हैं, उनके मत में एक पक्षी के उड़ने पर आवरण विद्यमान न होने से उड़ने की इच्छा करने वाले अन्य पक्षी को आकाश नहीं हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। जहाँ पर आवरण का अभाव है, वहाँ पर उड़ेगा, ऐसा कहो, तो जिससे आवरण का अभाव विशिष्ट होता है, वही तब वस्तुभूत आकाश है, केवल आवरण का अभाव मात्र आकाश नहीं है। और आवरण के अभावमात्र को आकाश मानने वाले सौगत को अपने से विरोध होगा, क्योंकि सौगत दर्शन में पृथिवी भगवन 'किं सन्निश्रया'[4] (हे भगवन् पृथिवी किसके आधार पर है?) इस प्रश्न और प्रतिवचन के प्रवाह में पृथिर्वी आदि के अन्त में 'वायु किंसन्निश्रयः', (वायु किसके आधार पर है) इस प्रश्न का प्रतिवचन है–'वायुराकाश सन्निश्रयः (वायु आकाश के आधार पर है), आकाश को अवस्तु मानने पर यह प्रतिबचन नहीं बन सकता। इससे भी आकाश का अवस्तुत्व अयुक्त है और दोनो निरोध और आकाश ये तीनों निरूपाख्य है, अवस्तु हैं और नित्य हैं, यह विरुद्ध हैं। क्योंकि जो अवस्तु है उसमें नित्यत्व नहीं

मानते हैं क्योंकि निर्वाण हेतुफलवाद से परे है। अतएव शंकराचार्य ने बिलकुल ठीक ही निर्हेतुकविनाश को बौद्धों का सिद्धान्त बताया है। यामाकामी सोजन की आलोचना अज्ञानपूर्ण है। उसका प्रयोजन शंकराचार्य को बौद्ध मत से अनभिज्ञ दिखाना है। किन्तु जैसे अन्यत्र शंकराचार्य पूर्वपक्ष को प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत करते हैं वैसे वे बौद्ध मत का भी वर्णन उनके प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। हमें यामाकामी सोजन की आलोचना शरारतपूर्ण लगती है।

1. तैत्तिरीय उपनिषद् 2।1।
2. यामाकामी सोजन कहते हैं कि सर्वास्तवादी आकाश को वस्तु ही मानते हैं, अवस्तु नहीं। अतएव उनके मत से शंकराचार्य की यह आलोचना निराधार है। किन्तु कुछ सर्वास्तिवादी आकाश को अवस्तु मानते हैं। देखिए अभिधर्मकोश, आचार्य नरेन्द्रदेव कृत अनुवाद, पृ० 9 टिप्पणी 3। अतएव शंकराचार्य की आलोचना ठीक है।
3. आकाशनावृत्तिः वसुबन्धु, अभिधर्मकोश 1/5
4. देखिए यशोमित्र की अधिधर्मकोशव्याख्या जो डा० वेलवल्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र अभाव बादरायण टिप्पणी पृ० 151 उद्धृत की है।

घट सकता, क्योंकि धर्म और धर्मी का व्यवहार वस्तु के आश्रय से है और धर्म-धर्मिभाव होने से घटादि के समान वस्तुत्व ही होगा, निरूपाख्यत्व[1] नहीं होगा।

(8) अनुस्मृतेश्च– फिर वैनाशिक सब वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं, इसलिए उनको उपलब्ध की भी क्षणिकता माननी पड़ेगी। परन्तु यह सम्भव नहीं है, अनुस्मृति से। अनुभव अर्थात्, उपलब्धि के पीछे उत्पन्न होने वाला स्मरण ही अनुस्मृति है। उसका और उपलब्धि का एक कर्ता हो, तभी वह अनुस्मृति हो सकती है, क्योंकि एक पुरुष की उपलब्धि के विषय में अन्य पुरुष की स्मृति नहीं देखी जाती है। 'मैंने यह देखा', 'मैं यह देखता हूँ' ऐसी प्रतीति पूर्वोत्तर द्रष्टा एक न हो तो किस प्रकार हो सकती है? और दर्शन और स्मरण का एक कर्ता होने पर 'मैनें यह देखा था', 'मैं यह देखता हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा-प्रतीति प्रत्यक्ष सर्वलोक में प्रसिद्ध है। यदि उन दोनों के भिन्न कर्ता हों तो 'मैं स्मरण करता हूँ' 'आप ने देखा था' ऐसी प्रतीति होगी। परन्तु किसी को भी ऐसी प्रतीति नहीं होती। जब ऐसी प्रतीति होती है, वहाँ दर्शन और स्मरण के भिन्न-भिन्न कर्ताओं को लोग जानते हैं। 'मैं स्मरण करता हूँ', उसने यह देखा। यहाँ तो मैंने यह देखा इस प्रकार से दर्शन और स्मरण का एक ही कर्तारूप से वैनाशिक भी आत्मा को मानते हैं। परन्तु 'मैंने नहीं देखा' ऐसा जो पूर्वदर्शन हुआ है, उसका निषेध नहीं करते जैसे कि अग्नि अनुष्ण है या प्रकाश रहित है, ऐसा अग्नि के उष्णत्व और प्रकाश का निषेध नहीं करते, ऐसी अवस्था में एक का ही दर्शन और स्मरण लक्षण दो क्षणों के साथ सम्बन्ध होने पर वैनाशिक क्षणिकत्व को जो स्वीकार करते हैं, उसकी हानि अपरिहार्य होगी। उसी प्रकार अन्त के उच्छ्वास पर्यन्त एक-एक (प्रतिपत्ति) के पीछे होने वाली आत्मा की ही प्रतिपत्तियों को (आत्मा ही जिनका एक कर्ता है, ऐसी उन प्रतिपत्तियों को) देखते हुए तथा जन्म से लेकर आज तक हुई प्रतिपत्तियों का, आत्मा ही जिनका एक कर्ता है, उनका प्रतिसन्धान करते हुए वैनाशिक क्षणभंगवादी होने से क्यों नहीं लज्जित होते? यदि वे ऐसा कहें कि सादृश्य से ऐसा प्रतिसन्धान होता है, तो उनसे कहना चाहिए कि 'तेन इदं सदृशम्' (यह उसके जैसा है) ऐसा सादृश्य दो के अधीन होने से दो सदृश वस्तुओं का ग्रहीता क्षणभंगवादी के मत में एक न होने से सादृश्य के कारण से यह प्रतिसन्धान ऐसा मिथ्या प्रलाप ही होगा। यदि पूर्व और उत्तर क्षण के सादृश्य का एक ग्रहण करने वाला है, तो एक होने से एक के दो क्षण पर्यन्त अवस्थान से क्षणिकत्व प्रतिज्ञा का बाध होगा। 'तेन इदं सदृशम्' (वह उसके जैसा है) ऐसी अन्य प्रतीति ही है, पूर्व और उत्तर ये दो क्षण ग्रहण निमित्त नहीं हैं, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि तेनइदम् (उसके साथ यह) ऐसे भिन्न पदार्थों का

1. यामाकामी सोजन ने लिखा है कि वास्तव में यहाँ निरूपाख्य के स्थान पर नीरूपाख्य होना चाहिए। नीरूपाख्य का अर्थ है कि रूपरहित। देखिए उनकी पुस्तक पृ० 163। किन्तु यदि हम निरूपाख्य के स्थान पर नीरूपाख्य रख दें, तो भी शंकराचार्य की यह आलोचना गलत नहीं है।

ग्रहण होता है। यदि अन्य प्रतीति ही सादृश्य विषयक हो, तो 'तेनेदं सदृशम्' (यह उसके सदृश है) ऐसा वाक्य प्रयोग अनर्थक होगा। सादृश्यम् (सादृश्य) ऐसा ही प्रयोग प्राप्त होगा। जब लोकप्रसिद्धि पदार्थ का परिग्रहण न करें, तब स्वपक्ष की सिद्धि या परपक्ष का दोष दोनों कहें जाय, तो भी वे यथार्थरूप से परीक्षकों के या अपने बुद्धि-सन्तान में नहीं आवेगे। यह पदार्थ ऐसा ही है, ऐसा जो निश्चित है, वही कहना चाहिए उससे अन्य कहा जाय, तो वह केवल आप बहुप्रलापी हैं, ऐसा सिद्ध करेगा। और सादृश्य से यह व्यवहार है यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वही यह' ऐसा तद्‌भाव का ज्ञान होता है, उसके सदृश यह इस प्रकार तत्सदृशभाव का ज्ञान नहीं होता है। बाह्य वस्तु में विप्रलम्भ के संभव से वही यह है, या उसके तरह है, ऐसा कदाचित् संशय होगा भी, परन्तु उपलब्धा आत्मा में तो वही मैं हूँ या उसके सदृश हूँ, ऐसा संदेह कभी भी नहीं होता, क्योंकि जिसे मैंने अतीत काल में देखा, वही अब मैं स्मरण करता हूँ, ऐसा निश्चित वही होने का ज्ञान होता है। इससे सभी वैनाशिक दर्शन अनुपपन्न है।

(9) **नासतोऽदृष्टत्वात्**– इससे भी वैनाशिक दर्शन अनुपपन्न है, क्योंकि स्थिर, अनुयायी कारण को स्वीकार न करने वालों के मत में अभाव से भाव की उत्पत्ति होगी, ऐसा प्रसङ्ग आवेगा। और ये लोग अभाव से भाव की उत्पत्ति दिखलाते भी हैं–'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (कारण के नाश हुए बिना नहीं, किन्तु कारण के नाश होने पर ही प्रादुर्भाव होने से) विनष्ट बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, तथा विनष्ट दूध से दही उत्पन्न होता है और विनष्ट मृत्तिका के पिण्ड से घट उत्पन्न होता है। कूटस्थ कारण से यदि कार्य उत्पन्न हो, तो विशेष न होने के कारण सब सबसे उत्पन्न होगा। इसलिए अभाव से ग्रस्त हुए बीजादि से अंकुर आदि के उत्पन्न होने से अभाव से भाव की उत्पति होती है, ऐसा वे मानते हैं। इस पर कहते हैं– 'नाऽसतोदृष्टत्वात्', अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता, यदि अभाव से भाव उत्पन्न हो, तो अभावत्व के समान होने से कारण विशेष का स्वीकार अनर्थक हो जायगा। विनष्ट हुए बीजादि का जो अभाव है, उस अभाव में और शशश्रृंग आदि में निःस्वभावत्व की समानता होने से कुछ विशेष नहीं है जिससे कि बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है और क्षीर से ही दही उत्पन्न होता है, इस प्रकार के कारण विशेष का स्वीकार प्रयोजन वाला हो। जिससे विशेष चला गया है, ऐसे अभाव को कारण रूप मानने से शशविषाण आदि से भी अंकुरादि उत्पन्न होंगे, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। यदि जैसे नीलत्व आदि कमल के विशेष हैं, वैसे अभाव का भी विशेष स्वीकार किया जाय, तो विशेष होने से कमल आदि के सामान अभाव को भी भाव होने का प्रसंग आवेगा। और अभाव किसी की उत्पत्ति का हेतु भी नहीं हो सकता, अभाव होने से ही शशविषाण आदि के समान। इसी प्रकार यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती, तो सर्वकार्य अभाव से अन्वित ही होते, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। क्योंकि सब वस्तुएँ अपने-अपने भाव-स्वरूप से ही उपलब्ध होती हैं। मृत्तिका से अन्वित घट आदि पदार्थ तन्तु आदि के विकार हैं, ऐसा कोई नहीं मानता। लोग मृत्तिका के विकारों को ही मृत्तिका से अन्वित हुए भाव-रूप से ग्रहण करते हैं, स्वरूप के नाश के बिना कोई

कूटस्थ वस्तु कारण हों, यह युक्त न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति है, यह युक्त है, ऐसा जो कहा है, वह अयुक्त कहा है, क्योंकि स्थिर स्वभाव वाले प्रत्यभिज्ञायमान सुवर्णादि रूचक आदि के कारण दिखाई देते हैं। जिन बीज आदि में स्वरूप का नाश दिखाई देता है, वहाँ भी नष्ट होती हुई पूर्व अवस्था ही उत्तर अवस्था की कारण मानी जाती है। ऐसा नहीं है, क्योंकि बीज आदि के विनष्ट न हुए अनुयायी अवयव ही अंकुरादि के कारण हैं ऐसा स्वीकार है। इसलिए अविद्यमान शशविषाण आदि से विद्यमान की उत्पत्ति देखने में न आने और विद्यमान सुवर्ण आदि से विद्यमान रूचक आदि की उत्पत्ति देखने में आने से अभाव से भाव की उत्पत्ति है, यह स्वीकार अनुपपन्न है। और चार अधिपति आदि प्रत्ययों से चित्त और चैत्त उत्पन्न होते हैं और परमाणुओं से भूत-भौतिक स्वरूप-समुदाय उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकार करके फिर अभाव से भाव की उत्पत्ति की कल्पना करने वाले और पूर्व स्वीकृत का निषेध करने वाले वैनाशिकों से सब लोक आकुल किया जाता है।

(10) उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः– यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाय, तो ऐसी स्थिति में उदासीन या चेष्टाशून्य जनों के भी अभिमत कार्य की सिद्धि हो जायगी, क्योंकि अभाव सब जगह सुलभ है। किसान के खेत के कार्य में प्रयत्न न करने पर भी उसको अनाज की प्राप्ति हो जायगी और कुम्हार के मृत्तिका के संस्कार में प्रयत्न न करने पर भी बर्त्तन उत्पन्न हो जायगें। और जुलाहे को तन्तुओं का ताना-बाना न करने पर भी बुनने वालों की तरह वस्त्र का लाभ होगा। और स्वर्ग और अपवर्ग के लिए कोई भी किसी प्रकार का प्रयत्न न करेगा। यह युक्त नहीं है और कोई ऐसा मानता भी नहीं है। इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति अनुपपन्न है।

4. बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण

(1) नाभाव उपलब्धेः– इस प्रकार बाह्यार्थवाद का आश्रय करके समुदाय की अप्राप्ति आदि दूषणों के प्रकट किए जाने पर अब विज्ञानवादी बौद्ध विवाद के लिए उपस्थित होता है। कितने ही शिष्यों का बाह्य अर्थों में अभिनिवेश देखकर उनके अनुरोध से यह बाह्यार्थवादी की प्रक्रिया रची गई है। वास्तव में यह सुगत का अभिप्राय नहीं है। उनको तो केवल विज्ञान स्कन्धवाद ही इष्ट है। उस विज्ञानवाद के बुद्धि में आरूढ़ होने से प्रमाण, प्रमेय, फल रूप अन्तस्थ सब व्यवहार उपपन्न होते हैं, क्योंकि बाह्य अर्थ के होने पर भी बुद्धि में आरूढ़ हुए बिना प्रमाण आदि व्यवहार नहीं हो सकते।[1] परन्तु यह कैसे समझा जाता है कि सब व्यवहार अन्तःस्थ ही हैं और विज्ञान से भिन्न बाह्य अर्थ नहीं है? उसका स्वभाव न होने से, ऐसा

---

1. यहां शंकराचार्य ने दिग्नाग की आलंबनपरीक्षा के निम्नश्लोक के शब्दों का प्रयोग किया है–
असत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारूढेन सिद्धयति।
वासना शब्दभेदोत्थविकल्पप्रविभागतः।
आलंबनपरीक्षा इस समय मूल संस्कृत में अनुपलब्ध सूत्र है। तिब्बती भाषा में वह उपलब्ध है। अय्यास्वामी शास्त्री ने मैसूर से उसका संस्कृतानुवाद प्रस्तुत किया है।

कहते हैं।[1] क्योंकि बाह्य पदार्थ माना जाय तो वह परमाणु-रूप होगा अथवा परमाणु समूह स्तम्भ आदि रूप होगा। उसमें परमाणु स्तम्भादि के ज्ञान से परिच्छेद्य-ज्ञान के विषय नहीं हो सकते, क्योंकि अतीन्द्रिय होने से परमाणु जिसमें आभास आकार हों, ऐसा ज्ञान अनुपपन्न है। उसी प्रकार बाह्य अर्थ में स्तम्भादि उसमें (परमाणुओं के) समूह भी नहीं है, क्योंकि उनका परमाणुओं से अन्य रूप या अनन्य रूप से निरूपण नहीं किया जा सकता।[2] इसी प्रकार जाति आदि का भी प्रत्याख्यान करना चाहिए। और अनुभव मात्र से सब विषयों में साधारण स्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तो स्तम्भ-ज्ञान, कुड्यज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान, ऐसा जो प्रतिविषय पक्षपात होता है, वह ज्ञानगत विशेष के बिना नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञान में विषय का सादृश्य है, ऐसा अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए। और ज्ञान में विषय के सारूप्य का अङ्गीकार करने पर विषय के आकार के ज्ञान से ही अवरुद्ध होने से बाह्य अर्थ का सद्भाव है ऐसी कल्पना निरर्थक है। और विषय और विज्ञान की एक ही साथ उपलब्धि होती है, इस नियम से उनका अभेद प्राप्त होता है[3] क्योंकि उन दोनों मे से–ज्ञान और ज्ञेय में से एक की उपलब्धि न होने पर अन्य की उपलब्धि नहीं होती हैं और दोनों के स्वभाव-स्वरूप के भिन्न होने पर यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्ध का कारण नहीं है। इससे भी अर्थ का अभाव है और स्वप्नादि के समान यह समझना चाहिए। जैसे स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदि के ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्य और ग्राहक के आकार में परिणत होते हैं, उसी प्रकार जाग्रदवस्था में होने वाले स्तम्भ आदि ज्ञान भी हो सकते हैं, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि दोनों

---

1. तुलनीय
   येन येन विकल्पेन यद्‌यद्वस्तु विकल्प्यते।
   परिकल्पित एवासौ स्वाभावो न स विद्यते।
   बसुबन्धु, त्रिंशिका 20।
   न ग्राह्यग्राहकाकारबाह्यमस्ति च लक्षणम्।
   अतो लक्षणशून्यत्वान् निःस्वभावाःप्रकाशिताः।
   धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक 3।215
2. तुलनीय
   न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
   न च ते संहता यस्मात् परमाणु र्न सिध्यति॥
   परमाणोरसंयोगे तत्संघातेऽस्ति कस्य सः।
   न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिद्धयति।
   वसुबन्धु, विंशतिका 11, 13
3. **सहोपलभंनियमादभेदो नीलतद्धियोः।**
   भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।
   – धर्मकीतिकृत प्रमाणवार्तिक

समान रूप से प्रत्यय हैं।[1] परन्तु बाह्य अर्थ के अभाव में प्रत्ययों की विचित्रता किस प्रकार उपपन्न होती है? वासनाओं की विचित्रता से होती है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि अनादि संसार में बीज और अंकुर के समान विज्ञानों और वासनाओं के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से उनकी विचित्रता का निषेध नहीं किया जा सकता है और अन्वय और व्यतिरेक से ज्ञानवैचित्र्य वासना-निमित्त ही समझा जाता है, क्योंकि स्वप्नादि में अर्थ के अभाव में भी ज्ञान-वैचित्र्य वासना-निमित्तिक ही है, ऐसा हम दोनों स्वीकार करते हैं और वासना के बिना अर्थ-निमित्त ज्ञान-वैचित्र्य है, ऐसा तो मैं स्वीकार नहीं करता, इससे भी बाह्य अर्थ का अभाव है।[2]

सिद्धान्ती– ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं– नाऽभावः उपलब्धेः।[3] बाह्य अर्थ के अभाव का निश्चय करना अशक्य है। किससे? इससे कि उसकी उपलब्धि होती है, प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, कुड्य, घट, पट, ऐसे बाह्य अर्थ उपलब्ध होते हैं और जो उपलभ्यमान है, उसका भी अभाव हो, यह युक्त नहीं है। जैसे कोई पुरुष भोजन करता हुआ भोजन-साध्य तृप्ति का स्वयं अनुभव करता हुआ यह कहे कि मैं भोजन नहीं करता, और मैं तृप्त नहीं होता, वैसे ही इन्द्रिय-सन्निकर्ष से स्वयं बाह्य पदार्थ का अनुभव करता हुआ मैं बाह्य अर्थों का अनुभव नहीं करता और वह अर्थ नहीं है, ऐसा कहते हुए पुरुष का वचन उपादेय कैसे हो सकता है? परन्तु कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता, ऐसा मैं नहीं कहता, किन्तु उपलब्धि के अतिरिक्त अर्थ उपलब्ध नहीं होता, ऐसा कहता हूँ। निःसन्देह तुम ऐसा कहते हो, क्योंकि तुम्हारा मुँह निरंकुश है। परन्तु जो तुम कहते हो वह युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ की उपलब्धि से भेद भी बलात् स्वीकार करना पड़ेगा, उपलब्धि से ही। क्योंकि कोई भी उपलब्धि

---

1. तुलनीय

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा स च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्॥
उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः स्मरणंततः।
स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाऽप्रबुद्धोऽवगच्छति॥
अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः।
सिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्।

वसुबन्धु, विंशतिका 16-18

2. तुलनीय ग्राहद्वयवासना की व्याख्या जिसे स्थिरमति ने वसुबन्धु की विंशितिका के 19वें श्लोक में की है।

ग्राहद्वयम्। ग्राह्यग्राहो ग्राड्कग्राहश्च। तत्र विज्ञानात् पृथगेव स्वसंतानाध्यासितं ग्राह्यमस्तीति अध्यवसायो ग्राह्यग्राहः। तच्च विज्ञानेन प्रतीयते विज्ञायते गृह्यते इति योऽयं निश्चयः स ग्राहकग्राहः। पूर्वोत्पन्नग्राह्यग्राहकाक्षिप्तम् अनागतज्ञातीयग्राह्यग्राहकग्राहोत्पत्तिबीजं ग्राहद्वयवासना॥

3. यहाँ पर विज्ञप्तिमात्रता का खंडन है। यह खंडन वसुबन्धु की विंशतिका विज्ञप्तिमात्रता के प्रति उद्दिष्ट है।

को ही स्तम्भ या कुड्य रूप से उपलब्ध नहीं करता। परन्तु स्तम्भ, कुड्य आदि को उपलब्धि के विषय-रूप से ही सब लोग जानते हैं। और इससे भी सब लोग इसी प्रकार से उपलब्धि करते हैं। बाह्य अर्थों का प्रत्याख्यान करते हुए भी उनका ऐसा व्याख्यान करते हैं कि जो अन्तः ज्ञेय रूप है, उनका बहिर्वत् अवभास होता है,[1] वे भी सर्वलोक प्रसिद्ध बाहर अवभास होती हुई उपलब्धि को मानते हैं और बाह्य अर्थ का प्रत्याख्यान करते हुए 'बहिर्वत्' इस प्रकार 'वत्' का प्रयोग करते हैं। नहीं तो बर्हिवत्, ऐसा वे क्यों कहते? विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र-सा भासता है, ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिए अनुभव के अनुसार तत्व स्वीकार करने वालों को बाह्य अर्थ का ही अवभास होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए और बर्हिवत् भासता है, ऐसा स्वीकार युक्त नहीं है। परन्तु बाह्य अर्थ के असम्भव से बहिर्वत् भासता है, ऐसा निश्चय किया गया है, यह निश्चय साधु नहीं है, क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति से सम्भव का और प्रमाण की अप्रवृत्ति से असम्भव का निश्चय किया जाता है, संभव और असम्भव से प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का निश्चय नहीं किया जाता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से एक प्रमाण से जो उपलब्ध होता है, वह संभव होता है। और जो किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता है, वह संभव नहीं होता है। यहाँ तो स्वभाव के अनुसार सब दो से भेद सिद्ध होता है और एक से दो का भेद सिद्ध होता है, इसलिए अर्थ और ज्ञान का भेद है। वैसे ही घट-दर्शन और घट-स्मरण इसमें भी समझना। यहाँ भी दर्शन और स्मरण जो विशेष्य हैं, उनका ही भेद है, विशेषण घट का भेद नहीं है। जैसे कि क्षीर गन्ध, क्षीर रस, इनमें विशेष्य गन्ध और रस का ही भेद है, विशेषण क्षीर का भेद नहीं है। और पूर्वकालीन और उत्तरकालीन ये दो विज्ञान स्वसंवेदन से ही उपक्षीण हो जाते हैं, अतः इनमें परस्पर ग्राह्य-ग्राहक भाव हों, यह युक्त नहीं है। अतः विज्ञान-भेद की प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्मों की प्रतिज्ञा, स्वलक्षण प्रतिज्ञा, सामान्यलक्षण प्रतिज्ञा, वास्यवासकत्व प्रतिज्ञा, अविद्या के संसर्ग से सदसद्धर्म प्रतिज्ञा और बन्ध-मोक्ष आदि प्रतिज्ञा जो स्वशास्त्र में हैं, उन सबकी हनि होगी। और दूसरी बात, विज्ञान, विज्ञान इस प्रकार प्रमाणों से बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है, तो व्यतिरेक और अव्यतिरेक आदि विकल्पों[2] से वह सम्भव नहीं है, ऐसा विकल्प कैसे किया जा सकता है?

---

1. **यदन्तर्ज्ञेयरूपं हि बर्हिवदवभासते।**
   सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्ययतयापि च।
   दिग्नागकृत आलम्बनपरीक्षा 6।
   देखिए अय्यास्वामी शास्त्री संपादित धर्मपाल की टीका सहित दिग्नाग की स्ववृत्तिसहितआलंबनपरीक्षा।
2. यहाँ चतुष्कोटिकन्याय प्रणाली का संकेत किया गया है। व्यतिरेक, अव्यतिरेक, उभय और अनुभय ये चार विकल्प हैं। आदि शब्द से यहाँ अन्तिम दो विकल्पों का बोध कराया गया है।

क्योंकि उपलब्ध होता ही है। और ज्ञान में विषय का सारूप्य होने से विषय का नाश हो जाता है क्योंकि विषय के अभाव में विषय का सारूप्य सम्भव नहीं है, और विषय बाहर उपलब्ध होता है। इसलिए ज्ञान और विषय एक साथ उपलब्ध होते हैं, यह नियम भी उपायोपेयभावहेतुक है, अभेदहेतुक नहीं है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। और घट-ज्ञान, पट-ज्ञान इनमें घट और पट विशेषणों का ही भेद है, विशेष्य ज्ञान का भेद नहीं है। जैसे शुक्ल गाय, कृष्ण गाय, इसमें शुक्लत्व और कृष्णत्व का ही भेद है, गोत्वका भेद नहीं है। एक का स्वीकार करते हुए तुम स्तम्भ, कुड्य आदि बाह्य अर्थ को स्वीकार क्यों नहीं करते? यह तुम्हें कहना चाहिए। विज्ञान का अनुभव होता है, ऐसा यदि कहो, तो बाह्य अर्थ का भी अनुभव होता ही है, ऐसा स्वीकार करना उचित है। विज्ञान प्रकाशात्मक होने से प्रदीप के समान स्वतः ही बुद्धि में जैसे आरूढ़ होता है, उस प्रकार बाह्य अर्थ अनुभव में आरूढ़ नहीं होते, ऐसा यदि कहो, तो अग्नि आत्मा को जलाती है, इसके समान अपनी आत्मा में अत्यन्त विरुद्ध क्रिया को स्वीकार करते हो। परन्तु अपने से (वस्तु से) व्यतिरिक्त ज्ञान से बाह्य अर्थ अनुभव में आता है, ऐसी अविरुद्ध और लोक-प्रसिद्ध बात को तुम नहीं मानते, अहो! तुमने महान् पाण्डित्य दिखलाया। अर्थ से अतिरिक्त भी विज्ञान अपने आप ही अनुभव में आता है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि अपने में क्रिया का विरोध है ही। परन्तु विज्ञान अपने से अतिरिक्त से ग्राह्य हो, तो वह भी अन्य से ग्राह्य होगा और वह भी अन्य से, इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होती है। और ज्ञान के प्रदीप के समान अवभासात्मक होने से ज्ञान के अन्य ज्ञान की कल्पना करने वाले के मन में दोनों ज्ञानों के समान होने से उनमें अवभास्य भाव और अवभासक भाव उत्पन्न न होगा। अतः कल्पना अनर्थक होगी। ये दोनों शङ्काएं ठीक नहीं है, क्योंकि विज्ञान के ग्रहण मात्र में विज्ञान साक्षी के ग्रहण की आकांक्षा के उत्पन्न न होने से अनवस्था की शङ्का नहीं होती है, साक्षी और ज्ञान ये स्वभाव से विषय हैं, अतः उन दोनों में उपलब्धा और उपलभ्य का भाव उपपन्न होता है और स्वयंसिद्ध साक्षी का प्रत्याख्यान करना युक्त नहीं है। और दूसरी बात, प्रदीप के समान विज्ञान को अन्य अवभासक की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं ही प्रकाशित होता है ऐसा कहने से विज्ञान अप्रमाणगम्य है और इसका ज्ञाता नहीं है, ऐसा युक्त होगा, शिलाघन के मध्य में स्थित सहस्र प्रदीप के प्रकाश के समान। यह ठीक है, परन्तु विज्ञान के अनुभव-रूप होने से हमारा अभिमत पक्ष तुमने मान लिया, ऐसा यदि कहो, तो वह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि नेत्र जिसका साधन है, ऐसे अन्य ज्ञाता को प्रदीप आदि का ज्ञान होता है, ऐसा देखने में आता है। इसलिए विज्ञान भी प्रदीप के समान अवभास्य है, इसमें कोई विशेष नहीं है। अतः किसी अन्य ज्ञाता के रहने पर ही उसका प्रकाश प्रदीप के समान होता है, ऐसा समझा जाता है। साक्षी ज्ञाता स्वयंसिद्ध है, ऐसा निर्देश करते हुए तुमने 'विज्ञान स्वतः प्रकाशित

होता है' मेरे पक्ष का ही वाचोयुक्ति विशेष से आश्रयण किया है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि विज्ञान में उत्पत्ति, नाश, अनेकत्व इत्यादि विशेष हैं ऐसा मेरा मत है। इसलिए प्रदीप के समान विज्ञान भी स्वभिन्न से ज्ञेय है, ऐसा हमने सिद्ध किया है।

(2) **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**– स्वप्न आदि अवस्था के ज्ञान के समान जाग्रद वस्था में हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थ में बिना ही हों, यह युक्त है क्योंकि दोनों में प्रत्ययत्व समान है, ऐसा बाह्य अर्थ के निषेध करने वाले ने जो कहा है उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। उस पर कहते हैं – स्वप्न आदि के ज्ञान के समान जाग्रदवस्था का ज्ञान हो, यह युक्त नहीं है। किससे? वैधर्म्य होने से। क्योंकि स्वप्न और जाग्रदवस्था के प्रत्यय में वैधर्म्य है। परन्तु वह वैधर्म्य क्या है? बाध और अबाध, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि स्वप्न में उपलब्ध हुई वस्तु जाग्रत हुए को बाधित होती है। महाजन-समागम की मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है, मुझे महाजन समागम हुआ नहीं, परन्तु मेरे मन के निन्द्रा से ग्लानियुक्त होने से मुझे यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। उसी प्रकार मायादि में यथायोग्य बाध होता है। परन्तु जाग्रदवस्था में उपलब्ध हुई स्तम्भ आदि वस्तु किसी भी अवस्था में इस प्रकार बाधित नहीं होती। और जो स्वप्न में दर्शन है, वह स्मृति है, और जो जाग्रदवस्था में दर्शन है वह उपलब्धि है। स्मृति और उपलब्धि में प्रत्यक्ष-भेद स्वतः अनुभव में आता है, वह यह कि प्रथम में अर्थ का विप्रयोग है और दूसरे में सम्प्रयोग है। इष्ट पुत्र का स्मरण करता हूँ, उसको उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध करना चाहता हूँ, इस प्रकार ऐसी स्थिति में दोनों उपलब्धियों के अन्तर का स्वयं अनुभव करता हुआ ऐसा नहीं कह सकता कि जाग्रदवस्था की उपलब्धि मिथ्या है, उपलब्धि होने से, स्वप्न की उपलब्धि के समान। जो अपने को प्राज्ञ मानते हैं, उन पुरुषों को अपने अनुभव का निषेध करना युक्त नहीं है। और अनुभव के साथ विरोध होने के भय से जाग्रदवस्था के प्रत्यय स्वयं निराधार हैं, ऐसा कहने में असमर्थ स्वप्न-प्रत्ययों के समान ये प्रत्यय हैं, इस प्रकार साधर्म्य से जाग्रदवस्था के प्रत्यय निराधार हैं, ऐसा कहना चाहता है। परन्तु जो जिसका स्वतः धर्म नहीं हो सकता, वह अन्य के साधर्म्य से उसका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि अग्नि उष्ण है ऐसा अनुभव होता है, वह उक्त साधर्म्य से शीत नहीं हो सकती। स्वप्न और जाग्रदवस्था का वैधर्म्य तो दिखला चुके हैं।

(3) **न भावोऽनुपलब्धेः**– अर्थ के बिना भी वासना-वैचित्र्य से ही ज्ञान-वैचित्र्य हो सकता है, ऐसा जो कहा गया है, उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। इस विषय में कहा जाता है–वासनाओं की सत्ता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारे पक्ष में बाह्य अर्थों की अनुपलब्धि है। अर्थ की उपलब्धि से प्रत्येक अर्थ में भिन्न-भिन्न रूपवाली वासनाएं होती हैं। यदि अर्थ अनुपलभ्यमान हों, तो विचित्र वासनाएं किस कारण से होंगी? वासना अनादि हैं, ऐसा मानने पर भी अन्धपरम्परा से व्यवहार का लोप करने वाली निर्मूल अनवस्था ही होगी, अभिप्राय सिद्ध न होगा। बाह्य अर्थ का निषेध करने वाले ने वासना-निमित्तक यह ज्ञान समूह है, अर्थनिमित्तक नहीं, इसकी सिद्धि के लिए जो

अवय-व्यतिरेक का उपन्यास किया है, ऐसा होने पर उसका भी निराकरण किया हुआ समझना चाहिए, क्योंकि अर्थ की उपलब्धि के बिना वासना उपपन्न नहीं होती। और वासना के बिना भी अर्थ की उपलब्धि प्राप्त होती है। और अर्थोपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति का स्वीकार न होने से अन्वय-व्यतिरेक भी अर्थ के अस्तित्व का ही प्रतिष्ठापन करते हैं। और वासना संस्कार विशेष है और आश्रय के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा लोक में देखा जाता है और तुम्हारे मत में वासना का कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से अनुपलब्ध है।

(4) क्षणिकत्वाच्च– आलयविज्ञान की वासनाओं के आश्रयरूप से जो परिकल्पना की गई है, वह भी क्षणिकत्व के स्वीकार से अस्थिर स्वरूप होने से प्रवृत्ति-विज्ञान के समान वासनाओं का आधार नहीं हो सकता है। तीनों काल के साथ संबन्ध रखने वाला एक अन्वयी सर्वार्थदर्शी कूटस्थ-स्थिर न हो, तो देश-काल-निमित्त की अपेक्षा से जो वासनाओं का अधीन होता है वह और इनके अधीन स्मृति, प्रतिसंन्धान आदि व्यवहार नहीं होंगे। आलयविज्ञान को स्थिर स्वभाव मानने में तो सिद्धान्त की हानि होगी। और विज्ञानवाद में भी क्षणिकत्व का स्वीकार समान होने से बाह्य विवाद में क्षणिकत्व के आधार पर रहने वाले 'उत्तरोत्पादेचपूर्वनिरोधात्' इत्यादि जो दूषण प्रकाशित किये गये हैं, उनका यहाँ भी अनुसन्धान करना युक्त है। इस प्रकार बाह्यार्थवाद पक्ष और विज्ञानवाद पक्ष इन दोनों वैनाशिकों (बौद्धो) के पक्षों का निराकरण किया गया। शून्यवादि पक्ष तो सब प्रमाणों से विरुद्ध हैं, अतः इसका निराकरण करने के लिए आदर नहीं किया जाता, क्योंकि बिना किसी एक तत्त्व को माने ज्ञान सर्वप्रमाण-सिद्ध लोक व्यवहार का अपलाप नहीं किया जा सकता।[1]

---

1. डा० चन्द्रधर शर्मा ने प्रतिपादित किया है कि शंकराचार्य ने केवल न्यायानुसारी या स्वतन्त्र विज्ञानवाद का खंडन किया है जिसको दिग्नाग और धर्म कीर्ति तथा शान्तरक्षित ने प्रस्तावित किया है और असंग तथा वसबुन्ध के आगमानुसारी विज्ञानवाद का खंडन नहीं किया है। देखिए बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृष्ठ 165।

   किन्तु शंकराचार्य ने आलय-विज्ञान और विज्ञप्तिमात्रता का भी खंडन किया है। ये मत बसुबन्धु और असंग के हैं। अतः उन्होंने प्राचीन या आगमानुसारी विज्ञानवाद का भी खंडन किया है।

   पुनश्च आधुनिक विद्वानों ने प्रायः कहा है कि शंकराचार्यकृत विज्ञानवाद की आलोचना अद्वैतवेदान्तानुसारी नहीं है। इस लोचना में उन्होंने बाह्यार्थ का अस्तित्व अर्थात् जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया है। किन्तु यह स्वीकारोक्ति अद्वैतवेदान्त के मायावाद के विपरीत है। अतएव यह आलोचना न्यायदर्शन के अनुसार है।

   इस पर हमारा कहना है कि शंकराचार्यकृत विज्ञानवाद की आलोचना सर्वथा अद्वैतवेदान्त के अनुकूल है। इस पक्ष में हम तीन तर्क देते हैं। (1) शंकराचार्य विज्ञानों से भिन्न कम से कम एक वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। यह सत्ता उनके मत से ब्रह्म या आत्मा है। विज्ञानवादी ऐसी अर्थात् विज्ञान से भिन्न किसी सत्ता को नहीं मानते हैं।

अपवाद या निषेधात्मक उदाहरण सामान्य नियम के अभाव होने पर प्रसिद्ध होता है।

(5) **सर्वथानुपपत्तेश्च**– बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? सब प्रकार से ज्यों-ज्यों यह वैनाशिक समय उपपन्न है या नहीं? ऐसा विचार करते हैं त्यों-त्यों रेती में बनाये गये कुएं के समान विदीर्ण ही होता है उसमें हम कुछ भी उपपति नहीं देखते। इससे भी वैनाशिक शास्त्र अनुपपन्न है। और बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर विरुद्ध इन तीन वादों का उपदेश करते हुए सुगत ने अपनी असम्बद्ध प्रलापिता प्रकट की है। और विरुद्ध अर्थ के ज्ञान से ये प्रजाएं विमूढ़ हों, ऐसा प्रजाओं के प्रति अति विद्वेष प्रकट किया है, इसलिए कल्याण चाहने वाले को इस सुगत-सिद्धान्त का सर्वथा अनादर करना चाहिए, ऐसा अभिप्राय है।[1]

5. जैन आनेकान्तवाद का निराकरण

(1) **नैकस्मिन्नसम्भवात्**– सुगत के सिद्धान्त का निरसन किया जा चुका है, अब जैन सिद्धान्त का निराकरण करते हैं। इनके मत में सात पदार्थ हैं, जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में तो जीव और अजीव नाम के ही पदार्थ हैं, क्योंकि दूसरों का इन दों में ही यथायोग्य अन्तर्भाव होता है, ऐसा वे मानते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलस्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय उन दो का दूसरा प्रपञ्च है ऐसा वे कहते हैं। उन सब के बहुत प्रकार के अवान्तर भेद जो प्रमाण और युक्ति से शून्य अपने शास्त्र में परिकल्पित हैं, उनका वर्णन करते हैं। और सर्वत्र यह सप्तभंगीनय नाम के न्याय को प्रवृत्त करते हैं,– 'स्यादस्ति' (किसी प्रकार से है), 'स्यान्नास्ति' (किसी प्रकार से नहीं है) 'स्यादस्ति च नास्तिच

---

(2)शंकराचार्य बाह्य अर्थ को अनिर्वचनीय मानते हैं। बाह्य अर्थ सत् और असत् से विलक्षण है। विज्ञानवादी बाह्य अर्थ को असत् मानते हैं। इस प्रकार शंकर और विज्ञानवादियों में भेद है। अतः शंकर ने अपने सिद्धान्तों के अनुसार ही उनकी आलोचना की है। (3) फिर अन्त में हमें यह न भूलना चाहिए कि शंकराचार्य की आलोचना विरोधपरिहार के लिए है। वह दोष-दर्शन या छिद्रान्वेषण के लिए नहीं है। यदि उसको हम परमतानुसारी मानें तो वह फिर छिन्द्रान्वेषण के लिए ही होगी।

1. स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने यहाँ शून्यवाद की भी आलोचना की है। वे शून्यवाद को सभी प्रमाणों से विप्रतिषिद्ध या असिद्ध मानते हैं। फिर भी मध्वाचार्य ने कहा है कि शंकर का ब्रह्म वही हैं जो माध्यमिक बौद्धों का शून्य है। और अनेक वैष्णव आचार्यों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। किन्तु शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा जा सकता है। इसके लिए देखिए हमारी 'भारतीय दर्शन की कहानी', अध्याय 6।

   और तुलनीय श्रीमद्भागवत की निम्नलिखित पंक्तियाँ–

   ततो कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
   बुद्धो नाम्ना जनसुतः कीकटेपु भविष्यति॥

   भागवत 1।3।24

   बुद्ध का अवतार प्रजा को सम्मोहित करने के लिए हुआ था– यह आधुनिक हिन्दू धर्म का मत है। इस मत का मूल स्रोत शंकराचार्य का यही वचन है।

(किसी प्रकार से है और नहीं है), 'स्यात् अवक्तव्यः' (किसी प्रकार से अवक्तव्य है) 'स्यादास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकार से है और अवक्तव्य है) 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकार से नही है और अवक्तव्य है), स्यादस्ति चन्नास्ति चावक्तव्यश्च' (किसी प्रकार से है और नहीं है और अवक्तव्य है) इसी प्रकार एकत्व, नित्यत्व आदि में भी इस सप्तभंगीनय की योजना करते हैं।

सिद्धान्ती– इस पर कहते हैं कि यह स्वीकार युक्त नहीं है। किससे? इससे कि एक में सम्भव न होने से। एक धर्मी में एक ही समय में सत्व, असत्व आदि विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं हो सकता, शीत और उष्ण के समान। जो ये सात पदार्थ इतने और ऐसे रूप के, इस प्रकार निर्धारित हैं, वे वैसे ही प्रकार के हों, या न हों, क्योंकि नहीं तो वैसे प्रकार के हों, या वैसे प्रकार के न हों, ऐसा अनिर्धारित ज्ञान संशयज्ञान के समान अप्रमाण ही होगा। परन्तु वस्तु अनेकात्मक है, ऐसा निर्धारित रूप ही ज्ञान उपलब्ध होता है, वह संशयज्ञान के समान अप्रमाण हो, यह युक्त नहीं है। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि सब वस्तुओं में निरंकुश अनेकान्तत्व की प्रतिज्ञा करने वाले के मत में निर्धारण के भी वस्तुत्व के समान होने से 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति'[1] (किसी प्रकार से है, किसी प्रकार से नहीं है) इत्यादि विकल्प की प्रवृत्ति होने से वह भी अनिर्धारणात्मक ही होगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का भी पक्ष में अस्तित्व होगा और पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसी अवस्था में प्रमाणभूत होकर भी तीर्थङ्कर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के निर्धारित न होने पर किस प्रकार उपदेश करने में शक्तिमान् होंगे। उनके अभिप्राय के अनुसारी शिष्य उनसे उपदिष्ट अनिर्धारित रूप में किस प्रकार प्रवृत्त होंगे, क्योंकि निश्चित फल का निर्धारण होने पर ही उसके साधन के अनुष्ठान के लिए सब लोग अनाकुल होकर प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए जिसका अर्थ निर्धारित नहीं है, ऐसे शास्त्र की रचना करने वाले का वचन मत्त और उन्मत के समान ग्राह्य न होगा। वैसे ही पांच अस्तिकायों की पंचत्व संख्या है या नहीं, ऐसा विकल्प होने पर एक पक्ष में होगी और अन्य पक्ष में न होगी, इससे न्यून संख्यात्व

---

1. याकोबी ने प्रतिपादित किया है कि ब्रह्मसूत्र 28-32 शून्यवाद का खंडन करते हैं, न कि विज्ञानवाद का। इन सूत्रों की वृत्ति शबरभाष्य के वृत्तिकारग्रन्थ में दी गयी है।
देखिए जर्नल आव् द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी भाग 31 सन् 1911 में उनका लेख– दी डेट आवं ब्रह्मसूत्रास। याकोबी का यह भी कहना है कि ब्रह्मसूत्रों में विज्ञानवाद का खंडन नहीं था। शंकराचार्य के समय में विज्ञानवाद का विशेष प्रचार था और शून्यवाद का पतन था। अतः शंकराचार्य ने इन सूत्रों को विज्ञानवाद की आलोचना समझ लीं। डा० श्रीकृष्णपाद वेलकर का कहना है कि वास्तव में ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने यहाँ महायान-दर्शन की आलोचना की है और विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों महायान के अन्तर्गत हैं। बादरायण के समय में विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर पृथक् नहीं हुए थे। देखिए द ब्रह्मसूत्रास आव् बादरायण, स्मृतिपाद तथा तर्कपाद, टिप्पणियां।

या अधिकसंख्यात्व प्राप्त होगा। और ये पदार्थ अवक्तव्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवक्तव्य हों, तो नहीं कहे जायेंगे, परन्तु कहे जाते हैं और अवक्तव्य है, यह विरुद्ध हैं। और कहे जाते हुए ये पदार्थ उसी प्रकार से अवधारित होते हैं और नहीं होते। उसी प्रकार उनका अवधारण फल सम्यग् दर्शन है, या नहीं, उसी प्रकार उससे उलटा असम्यग् दर्शन भी है, या नहीं, ऐसा प्रलाप करता हुआ (अर्हत्) मत्तोन्मत्त पक्ष का होगा, आप्त पक्ष का नहीं होगा। और किसी पक्ष में स्वर्ग और मोक्ष का अभाव और किसी पक्ष में भाव प्राप्त होगा, उसी प्रकार किसी पक्ष में नित्यता और किसी पक्ष में अनित्यता प्राप्त होगी। इस प्रकार अनिश्चित होने से उसमें प्रवृत्ति अनुपपन्न होगी। उसी प्रकार अनादि सिद्ध, जीवादि जिनका स्वभाव अपने शास्त्र में निश्चित किया है, वे उस प्रकार से निश्चित स्वभाव वाले नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार जीवादि पदार्थों में एक धर्म में सत्व और असत्व इन विरुद्ध धर्मों का संभव न होने से, सत्व-रूप एक धर्म में अन्य धर्म-असत्व का संभव न होने से और इसी प्रकार असत्व का सत्व में संभव न होने से भी यह आर्हत् मत असङ्गत है। इससे एक-अनेक, नित्य-अनित्य, व्यतिरिक्त-अव्यतिरिक्त आदि अनियम के स्वीकारों का निराकरण हुआ समझना चाहिए। पुद्गल-संज्ञक अणुओं से संघात उत्पन्न होता है, ऐसी जो कल्पना करते हैं, उसका तो पूर्वोक्त अणुवाद के निराकरण से ही निराकरण हो जाता है। इसलिए उसके निराकरण के लिए पृथक प्रयत्न नहीं किया जाता है।

(2) एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्– जैसे एक धर्मी में विरुद्ध धर्म असम्भव है, यह दोष स्याद्वाद में प्राप्त होता है, वैसे जीव का भी परिच्छिन्नत्व रूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा। किस प्रकार? इससे कि जीव शरीर के बराबर है, ऐसा आर्हत लोग मानते हैं। और उसके बराबर होने पर अकृत्स्न असर्वगत-परिच्छिन्न आत्मा है, अतएव घटादि के समान आत्मा भी अनित्य है, ऐसा प्रसक्त होगा। और शरीरों का परिमाण निश्चित न होने से मनुष्य-जीव मनुष्य-शरीर के बराबर होकर, पीछे किसी कर्म-विपाक से हाथी का जन्म प्राप्त करेगा, तो हाथी के समस्त शरीर में व्याप्त न होगा और चींटी का जन्म प्राप्त करेगा, तो चींटी के शरीर में न समायेगा। एक जन्म में भी बाल्य, तारुण्य और बृद्धत्व में यह दोष समान है। परन्तु जीव अनन्त अवयववाला है, उसके वे ही अवयव अल्प शरीर में संकुचित हो जायंगे और बड़े शरीर में विकास पायेंगे, ऐसा यदि कहो, तो जीव के उन अनन्त अवयवों के एकदेशत्व का प्रतिघात होता है या नहीं होता, यह कहना चाहिए। यदि प्रतिघात होता हो, तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देश में नहीं समायेंगे। यदि प्रतिघात न होता हो तो भी सब अवयवों का प्रदेश एक अवयव के प्रदेश के बराबर होने से प्रथिमा आदि अनुपपन्न होंगे। और जीव के अणुमात्र होने का प्रसङ्ग आयेगा और शरीरमात्र परिच्छिन्न जीव के अवयवों की अनन्तता की उत्प्रेक्षा भी नहीं की जा सकती है।

क्रम से बड़ा शरीर प्राप्त करना हो, तो कितने ही अवयव जीव के पास आते हैं और छोटा शरीर प्राप्त करना हो, तो कितने ही अवयव दूर चले जाते हैं, ऐसा यदि कहो, तो उस पर भी कहते हैं– क्रमशः अवयवों की वृद्धि और ह्रास से जीव देह के बराबर होता है, इस प्रकार अविरोध का उपपादन नहीं किया जा सकता। किससे? इससे कि विकार आदि दोष प्राप्त होते हैं, क्योंकि अवयवों की वृद्धि और ह्रास से सर्वदा पूर्ण और क्षीण होता हुआ जीव विकार वाला है, यह अपरिहार्य होगा और विकार वाला होने से चर्म आदि के समान उसे अनित्य मानना पड़ेगा। इसलिए कर्मों से घिरा हुआ जीव संसार-सागर में निमग्न हुआ है, बन्धन के उच्छिन्न होने के पश्चात् वह तुम्बी के समान ऊर्ध्वगामी होता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्ष को जो स्वीकारा गया है, उसका बाध होगा और दूसरी बात यह है कि आने और जाने वाले अवयव आगम और अपगम रूप धर्म से युक्त होने के कारण ही शरीर आदि के समान अनात्मा हो जायेंगे, इसलिए अवस्थित हुआ कोई एक अवयव आत्मा होगा। और वह यही है, इस प्रकार उसका निरूपण नहीं किया जा सकेगा। और दूसरी बात यह है कि आने वाले अवयव कहां से प्रादुर्भूत होते हैं और जाने वाले ये अवयव कहां लीन होते हैं, यह कहना चाहिए। ये भूतों से प्रादुर्भूत होंगे और भूतों में लीन होंगे, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव अभौतिक है। इसी प्रकार साधारण या असाधारण जीवों के अवयवों के किसी दूसरे आधार का निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि ऐसी अवस्था में आत्मा अनिश्चित-स्वरूप ठहरेगा अर्थात् आत्मा के स्वरूप का निश्चय नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि आने और जाने वाले अवयव अनिश्चित परिणाम वाले हैं। इसलिए ऐसे दोषों के प्रसङ्ग से आत्मा के अवयवों का क्रमशः उपगम और अपगम स्वीकार नहीं किया जा सकेगा। अथवा पूर्व सूत्र से आत्मा शरीर के बराबर हो, तो उपचित और अपचित अन्य शरीर के प्राप्त होने पर उसके अव्याप्त होने का प्रसङ्ग आयेगा। इस प्रकार प्रसङ्ग द्वारा अनित्यता की शङ्का होने पर फिर शरीर व्यक्ति-भेद से परिमाण अनवस्थित होता है, तो भी जैसे स्रोत के प्रवाह का सन्तान नित्य है, वैसे आत्मा नित्य है। अथवा जैसे रक्त पटों के– बौद्ध आदि के विज्ञान की अनवस्थिति होने पर भी उसका सन्तान नित्य है, वैसे ही दिगम्बर का सन्तान नित्य है, ऐसी शङ्का कर इस सूत्र से उत्तर देते हैं। संतान के अवस्तु होने पर नैरात्म्यवाद प्रसक्त होगा। वस्तु होने पर भी आत्मा के विकार आदि दोषों का प्रसङ्ग होने से यह पक्ष अनुपपन्न है।

(3) **अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः**– अन्त्य अर्थात् मोक्ष की अवस्था में प्राप्त होने वाला जीव परिमाण नित्य है ऐसा जैन मानते हैं। इसी प्रकार उसके पूर्व के आदि और मध्यम परिमाणों के भी नित्य होने से तीनों परिमाण बराबर हो जायेंगे। एक शरीर के बराबर आत्मा होगी, उपचित और अपचित स्थूल, सूक्ष्म अन्त्य शरीर को प्राप्त नहीं कर सकेगी। अथवा अन्त्य जीव परिमाण के अवस्थित

होने से दो पूर्व अवस्थाओं में भी जीव अवस्थित परिमाणवाला ही होगा, इसलिए समान रीति से सर्वदा जीव को अणु या महान् मानना होगा, शरीर-परिमाण नहीं। इसलिए सौगत मत के समान आर्हत मत भी असंगत होने से उपेक्षणीय है।

6. पाशुपत मत का निराकरण

(1) **पत्युरसामञ्जस्यात्–** अब 'केवल अधिष्ठाता ईश्वर जगत् का कारण है' इस वाद का प्रतिषेध किया जाता है। यह किस प्रकार समझा जाता है? ''प्रकृतिश्च'' और ''अभिधेयोपदेशाच्च'', इनमें ईश्वर उभय स्वभाव है– प्रकृति और निमित्त, ऐसा आचार्य ने स्वयं ही प्रतिष्ठापित किया है। इसलिए यदि यहाँ भी अविशेष से ईश्वर जगत का कारण है इस वाद का ही प्रतिषेध किया जाय तो पूर्व और उत्तर के विरोध से सूत्रकार परस्पर विरुद्ध बचन कहते हैं, ऐसा प्रसक्त होगा। इसलिए ईश्वर प्रकृति नहीं है, केवल अधिष्ठाता, निमित्तकारण है, इस पक्ष का यहाँ पर यत्न से प्रतिषेध किया जाता है, क्योंकि वह वेदान्त में कहे हुए ब्रह्मैकत्व का प्रतिपक्ष है। यह वेद-बाह्य है। ईश्वर कल्पना अनेक प्रकार की है–कुछ लोग सांख्य योग का आश्रय करके प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता-ईश्वर केवल निमित्त कारण है, और प्रधान, पुरुष एवं ईश्वर ये परस्पर विलक्षण हैं, ऐसा कहते हैं। माहेश्वर ऐसा मानते हैं कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःख ये पांच पदार्थ पशुपति ईश्वर से पशुपाश या जीवबन्ध के विनाश के लिए उपदिष्ट हैं, और पशुपति-ईश्वर निमित्त कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं।

अतः उत्तर कहते हैं–'पत्युरसामंजस्यात्'। पति-ईश्वर प्रधान और पुरुष के अधिष्ठान-रूप से जगत्कारण नहीं हो सकता, किससे? असामञ्जस्य से–अयुक्तता से। असामञ्जस्य का कैसा स्वरूप है? हीन, मध्यम और उत्तम भाव से प्राणी-भेद को उत्पन्न करने वाले ईश्वर में राग-द्वेष आदि दोष प्रसक्त होने से हम लोगों के समान (उसमें) अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा। प्राणियों के कर्म की अपेक्षा होने से उक्त दोष नहीं है ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म और ईश्वर प्रवर्त्य और प्रवर्तयिता हो तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। अनादि होने से दोष का निरसन करना भी युक्त नहीं है, कारण कि वर्तमान काल के समान भूतकाल में भी अन्योन्याश्रय दोष समान होने से अन्धपरम्परा प्रसक्त होगी। और 'प्रवर्तनालक्षण दोषाः' प्रवर्तकत्व जिनका लक्षण है ऐसे दोष हैं – यह न्यायतत्ववेत्ताओं का सिद्धान्त हैं। दोष के बिना कोई स्वार्थ या परार्थ में प्रवृत्त हुआ नहीं देखा जाता। स्वार्थ में प्रयुक्त हुए ही सर्वजन परार्थ में प्रवृत्त होते हैं यह भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि स्वार्थयुक्त होने से ईश्वर में अनीश्वरत्व की प्रसक्ति होगी। ईश्वर पुरुषविशेष है, इससे उदासीन होने से उसकी प्रवृत्ति मानना भी असमञ्जस है।

(2) **सम्बन्धानुपपत्तेश्च–** और भी असामञ्जस्य है, क्योंकि प्रधान और पुरुष से व्यतिरिक्त ईश्वर संबंध के बिना प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता नहीं हो सकेगा।

संयोग-रूप संबन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रधान, पुरुष और ईश्वर सर्वगत एवं निरवयव हैं। उसी प्रकार समवाय संबन्ध भी नहीं हो सकता, कारण कि आश्रयाश्रयिभाव का निरूपण नहीं है। उसी प्रकार अन्य कोई कार्यगम्य संबन्ध स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्यकारणभाव ही अद्यापि असिद्ध हैं। ब्रह्मवादी के मत में किस प्रकार होता है? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनके मत में तादात्म्य-लक्षण संबन्ध उपपन्न है। और ब्रह्मवादी तो आगम के बल से कारणादि के स्वरूप का निरूपण करते हैं, इसलिए दृष्टानुसारी ही सब उनको स्वीकार करना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। प्रतिपक्षी तो दृष्टान्त-बल से कारणादि स्वरूप का निरूपण करते हैं, इसलिए उनको दृष्ट के अनुसार ही सब कुछ स्वीकार करना चाहिए ऐसा आशय है। प्रतिपक्षी को भी सर्वज्ञ प्रणीत आगम के सद्भाव से आगम-बल समान है, ऐसा कहोगे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आगम के प्रत्यय से– विश्वास से सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है और सर्वज्ञत्व के प्रत्यय से आगम सिद्ध होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय दोष आता है। इसलिए सांख्य-योगवादियों की ईश्वर-कल्पना अयुक्त है। इसी प्रकार अन्य भी वेद-बाह्य ईश्वर कल्पनाओं में यथासम्भव असामञ्जस्य की कल्पना करनी चाहिए।

(3) **अधिष्ठानानानुपपत्तेश्च–** और इससे भी तार्किक परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है, क्योंकि परिकल्पित वह (ईश्वर), जैसे कुम्भकार मृत्तिका आदि का अधिष्ठान करके प्रवृत्त होता है, वैसे प्रधान आदि का अधिष्ठान करके प्रवृत्त होगा। परन्तु यह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि अप्रत्यक्ष और रूपादि हीन प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय हो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि वह मृत्तिका आदि से विलक्षण है।

(4) **करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः–** जैसे नेत्रादिक इन्द्रिय-समुदाय अप्रत्यक्ष और रूपादिहीन हैं, उसका पुरुष अधिष्ठाता है, वैसे ही प्रधान का भी ईश्वर अधिष्ठाता होगा, ऐसा हो तो भी नहीं घटेगा क्योंकि इन्द्रिय-समुदाय में भोगादि में देखने में आने से वे अधिष्ठित हैं, ऐसा समझा जाता है। परन्तु यहाँ भोगादि देखने में नहीं आते। इन्द्रिय-समुदाय के साथ (प्रधानादि का) साम्य स्वीकार किया जाय, तो संसारी के समान ईश्वर को भी भोगादि प्राप्त हो जायेंगे। अथवा इन दो सूत्रों का व्याख्यान अन्य रीति से किया जाता है। 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' इससे तार्किक परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है, क्योंकि लोक में अधिष्ठान-सहित सशरीर, राजा देखने में आता है, अधिष्ठान-रहित देखने में नहीं आता। इससे इस दृष्टान्त के बल से अदृष्ट ईश्वर की कल्पना करने की इच्छा वाले को ईश्वर का कोई शरीर (इन्द्रियों का स्थान) वर्णन करना पड़ेगा, परन्तु वह वर्णन करना शक्य नहीं है, क्योंकि शरीर की सृष्टि उत्तर काल में होने से सृष्टि के पूर्व वह अनुपपन्न है। और अधिष्ठान-रहित ईश्वर में प्रवर्तकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि लोक में ऐसा देखने में आता है। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' यदि लोकदर्शन के अनुसार ईश्वर का भी इन्द्रियों का आश्रय कोई

शरीर इच्छा से मानो, तो वह भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि शरीरयुक्त होने से संसारी के समान भोगादि के प्रसङ्ग से ईश्वर में भी अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा।

(5) **अन्तत्वमसर्वज्ञता वा**– इससे भी तार्किक परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है, क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और अनन्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। और 'प्रधान अनन्त है' और 'पुरुष अनन्त है' और परस्पर भिन्न हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। उनमें सर्वज्ञ ईश्वर से प्रधान, पुरुष और ईश्वर की इयत्ता परिच्छिन्त होती है, या नहीं होती? दोनों प्रकार से दोष प्राप्त होता ही है। किस प्रकार? इससे कि पूर्व विकल्प में प्रधान, पुरुष और ईश्वर इयत्ता से परिछिन्न होने से अवश्य अन्तवान् होंगे, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है। लोक में इयत्ता से परिच्छिन्न होने से हर चीज अवश्य अन्तवान् होंगी, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है। लोक में जो इयत्ता से परिच्छिन्न पटादि वस्तुएँ हैं, वे अन्तवान् देखी जाती है। इसी प्रकार प्रधान, पुरुष और ईश्वर तीनों इयत्ता से परिच्छिन्न होने से अन्तवान् होंगे। संख्यापरिमाण तो प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये तीन हैं इस रूप से परिच्छिन्न है। उनमें स्थित स्वरूप-परिमाण भी ईश्वर से परिच्छिन्न ही होगा। और पुरुषगत महासंख्या है। इसलिए इयत्ता-परिच्छिन्नों के मध्य में जो संसार से युक्त होते हैं, उनका संसार अन्तवान् हो जायगा और संसारित्व भी अन्तवान् हो जायगा। इस प्रकार दूसरे जीवों के भी क्रम से युक्त होने से संसार और संसारी अन्तवान् हो जायंगे। और सविकार प्रधान-पुरुष के अर्थ के लिए ईश्वर का अधिष्ठेय संसारीरूप से अभिमत है। उससे शून्य होने पर भी ईश्वर अधिष्ठान किसका करेगा, या किस विषय में सर्वज्ञता और ईश्वरता होगी? प्रधान, पुरुष और ईश्वर के इस प्रकार अन्तवान् होने से आदिमान् होने का प्रसंग आयेगा, और अन्तवान् होने से शून्यवाद प्रसक्त होगा। ये दोष न हों, इसलिए यदि प्रधान, पुरुष और ईश्वर की इयत्ता ईश्वर से परिच्छिन्न नहीं होती, इस उत्तर-विकल्प को स्वीकारा जाय, तो ईश्वर सर्वज्ञ है, इस स्वीकृति का त्यागरूप, दूसरा दोष प्रसक्त होगा। इससे भी तार्किकों से स्वीकार किया गया ईश्वरवाद असङ्गत हैं।

7. पांचरात्रमत का निराकरण

(1) **उत्पत्यसंभवात्**– जिनको ईश्वर अप्रकृति, अधिष्ठाता एवं केवल निमित्त कारण रूप से अभिमत है, उनके पक्ष का खंडन किया जा चुका है। अब जिनको प्रकृति और अधिष्ठाता दोनों प्रकार के कारण-रूप से ईश्वर अभिमत है, उनके पक्ष का निराकरण करते हैं। श्रुति के आश्रय से भी इसी प्रकार का ईश्वर प्रकृति और अधिष्ठाता है ऐसा-पूर्व में निर्धारण किया गया है, और श्रुति का स्मरण करने वाली स्मृति भी प्रमाण है ऐसी स्थिति है, तो किस हेतु से पक्ष का निराकरण करने की इच्छा है? कहते हैं– यद्यपि इस प्रकार का अंश समान होने से विसंवाद का विषय नहीं है, तथा अन्य अंश विसंवाद के स्थान हैं– इससे उनके निराकरण

के लिए यह आरम्भ है। भागवत मानते हैं कि अकेले भगवान् वासुदेव ही निरञ्जन ज्ञानरूप परमार्थ तत्व हैं। वे अपने चार विभाग करके वासुदेव व्यूहरूप से प्रतिष्ठित हैं, वासुदेव परमात्मा है; संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मन है और अनिरुद्ध अहंकार है। उनमें वासुदेव पराप्रकृति है एवं अन्य संकर्षण कार्य हैं। इस प्रकार भगवान् परमेश्वर की अभिगमन; उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग द्वारा सौ वर्ष पूजा कर क्षीणक्लेश जीव भगवान् को ही प्राप्त होते हैं।

यहाँ जो यह कहते हैं कि नारायण अव्यक्त से पर प्रसिद्ध परमात्मा सर्वात्मा है, वह आत्मा द्वारा आत्मा को अनेक प्रकार से व्यूह करके अवस्थित है, उसका निराकरण नहीं करते हैं क्योंकि– 'स एकधा भवति त्रिधाभवति' (वह एकधा होता है, त्रिधा होता है) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का अनेक प्रकार का भाव प्राप्त है। और उस भगवान का सदा अनन्यचित्त से अभिगमनादि रूप आराधन अभिप्रेत है, उसका भी प्रतिषेध नहीं करते हैं, क्योंकि श्रुति और स्मृति में ईश्वर-प्रणिधान प्रसिद्ध है। परन्तु वासुदेव से संकर्षण उत्पन्न हुए हैं, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध ऐसा जो कहा जाता है, उस पर कहते हैं– वासुदेव-संज्ञक परमात्मा से संकर्पण-संज्ञक जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनित्यत्वादि दोषों की प्रसक्ति होगी। (निश्चय) जीव उत्पत्तिमान् हो तो अनित्यत्वादि दोष प्रसक्त होने से जीव को भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष न होगा, क्योंकि कारण की प्राप्ति में कार्य का प्रविलय प्रसक्त होगा। और बादरायणाचार्य जीव की उत्पत्ति का– नाऽऽत्माश्रुतेः (आत्मा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उत्पत्ति के प्रकरण में उसकी उत्पत्ति-श्रुति नहीं है, बल्कि इसके विपरीत श्रुति से उसकी नित्यता प्रतीत होती है), इस सूत्र में प्रतिषेध करेंगे। इसलिए यह कल्पना असंगत है।

(2) **न च कर्तुः करणम्**– और इससे भी यह कल्पना असङ्गत है, क्योंकि लोक में कर्ता देवदत्तादि से करणपरशु आदि उत्पन्न होते हुए नहीं देखे जाते हैं। भागवत वर्णन करते हैं कि कर्ता संकर्षण-संज्ञक जीव से प्रद्युम्न-संज्ञक करण–मन उत्पन्न होता है, कर्ता से उत्पन्न होता है, कर्ता से उत्पन्न हुए उससे (मन से) अनिरुद्ध-संज्ञक अहंकार उत्पन्न होता, परन्तु दृष्टान्त के बिना इसका निश्चय करने में हम समर्थ नहीं है। और इस प्रकार की श्रुति भी उपलब्ध नहीं है।

(3) **विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः**– ये संकर्षणादि जीवादिभाव से माने नहीं जाते हैं किन्तु ये सब ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेजरूप ईश्वर-संबंधी धर्मों से युक्त ईश्वर ही माने जाते हैं। ये सब वासुदेव ही निरधिष्ठान और निर्दोष हैं। अतः पूर्वोक्त उत्पत्त्यसंभव रूप दोष प्राप्त नहीं है। इस पर कहते हैं– ऐसे भी उसका अप्रतिषेध है। उत्पत्ति के असम्भव का प्रतिषेध नहीं होता है अर्थात् प्रकारान्तर से उत्पत्त्यसंभवरूप दोष प्राप्त ही है, ऐसा अभिप्राय है। किस प्रकार? यदि ऐसा अभिप्राय हो कि परस्पर भिन्न ही ये वासुदेवादि चार ईश्वरों की कल्पना अनर्थक

है, क्योंकि एक ही ईश्वर से ईश्वर का कार्य सिद्ध होगा, और सिद्धान्त की भी हानि होगी, क्योंकि भगवान् ही अकेले वासुदेव परमार्थतत्व हैं ऐसा स्वीकार है। यदि ऐसा अभिप्राय हो कि एक ही भगवान् के ये चार स्वरूप-तुल्य धर्म वाले हैं, तो भी उत्पत्ति असम्भव वैसे ही है क्योंकि, अतिशय के अभाव से वासुदेव से संकर्षण की और संकर्षण से प्रद्युम्न की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कार्य और कारण में अतिशय अवश्य ही होना चाहिए जैसे मृत्तिका और घट में है। अतिशय न रहने पर यह कार्य है और यह कारण है, यह व्यवहार नहीं बनेगा। और पांचरात्र सिद्धान्ती वासुदेववादि में एक में या सब में ज्ञान, ऐश्वर्य आदि के तारतम्य से हुआ कुछ अतिशय स्वीकार नहीं करते हैं। वासुदेव ही सब व्यूह निर्विशेष हैं ऐसा मानते हैं। परन्तु भगवान् के ये व्यूह चार संख्या में ही अवस्थित नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मादि से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त जगत् ही भगवान का व्यूह है, ऐसा समझा जाता है।

(4) विप्रतिषेधाच्च– और इस शास्त्र में गुण गुणित्व-कल्पना आदि बहुत प्रकार का विरोध उपलब्ध होता है, क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज भगवान् के गुण हैं, वे गुण आत्मा ही हैं, भगवान् वासुदेव ही है ऐसा देखा जाता है। उसी प्रकार वेद-विरोध भी है, क्योंकि चार वेदों में परमकल्याण प्राप्त न करके शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया, इत्यादि वेद-निन्दा का दर्शन है। इसलिए यह कल्पना असङ्गत है, ऐसा सिद्ध हुआ।[1]

---

1. इस पूरे अधिकरण में रामानुज पांचरात्र मत का समर्थन देखते हैं। वे 44वें सूत्र की व्याख्या दूसरे ढंग से करते हैं। उनके मत से यदि संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के अर्थ ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज हैं तो फिर तत् (अर्थात् पांचरात्र मत) अप्रतिषिद्ध अर्थात् अकाट्य है। डा० थीबो ने कहा है कि रामानुज का मत अनुचित नहीं लगता है क्योंकि पाद के अन्त में पांचरात्र का समर्थन करना प्रकरणसंगत है। आरंभ में विमतों का खंडन करना और अन्त में अपने मत का समर्थन करना सर्वथा प्रकरणसंगत है– यह डा० थीबो का मत है। किन्तु डा० घाटे ने अपने शोध-प्रबन्ध 'दी वेदान्त' में ठीक कहा है कि रामानुज और डा० थींबो के मत प्रकरण से असिद्ध हैं क्योंकि यहां प्रकरण खंडन का है। इस पाद के बाद भी ब्रह्मसूत्र के अन्य अध्याय और पाद हैं। यदि यह पाद ग्रन्थ का अन्तिम भाग होता तो रामानुज और डा० थीबो के मत सही हो सकते थे। देखिए "दी वेदान्त" पृष्ठ 89। पुनश्च सूत्र 44 में निपात 'वा' और 'तत्' शब्दों की जो व्याख्या रामानुज करते हैं वह सन्दर्भ और संस्कृत-व्याकरण से अनुमोदित नहीं है। यह भी उल्लेखनीय है कि रामानुज को छोड़कर कोई दूसरा भाष्यकार नहीं कहता है कि इस अधिकरण में पांचरात्र का समर्थन है। वल्लभ कहते हैं कि इसमें पांचरात्र का खंडन है। निम्बार्क कहते हैं कि इसमें शाक्तमत का खंडन है। मध्व भी निम्बार्क का अनुसरण करते हैं। चैतन्यमत के आचार्य बलदेव भी निम्बार्क के मत का अनुसरण करते हैं। केशव काश्मीरी भी इस अधिकरण में शाक्तमत का खंडन पाते हैं। इस प्रकार निम्बार्क, मध्व, बलदेव और केशव काश्मीरी के मत के आधार पर डा० करमरकर ने निर्णय किया है कि वास्तव में इस अधिकरण में शाक्तमत का ही खंडन है।

शारीरिक भाष्य के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण स्थल

1. तर्क की अप्रतिष्ठा

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः[1]– केवल वेद से ज्ञान योग्य वस्तु में वेद-निरपेक्ष तर्क से विरोध करना उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र के प्रमाण से रहित और पुरुष-कल्पनामात्र-मूलक तर्क अस्थिर होते हैं, क्योंकि कल्पना निरंकुश है। जैसे कुछ विद्वानों के यत्न द्वारा कल्पित तर्क उनसे अधिक विद्वानों की दृष्टि में तर्काभास-से प्रतीत होते हैं, और उनके तर्क उनसे बढ़े-चढ़े विद्वानों की दृष्टि में तर्काभास-से प्रतीत होते हैं। इस कारण तर्कों की स्थिरता कदापि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि पुरुष-मति विलक्षण है। यदि किसी प्रसिद्ध माहात्म्य वाले कपिल या किसी अन्य का तर्क प्रतिष्ठित हो तो वह भी अप्रतिष्ठित ही है, क्योंकि जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध समझा गया है, ऐसे शास्त्रकार कपिल, कणाद आदि में भी परस्पर विप्रतिपत्ति देखी जाती है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार अप्रतिष्ठा दोष नहीं आये, उस प्रकार अन्य रीति से हम अनुमान करेंगे, क्योंकि प्रतिष्ठित तर्क है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, तो तर्क का अप्रतिष्ठितत्व तर्क से ही ठहराया जाता है। कुछ तर्कों को अप्रतिष्ठित देखकर तज्जातीय अन्य तर्क भी अप्रतिष्ठित हैं, ऐसी कल्पना की जाती है। और सभी तर्कों के अप्रतिष्ठित होने पर लोक-व्यवहार ही उच्छिन्न हो जायगा, क्योंकि भूत और वर्तमान विषय के सादृश्य से भविष्यत् विषय में भी सुख प्राप्त करने और दुःख का परिहार करने में प्रवृत्त होते हुए लोग देखे जाते हैं। श्रुति के अर्थ में विप्रतिपत्ति हो, तो अर्थाभास का निराकरण करके सत्य अर्थ का निर्णय वाक्य-तात्पर्य का निरूपण करने वाले तर्क से ही किया जाता है। "धर्म का अधर्म से भेद जानने की इच्छा करने वाले पुरुष को प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध सम्प्रदायों से युक्त शास्त्र का भलीभांति मनन करना चाहिए'[2] और "ऋषि-प्रणीत धर्मोपदेश का वेद और शास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा जो विचार करता है, वह धर्म के यथार्थ रूप को जानता है, अन्य नहीं जानता"।[3] ऐसा कहते हुए मनु भी कुछ तर्कों को प्रतिष्ठित कहते हैं। अप्रतिष्ठित होना तर्क का भूषण है क्योंकि इस प्रकार से निंद्य तर्क का परित्याग करके निर्दुष्ट तर्क स्वीकार किया जाता है। पूर्वजों के मूढ़ होने से हमको भी मूढ़ होना चाहिए, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए तर्क की अप्रतिष्ठा कोई दोष

देखिए कम्पेरीजन आव् दी भाष्याज पृ० 61। किन्तु लोकतंत्र के मतदान के आधार पर सत्य का निर्णय नहीं किया जा सकता है। इस अधिकरण में शाक्तमत का सन्दर्भ ही नहीं है। बादरायण के समय में यह प्रचलित भी नहीं था। अतः यहां शाक्तमत का निराकरण नहीं है। यहां पांचरात्र मत का ही निराकरण है।

1. ब्रह्मसूत्र 2।1।11
2. मनुस्मृति 12।105
3. वही 12।106

नहीं है, ऐसा कहो, तो तर्क दोष-मुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि किसी एक विषय में तर्क प्रतिष्ठित दीखता है तो भी प्रकृत विषय में तर्क अप्रतिष्ठितत्व दोष से वियुक्त नहीं हो सकता। इस अति गंभीर मुक्ति के हेतु कारण की अद्वितीयता का अवधारण शास्त्र के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि रूपादि-रहित होने से यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिङ्ग आदि के अभाव से अनुमान आदि का विषय नहीं है, ऐसा भी हम पीछे कह चुके हैं। और सम्यग्ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा सब मोक्षवादी स्वीकार करते हैं और वह सम्यग्ज्ञान एकरूप है, क्योंकि वह वस्तु के अधीन है। सदा एकरूप रहने वाला पदार्थ परमार्थ है और उसका ज्ञान लोक में सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जैसे अग्नि उष्ण है, यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। ऐसी अवस्था में सम्यग्ज्ञान के विषय में पुरुषों की विप्रतिपत्ति अयुक्त है। तर्क-ज्ञानों में तो अन्योन्य विरोध होने से विप्रतिपत्ति प्रसिद्ध है और यह लोक में प्रसिद्ध है कि किसी एक तार्किक द्वारा सम्यग्ज्ञान रूप से निर्णीत तर्क का दूसरा खण्डन कर देता है और दूसरे के द्वारा निर्णीत तर्क का तीसरा खण्डन कर देता है। इसलिए एकरूप जिसका विषय अवस्थित न हो, ऐसे तर्क से उत्पन्न हुआ ज्ञान किस प्रकार सम्यग्ज्ञान हो सकता है? प्रधानवादी तर्कवेत्ताओं में उत्तम है, ऐसा सब तार्किक नहीं कहते हैं जिससे हम उनके मत को सम्यग्ज्ञान मान सकें। और अतीत अनागत और वर्तमान तार्किक एक देश में और एक काल में एकत्र नहीं किए जा सकते, जिससे एक अर्थ में उनकी मति एक-सी होकर सम्यग्ज्ञान हो सके। वेद तो नित्य है और विज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है, अतः वह व्यवस्थित अर्थ का प्रतिपादक है, उससे उत्पन्न हुए ज्ञान की यथार्थता का अतीत, अनागत और वर्तमान के किसी भी तार्किक द्वारा निषेध नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह उपनिषद्गम्य ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। औपनिषद ज्ञान को छोड़कर और ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते। इसलिए अन्य ज्ञानों से संसार से मुक्ति नहीं हो सकेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि आगम के बल से और आगमानुकूल तर्क के बल से चेतन ब्रह्म जगत् का कारण और प्रकृति है।

(2) भोक्ता जीव का ब्रह्म से अभेद[1]

पुनः अन्य प्रकार से ब्रह्मकरणवाद का तर्कबल से ही आक्षेप किया जाता है। यद्यपि उसके विषय में श्रुति प्रमाण है, तो भी जहाँ अन्य प्रमाण से उसके विषय का बोध होता है, वहाँ वह अन्य विषयक होती है, जैसे मंत्र और अर्थवाद अन्य विषयक होते हैं। तर्क भी स्वविषय से अन्यत्र अप्रतिष्ठित होता है, जैसे धर्म और अधर्म में। यदि ऐसा हो, तो इससे क्या? इससे यह अयुक्त है कि अन्य प्रमाण से प्रसिद्ध अर्थ का श्रुति बाध करती है। यह किस प्रकार कहते हो? इस पर कहते हैं – लोक में यह भोक्तृ-भोग्य विभाग प्रसिद्ध है, भोक्ता चेतन शरीर है और भोग्य

1. शारीरक भष्य 2/1/13 सूत्र पर

शब्द आदि विषय हैं। जैसे देवदत्त भोक्ता है और ओदन भोज्य है। यदि भोक्ता-भोग्य-भाव को प्राप्त हो और भोग्य भोक्तृ भाव को प्राप्त हो, तो उस विभाग का अभाव हो जायेगा। और इन दोनों के परम कारण ब्रह्म से अभेद होने के कारण आपसी भी अभेद हो जाएगा। इस प्रसिद्ध विभाग का बाधित होना युक्त नहीं है। जिस प्रकार वर्तमान काल में भोक्ता और भोग्य का विभाग देखने में आता है, उसी प्रकार अतीत और अनागत काल में भी कल्पनायुक्त है। इसलिए इस प्रसिद्ध भोक्तृ भोग्य विभाग का अभाव प्रसक्त होने से जगत् का कारण ब्रह्म है, यह निपट अयुक्त है।

ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उसके प्रति कहना चाहिए कि 'स्याल्लोकवत्' (लोक के समान विभाग होगा), हमारे पक्ष में विभाग उत्पन्न होता ही है, क्योंकि लोक में ऐसा देखने में आता है। जैसे उदक-स्वरूप समुद्र से झाग, बड़ी तरंग, लहर बुलबुले आदि विकार अनन्य हैं, तो भी उनका अन्योन्य भेद और संश्लेष आदि व्यवहार उपलब्ध होता है।

उदक स्वरूप समुद्र से फेन, तरंग आदि उसके विकार अनन्य है तो भी उनके अन्योन्य भाव होने का प्रसंङ्ग नहीं होता। वे अन्योन्य भाव को प्राप्त न होने पर भी समुद्र-स्वरूप से अन्य नहीं होते। इसी प्रकार यहाँ भी भोक्ता और भोग्य अन्योन्य भाव नहीं पायेंगे और ब्रह्म से अन्य भी नहीं होंगे। यद्यपि भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं है क्योंकि "उस को उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया"[1] इस प्रकार विकार को प्राप्त न हुए स्रष्टा का ही कार्य में अनुप्रवेश होने से श्रुति उसे भोक्ता कहती है। तो भी जिसने कार्य में अनुप्रवेश किया है, उसका उपाधिकृत विभाग है, जैसे घट आदि उपाधिकृत विभाग आकाश में है। इससे परम कारण ब्रह्म से अनन्य होने पर भी भोक्तृ-भोग्य लक्षण विभाग समुद्रतरंगन्याय से उत्पन्न होता है ऐसा कहा है।

(3) कारण और कार्य का अभेद

(1) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः[2]– इस व्यावहरिक भोक्तृ भोग्य लक्षण विभाग को स्वीकार करके 'स्याल्लोकवत्' ऐसा परिहार किया गया है। परन्तु यह विभाग वास्तविक नहीं है क्योंकि वे कार्य और कारण अभिन्न समझे जाते हैं। आकाश आदि बहुत विस्तार वाला जगत् कार्य है और परब्रह्म कारण है। उस कारण से वास्तव में कार्य का अनन्यत्व-अभेद समझा जाता है। किससे? आरम्भण शब्द आदि से। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षा में – हे सोम्य! जैसे एक मृत्तिकापिण्ड से सब मृत्तिका-विकार ज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी के अवलम्बन से है और नाम मात्र हैं, मृत्तिका ही सत्य है"[3] इस प्रकार आरम्भण शब्द कहा है। तात्पर्य यह है कि मृत्तिका-रूप से ज्ञात एक मृत्तिका पिण्ड से सब

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद 2/6
2. ब्रह्मसूत्र 2/1/1
3. छान्दोग्य उपनिषद् 6/1/1

मृत्तिका-निर्मित घड़ा, सकोरा, डोल आदि मृत्तिका स्वरूप होने से वस्तुतः विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाचारम्भण विकार केवल नाम मात्र है। विकार-घट, शराब और उदञ्चन। विकार वस्तुतः कुछ नही है। नामधेय मात्र ये सब असत्य हैं, मृत्तिका ही सत्य है। यह ब्रह्म का दृष्टान्त श्रुति में कहा गया है। उस श्रुति में कहे गये वाचारम्भण शब्द से दार्ष्टान्तिक में भी ब्रह्म के व्यतिरिक्त कार्य नहीं है, ऐसा समझा जाता है और श्रुति तेज, जल और अन्न ब्रह्म के कार्य हैं, ऐसा कहकर तेज, जल और अन्न के कार्यों का तेज, जल और अन्न से भेदाभाव कहती है – "अग्नि से अग्नित्व गया, क्योंकि उसका वाणी से ही आरम्भ किया जाता है, विकार नाममात्र है, तीन रूप ही सत्य हैं"[1] इत्यादि से। 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इसमें आदि शब्द से "यह सब सद्रूप हैं, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।"[2] "यह सब प्रपञ्च आत्मा सद्रूप ही है"[3] "ब्रह्म ही सब है",[4] "यह सब आत्मा ही है"[5], "ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है"[6], इत्यादि आत्मैकत्व का प्रतिपादन करने वाले वचन भी उद्धृत करने चाहिए। नहीं तो एक विज्ञान से सर्वज्ञान सम्पन्न नहीं होगा। इसलिए जैसे घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाश से अभिन्न हैं, जैसे जल-सी भासने वाली मृगतृष्णा ऊपर से अभिन्न है, क्योंकि उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता है और वे सत्तारहित हैं, उसी प्रकार यह भोक्तृ, भोग्य आदि प्रपंच ब्रह्म से भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

परन्तु ब्रह्म के अनेक-स्वरूप हैं। जैसे वृक्ष अनेक शाखायुक्त हैं वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्ति-प्रवृत्ति-युक्त है। अतः एकत्व-अनेकत्व दोनों सत्य ही हैं। जैसे वृक्ष स्वरूप से वृक्ष एक है और शखास्वरूप से नाना है, जैसे समुद्र समुद्रस्वरूप से एक है और फेन, तरंग आदि स्वरूप से नाना हैं, वैसे ही ब्रह्म कारण-स्वरूप से एक और कार्य जगतरूप से अनेक है। उक्त दो अंशों में एकत्व अंश के ज्ञान से मोक्ष-व्यवहार सिद्ध होगा और नानात्व-अंश के ज्ञान से कर्मकाण्ड से संबंध रखने वाले लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे और इसी प्रकार मृत्तिका आदि दृष्टान्त अनुकूल होंगे। ऐसा नहीं है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (मृत्तिका ही सत्य है) इस प्रकार दृष्टान्त में आकृतिमात्र का सत्यरूप से निर्णय किया है और वाचारंभण शब्द से विकारसमूह असत्य कहा है, दार्ष्टान्तिक मे भी 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यम्', (यह सब आत्मस्वरूप है, वह सत्य है) इस प्रकार एक परम कारण ही सत्यरूप से निश्चित किया गया है। 'स आत्मा॰' (हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, वह तू है) इस प्रकार शरीर ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है। इस जीव का स्वयंसिद्ध जो ब्रह्मात्मत्व है, उसी का

1. वही 6/4/1
2. वही 6/8/7
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/6
4. मुंडक उपनिषद् 2/2/11
5. छान्दोग्य उपनिषद् 7/2/5
6. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/19

उपदेश किया जाता है, अन्य यत्न से साध्य ब्रह्मात्मत्व का उपदेश नहीं किया जाता। इससे जैसे रज्जु आदि बुद्धि सर्प आदि बुद्धि की बाधिका होती है, वैसे यह जो शास्त्रीय ब्रह्मात्मत्व की अवगति होती है, वह स्वाभाविक शरीरात्मा की बाधिका है। शरीरात्मत्व का बाध होने पर उसके आश्रित समस्य स्वाभाविक व्यवहार, जिनकी प्रसिद्धि के लिए एकत्व से अन्य ब्रह्म के नानात्व अंश की कल्पना करना पड़े, बाधित हो जाते हैं। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तं' (जिस ज्ञानावस्था में इसकी सब आत्मा ही हो जाते हैं, वहाँ किस साधन से किसको देखें।) इत्यादि से ब्रह्म को ही आत्मा समझने वाले के प्रति श्रुति क्रिया, कारक और फलस्वरूप समस्त व्यवहार का अभाव दिखलाती है। विशिष्ट अवस्था के आधार पर यह व्यवहार का अभाव कहा गया है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार जीव का जो ब्रह्मभाव कहा गया है, वह अवस्था-विशेष के आधार पर नहीं कहा गया। और चोर के दृष्टान्त से मिथ्या भाषण करने वाले का बन्धन और सत्यभाषी का मोक्ष दिखलाने वाली श्रुति केवल एकत्व ही पारमार्थिक है और नानात्व मिथ्याज्ञान से कल्पित है, ऐसा दिखलाती है। यदि भेद और अभेद दोनों सत्य हों, तो भेद व्यवहार करने वाला पुरुष असत्यभाषी कैसे कहा जाएगा? 'मृत्योः सः' (जो ब्रह्म में भेद-सा देखता है, वह जन्ममरण-परंपरा को प्राप्त होता है) इस प्रकार भेद-दृष्टि का निषेध करके श्रुति यही बात सिद्ध करती है। और इस दर्शन में ज्ञान से मोक्ष होता है, ऐसा उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सम्यग् ज्ञान से निषेध्य कोई मिथ्यज्ञान संसार का कारण नहीं माना गया है, क्योंकि दोनों के सत्य होने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि एकत्व-ज्ञान से भेद-ज्ञान दूर होता है। परन्तु केवल एकत्व का ही स्वीकार करें तो भेद के अभाव से प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण निर्विषयक होने से बाधित हो जायेंगे, जैसे स्थाणु आदि में पुरुष आदि का ज्ञान बाधित हो जाता है। इसी प्रकार भेद की अपेक्षा रखने के कारण विधिप्रतिषेध-शास्त्र भी भेद के अभाव में बाधित हो जायेंगे। मोक्षशास्त्र भी गुरू, शिष्य आदि भेद की अपेक्षा रखता है, अतः भेद के अभाव में वह बाधित हो जाएगा और असत्य मोक्षशास्त्र से प्रतिपादित आत्मैकत्व सत्य है, यह किस प्रकार उपपन्न हो सकेगा? इस पर कहते हैं – यह दोष नहीं है, जैसे जागने के पूर्व सब स्वप्न व्यवहार सत्य होते हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान के पूर्व सभी व्यवहार सत्य हो सकते हैं। जब तक सत्य आत्मैकत्व प्रतीति नहीं होती, तब तक प्रमाण, प्रमेय और फलरूप विकार असत्य हैं, ऐसी बुद्धि किसी को भी नहीं होती। स्वाभाविक ब्रह्मात्मता का त्याग करके अविद्या से सब जन्तु विकारों में ही 'मैं' – 'मेरा' इस प्रकार आत्मभाव और आत्मीयभाव रखते हैं, इसलिए ब्रह्मात्मता के ज्ञान के पूर्व सब लौकिक और वैदिक व्यवहार उपपन्न होते हैं, जैसे सोता हुआ साधारण मनुष्य स्वप्न में भिन्न पदार्थों को देखता है और उनके प्रत्यक्ष ज्ञान को जागने के पहले निश्चित ही समझता है। उस समय उनके प्रत्यक्ष

को आभास नहीं समझता। परन्तु असत्य वेदान्त-वाक्यों से सत्य ब्रह्मात्मत्व-ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि रज्जु-रूप सर्प से डंसा हुआ नहीं मरता और मृगतृष्णा के जल का पान तथा उससे स्नानादि नहीं किये जाते। यह दोष नहीं है, क्योंकि विष की शंका होने पर मरण आदि कार्य देखे जाते हैं और जो स्वप्नावस्था में सर्प द्वारा डंसा जाना, जल स्नान आदि कार्य देखे जाते हैं, वे कार्य भी असत्य ही है, ऐसा यदि कहो, तो उस पर कहते हैं – यद्यपि स्वप्नावस्था में पुरुष के सर्प दंश, उदक-स्नान आदि कार्य असत्य हैं, तथापि उनका ज्ञान-रूप फल सत्य है, क्योंकि जागने के बाद भी उसका बाध नहीं होता। स्वप्न से उठा हुआ पुरुष जिन सर्प-दंशन, उदकस्नान आदि कार्यों को मिथ्या मानता है, वह उनकी अवगति को मिथ्या नहीं मानता। इससे अर्थात् स्वप्न देखने वाले की अवगति का बाध न होने से, देहमात्र आत्मा है, इस मत का खंडन हुआ समझना चाहिए। उसी प्रकार 'यदा कर्मसु काम्येषु०' (जब किसी कामना के लिए कर्म करता हुआ पुरुष स्वप्न में स्त्री को देखता है, तब उसे समझना चाहिए कि उसके कार्य में सफलता होगी) यह श्रुति असत्य-स्वप्न-दर्शन से सत्य स्मृद्धि की प्राप्ति दिखलाती है। इसी प्रकार कितने ही अरिष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष दर्शन होने पर 'न चिरमिव०' (चिरकाल तक न जीएगा) ऐसा कहकर 'अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं०' (जो स्वप्न में कोई काले दंतवाले काले पुरुष को देखता है, तो वह इसको मारता है) इत्यादि से श्रुति असत्य स्वप्न-दर्शन से ही सत्य मरण की सूचना करती है। यह लोक में प्रसिद्ध है कि अन्वय-व्यतिरेक में कुशल पुरुषों को अमुक स्वप्न-दर्शन से शुभ प्राप्ति की सूचना होती है, अमुक से अशुभ प्राप्ति की सूचना होती है, ऐसा ज्ञान होता है। इसी प्रकार रेखाओं में असत्य अक्षरों के ज्ञान से अकार आदि सत्य अक्षरों का ज्ञान होता है। और आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करने वाला यह प्रमाण सब प्रमाणों में अन्तिम है, इस एकत्व ज्ञान के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा हो। जैसे लोक में 'यजेत' (यजन करे) ऐसा कहने से, किस फल के लिए, किससे और किस प्रकार ऐसी आकांक्षा होती है, इस प्रकार 'तत्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) ऐस बोध होने पर कोई आकांक्षा नहीं होती क्योंकि सर्वात्म एक ही है, वह इस अवगति का विषय है। कोई अन्य पदार्थ अवशिष्ट रहे, तो उसकी आकांक्षा हो, किन्तु आत्मैकत्व से भिन्न अन्य पदार्थ शेष नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा की जाय। यह अवगति उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'तद्धास्य' (पिता के उपदेश से श्वेतकेतु ने आत्मतत्व को यथार्थ रूप से जाना) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। और श्रवण आदि अवगति के साधन एवं वेद के पठन आदि का विधान है। और यह अवगति प्रयोजन-रहित है या भ्रान्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अविद्या-निवृत्ति-रूप फल देखा जाता है और अन्य कोई बाधक ज्ञान भी नहीं है। आत्मैकत्व की अवगति के पूर्व सत्य और अनृत, लौकिक और वैदिक सब

व्यवहार ज्यों के त्यों रहते हैं ऐसा हम पीछे कह चुके हैं। सर्वोत्कृष्ट प्रमाण से आत्मैकत्व का प्रतिपादन होने पर पूर्व के समस्त भेद-व्यवहार बाधित हो जाते हैं, अतः अनेक स्वरूप वाले ब्रह्म की कल्पना के लिए अवकाश नहीं है, परन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्त दिये हैं, उनसे परिणामयुक्त ब्रह्म शास्त्र का अभिमत है, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि लोक में मृत्तिका आदि पदार्थ परिणा युक्त उपलब्ध होते हैं। नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'स वा एष महाजन' (यह आत्मा महान, जन्म रहित, जरारहित, मरण रहित, अमृत, अभय ब्रह्म है) 'स एष नेति०' (यह नहीं, इस प्रकार अन्य के निषेध द्वारा मधुकाण्ड में आत्मा निर्दिष्ट है) 'अस्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, इत्यादि सब विक्रियाओं का प्रतिषेध करने वाली श्रुतियों से ब्रह्म कूटस्थ है, ऐसा समझा जाता है। एक ही ब्रह्म परिणामी और परिणाम-रहित माना जा सकता है। स्थिति और गति के समान होगा, यह कथन भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'कूटस्थस्य' (कूटस्थ का) ऐसा विशेषण है। कूटस्थ ब्रह्म स्थिति और गति के समान अनेक धर्मों का आश्रय हो, यह नहीं हो सकता। ब्रह्म कूटस्थ और नित्य है, क्योंकि सब विक्रियाओं का प्रतिषेध है, ऐसा हमने कहा है। और जैसे ब्रह्म आत्मा से अभिन्न है यह ज्ञान मोक्ष का साधन है, वैसे ब्रह्म जगद्रूप से परिणत होता है, यह ज्ञान स्वतंत्र ही किसी भी फल के लिए अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इसमें प्रमाण नहीं है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, इस विज्ञान से ही 'स एष नेति नेत्यात्मा' (नहीं, नहीं ऐसा जो चतुर्थ मधुकाण्ड में निर्दिष्ट है) वह आत्मा है, ऐसा उपक्रम करके 'अभयं वै' (है जनक तुम! अभय को प्राप्त हुए हो) इत्यादि शास्त्र फल दिखलाता है। यहाँ यह सिद्ध है – ब्रह्म प्रकरण में सर्वधर्म-विशेष रहित ब्रह्म के ज्ञान से ही फल सिद्धि होती है, इसलिए वहाँ जो ब्रह्म जगद्रूप से परिणत होता है, इत्यादि अफल-रूप से प्रतिपादित है, उसका ब्रह्म दर्शन के उपाय रूप से ही विनियोग है, जैसे कि फलवाले की संनिधि में अफल उसका अंग होता है, परन्तु स्वतंत्र रूप से फल देने के लिए उसकी कल्पना नहीं की जाती। निश्चय ही ब्रह्म परिणाम वाला है, इस विज्ञान से आत्मा परिणाम वाला है, यह फल होगा, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्ष कूटस्थ नित्य है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, ऐसा जिसका मत है, उसके मत में अव्यभिचरित एकत्व होने से ईशिता और ईशितव्य का अभाव होने से ईश्वर जगत्-कारण है, इस प्रतिज्ञा से विरोध होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वज्ञत्व को अविद्यात्मक नाम और रूप बीज के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, 'तस्माद्वा०' (उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि वाक्यों से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त, ईश्वर से जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय होते हैं, अचेतन प्रधान से या अन्य से नहीं, इस अर्थ की 'जन्माद्यस्यतः' इस सूत्र में प्रतिज्ञा की गई है। वह प्रतिज्ञा वैसी ही है, यहाँ उससे कुछ विरुद्ध नहीं कहा जाता। आत्मा अत्यन्त, एक और अद्वितीय है, ऐसा तुम्हारे प्रतिपादन करने

से यह कथन विरुद्ध क्यों नहीं है? ऐसा यदि कहो तो सुनो, सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मभूत् से अविद्या से कल्पित, तत्व या अन्यत्व से अनिर्वचनीय एवं संसाररूप प्रपंच के बीजभूत नाम और रूप सर्वज्ञ ईश्वर की मायाशक्ति और प्रकृतिरूप से श्रुति और स्मृति में कहे गये हैं। उन दोनों से भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि 'आकाशो वै नाम०' (आकाशआत्मा नाम और रूप का व्याकरण-निर्माण करने वाला है, ये दोनों जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है) ऐसी श्रुति है, और 'नाम रूपे व्याकरवाणि' (मैं नाम और रूप को व्यक्त करूँगा), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य०' (धीर-परमात्मा ही सब रूपों को उत्पन्न करके सबका नाम रखकर और उनमें प्रविष्ट होकर बोलना-चलना आदि व्यवहारों को करता हुआ स्थित है) 'एक बीज बहुधा०' (एक बीज को जो बहुधा करता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। इस प्रकार अविद्याजन्य नाम-रूप उपाधि का अनुरोधी ईश्वर होता है, जैसे कि घट-करक आदि उपाधियों का अनुरोधी आकाश होता है, और घटाकाश सदृश अविद्या द्वारा उत्थापित नाम और रूप से किये हुए कार्यकारणसंघात का अनुरोधी स्वात्माभूत जीवसंज्ञक विज्ञानात्मा के ऊपर ही व्यवहार के विषय में शासन करता है। इसलिए इस प्रकार अविद्यारूप उपाधि के परिच्छेद से ही ईश्वर का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व है, परमार्थतः विद्या द्वारा सब उपाधियों से रहित आत्मा में ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि सब व्यवहार उपपन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार कहा है – 'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिसमें किसी दूसरे को नहीं देखता, किसी दूसरे को नहीं सुनता, किसी दूसरे को नहीं जानता, वह भूमा ब्रह्म है और 'यत्र स्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्चेत्' (जिस काल में इसका सब आत्मा ही हो गया, उस काल में किससे किसको देखें) इत्यादि से। इस प्रकार परमार्थ अवस्था में सब वेदान्त सब व्यवहारों का अभाव कहते हैं। इसी प्रकार भगवान गीता में भी – 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' (प्रभु लोकों का कर्तृत्व या कर्म अथवा कर्मफल का संयोग उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वभाव (माया) के प्रवृत्त होता है। विभु किसी के पाप या पुण्य का नाश नहीं करता, अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उससे जन्तु मोहित होते हैं) इस प्रकार पारमार्थिक अवस्था में ईशितृ, ईशितव्य आदि व्यवहार का अभाव दिखलाते हैं। व्यवहारावस्था में तो श्रुति में भी ब्रह्म का ईश्वर आदि रूप से व्यवहार कहा गया है– "एष सर्वेश्वर एष०" (यह सब का ईश्वर है, यह सब भूतों का अधिपति है, यह भूतों का पालक है। लोकों की मर्यादा असंभिन्न न होने के लिए यह व्यवस्था करने वाला सेतु है।) इसी प्रकार भगवद्गीता में भी – ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (हे अर्जुन यन्त्रारूढ़ जैसे सब प्राणियों को माया से घूमता हुआ ईश्वर सब भूतों के हृदय स्थान में रहता है) सूत्रकार भी परमार्थ के अभिप्राय से 'तदनन्यत्वम्०' (कार्य-कारण का अनन्यत्व-अभेद) ऐसा सूत्र में कहते हैं। व्यवहार के अभिप्राय से 'स्याल्लोकवत्' विभाग होगा लोक के समान) इस प्रकार ब्रह्म को महासमुद्र-जैसा

कहते हैं। और कार्यप्रपंच का प्रत्याख्यान किये बिना सगुण-उपासना में उपयोगी हो सकेगा, ऐसा विचार कर परिणाम-प्रक्रिया का आश्रयण करते हैं।

(2) भावे चोपलब्धेः– इससे भी कारण से कार्य अभिन्न है, क्योंकि कारण के अस्तित्व में ही कार्य उपलब्ध होता है, कारण के अभाव में उपलब्ध नहीं होता। वह इस प्रकार है– मृत्तिका के रहते घट उपलब्ध होता है, और तन्तुओं के रहते पट उपलब्ध होता है। अन्य पदार्थ की सत्ता में अन्य पदार्थ की उपलब्धि नियम से नहीं होती। अश्व गौ से भिन्न है, अतः गौ के अस्तित्व में ही अश्व उपलब्ध होता है, ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार कुलाल के अस्तित्व में ही घट उपलब्ध होता है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि कार्य-कारण भाव रहने पर भी दोनों परस्पर भिन्न हैं। परन्तु अन्य की सत्ता अन्य की उपलब्धि नियम से देखी जाती है, जैसे कि अग्नि के रहते ही धूम की उपलब्धि होती है। इस पर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्नि बुझने के पीछे भी गोपाल घुटिका (घटिका) आदि में धारण किया हुआ धूम देखने में आता है। यदि धूम को किसी विशेषण से विशिष्ट कर दें कि ऐसा धूम अग्नि के अभाव में नहीं होता, तो ऐसा निवेश करने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य-कारण की सत्ता से अनुरक्त बुद्धि को हम कार्य-करण के अभेद में हेतु कहते हैं। और ऐसी बुद्धि अग्नि और धूम में नहीं है। अथवा 'भावाचोपलब्धेः' ऐसा सूत्र है। केवल शब्द से ही कार्य और कारण अभिन्न नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्ष से भी उनका अभेद उपलब्ध होता है, ऐसा अर्थ है। कार्य-कारण के अभेद की प्रत्यक्षतः उपलब्धि होती है। वह इस प्रकार है – तन्तु रचना विशेष रूप पट में तन्तु से व्यतिरिक्त पट नाम का कार्य उपलब्ध होता ही नहीं, केवल आतान और वितान वाले तन्तु ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तन्तुओं में उनके अवयव भूत अंशु ही उपलब्ध होते हैं और अँशुओं में उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं तदन्तर वायु और उसके अनन्तर आकाश मात्र है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। तदुपरान्त केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है, उसमें सब प्रमाणों की परिसमाप्ति हमने कह दी है।

(3) सत्वाच्चावरस्य[1] – और इससे भी कारण से कार्य अभिन्न है, क्योंकि अर्वाचीन कार्य उत्पत्ति के पहले कारण रूप से कारण में ही विद्यमान था। कारण 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सौम्य! सृष्टि से पहले यह जगत सत्स्वरूप ही था), 'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टि से पूर्व में यह जगत केवल आत्मा रूप ही था) इत्यादि में 'इदम्' शब्द से गृहीत कार्य का कारण के साथ सामानाधिकरण्य कहा गया है। जो जिस स्वरूप से जिसमें नहीं होता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालू से तेल उत्पन्न नहीं होता। इसलिए उत्पत्ति के पूर्व में अभिन्न होने से उत्पत्ति के अनन्तर भी कार्य कारण से अभिन्न हैं, ऐसा समझा जाता है। जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित

---

1. ब्रह्मसूत्र 2/1/16

नहीं होता, उसी प्रकार कार्य जगत् भी तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है। सत्व तो एक है, इससे भी कार्य कारण से अभिन्न है।

(4) युक्तेः शब्दान्तराच्च–[1] युक्ति से और अन्य श्रुति से भी उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता और कारण से अभेद ज्ञात होता है। प्रथम युक्ति का वर्णन किया जाता है – व्यवहार में देखा जाता है कि दधि, घट, रुचक आदि की इच्छा वाले दूध, मृत्तिका, सुवर्ण आदि नियत कारणों का ग्रहण करते हैं। दधि की इच्छा वाले मृत्तिका का ग्रहण नहीं करते और घट की इच्छा वाले दूध का ग्रहण नहीं करते। यह असत्कार्यवाद में उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व सबका सर्वत्र असत्व साधारण होने से दूध से ही दधि क्यों उत्पन्न होता है और मृत्तिका से क्यों नहीं होता, उसी प्रकार मृत्तिका से ही घट क्यों उत्पन्न होता है, दूध से क्यों नहीं होता। पूर्व में असत्व के साधारण होने पर भी दूध में ही दही का कुछ गुण विशेष है, मृत्तिका में नहीं है और मृत्तिका में ही घट का कुछ गुण विशेष है, दूध में नहीं है, ऐसा कहोगे, तो इससे पूर्व की अवस्था के गुण विशिष्ट होने से असत्कार्यवाद की हानि और सत्कार्यवाद की सिद्धि होगी। और कार्य के नियमन के लिए कल्प्यमान कारण शक्ति अन्य या असत् होने से कार्य का नियमन नहीं कर सकेगी, क्योंकि असत्व में कोई विशेष नहीं है और अन्यत्व में भी कोई विशेष नहीं है। इसलिए कारण की आत्मभूत शक्ति है और शक्ति का आत्मभूत कार्य है। और कार्य-कारण में तथा द्रव्य गुण आदि में अश्व और महिष के समान भेद बुद्धि नहीं है, इसलिए उनमें तादात्म्य का स्वीकार करना चाहिए।

समवाय की कल्पना में भी समवाय का समवायियों के साथ संबंध स्वीकार करने पर उनके भिन्न-भिन्न संबंधों की कल्पना करनी पड़ेगी, ऐसा करने से अनवस्था हो जाएगी और न स्वीकार करने पर कार्य और कारण तथा द्रव्य और गुण आदि का विच्छेद हो जाएगा। समवाय स्वयं संबंध रूप होने से दूसरे संबंध की अपेक्षा के बिना ही संबद्ध होता है, ऐसा यदि कहो, तो संयोग भी स्वयं संबंध रूप होने से समवाय की अपेक्षा के बिना ही संबद्ध हो जाएगा। और तादात्म्य की प्रतीति से द्रव्य, गुण आदि में समवाय की कल्पना अनर्थक है। और कार्य–अवयवी द्रव्य जो कारण– अवयव द्रव्यों में रहता है, वह किस प्रकार रहता है? क्या समस्त अवयवों में रहता है अथवा प्रत्येक अवयव में रहता है? यदि समस्त अवयवों में रहे, तो अवयवी की अनुपलब्धि हो जाएगी, क्योंकि समस्त अवयवों का इन्द्रियों के साथ संनिकर्ष नहीं होता, जैसे कि समस्त आश्रयों में रहने वाले बहुत्व का किसी एक आश्रय के ग्रहण से ग्रहण नहीं होता। यदि समस्त अवयवों में अवयवावच्छेद से रहें, तो जिन आरम्भक अवयवों में अवयवी अवयवावच्छेद से रहता है, उन आरम्भक अवयवों से भिन्न अवयवी के अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी। यह प्रसिद्ध है कि

---

1. ब्रह्मसूत्र 2/1/18

कोश के अवयवों से भिन्न अवयवों से तलवर कोश को व्याप्त करती है। ऐसी अवस्था में अनवस्थादोष होगा, क्योंकि उन उन अवयवों में रहने के लिए अन्य-अन्य अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि प्रत्येक अवयव में रहे, तो एक स्थान पर व्यापार होने पर दूसरे स्थान में व्यापार न होगा, क्योंकि स्रुघ्न में रहता हुआ देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्र में नहीं रह सकता। एक ही समय अनेक स्थान में रहे, तो स्रुघ्न और पाटलिपुत्र में रहने वाले देवदत्त और यज्ञदत्त के समान अनेकत्व का प्रसंग आवेगा। गोत्व आदि के समान प्रत्येक में परिसमाप्ति होने से दोष नहीं है, ऐसा कहो तो, नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। यदि गोत्व आदि के समान अवयवी प्रत्येक में परिसमाप्त हों, तो जैसे गोत्व का प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष ग्रहण होता है, वैसे ही अवयवी का भी प्रत्येक अवयव में प्रत्यक्ष ग्रहण होगा। परन्तु ऐसा नियम से ग्रहण नहीं होता। प्रत्येक में परिसमाप्ति हो, तो अवयवी को कार्य के साथ अधिकार होने से और उसके एक होने से गाय सींग से भी स्तन का कार्य करेगी और छाती से पीठ का कार्य करेगी। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता।

और उत्पत्ति के पूर्व कार्य अविद्यमान हो, तो उत्पत्ति कर्तृरहित और निरात्मक हो जाएगी। उत्पत्ति क्रिया है, वह गति आदि के समान सकर्तृक ही हो सकती है। क्रिया अकर्तृक हो, यह विरुद्ध है। घट की उत्पत्ति घटकर्तृक नहीं है, किन्तु अन्य कर्तृक है, ऐसी कल्पना करनी होगी। इसी प्रकार कपाल आदि की उत्पत्ति भी तो अन्यकर्तृक ही है, ऐसी कल्पना करनी होगी। ऐसा होने से घट उत्पन्न होता है, ऐसा कहने से कुलाल आदि कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जायगा। परन्तु लोक में घट की उत्पत्ति ऐसा कहने से कुलाल आदि की भी उत्पत्ति प्रतीत नही होती, क्योंकि घट उत्पन्न होता है, इस ज्ञान के अनन्तर कुलाल आदि उत्पन्न हुए हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता। यदि उत्पत्ति का अर्थ अपने कारण या सत्ता के साथ अपना संबंध और कार्य का आत्मलाभ हो तो जिसने सत्ता प्राप्त नहीं की वह कैसे संबद्ध होगा, यह कहना चाहिए, क्योंकि दो विद्यमान पदार्थों में संबंध होता है, विद्यमान और अविद्यमान या दो अविद्यमानों में नहीं होता, और अभाव के असत् होने से, उत्पत्ति के पूर्व ऐसी अवधि करना युक्त नहीं है, क्योंकि लोक में विद्यमान क्षेत्र, गृह आदि की मर्यादा देखी जाती है, अभाव की नहीं देखी जाती। पूर्णवर्मा के अभिषेक के पूर्व बन्ध्यापुत्र राजा था, इस प्रकार की मर्यादा करने से असत् वन्ध्यापुत्र राजा था, है या होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि बन्ध्यापुत्र भी कारक के व्यापार के अनन्तर उत्पन्न होता, तो असत् कार्य भी कारक के व्यापार के अनन्तर होता है, यह कथन भी उत्पन्न होता। हम तो ऐसा देखते हैं कि वन्ध्यापुत्र और कार्याभाव दोनों अभाव हैं, इसलिए जैसे कारक के व्यापार के अनन्तर वन्ध्यापुत्र नहीं होता, वैसे कार्याभाव भी कारक के व्यापार के अनन्तर नहीं होगा। परन्तु ऐसी परिस्थिति में तो कारक के व्यापार निरर्थक हो जायेंगे। जैसे पूर्व में सिद्ध होने से कारण स्वरूप की सिद्धि के लिए कोई व्यापार नहीं करता, वैसे ही कार्य के पूर्व में सिद्ध होने

और उससे अनन्य होने से उसके स्वरूप की सिद्धि के लिए भी कोई व्यापार न करेगा। परन्तु व्यापार तो करता है, इससे कारण का व्यापार सप्रयोजन होने के लिए उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अभाव है, ऐसा हम मानते हैं। यह दोष नहीं है, क्योंकि कार्य स्वरूप से कारण की व्यवस्था करने वाले को कारक-व्यापार सप्रयोजन है, ऐसी उपपत्ति होगी। कार्य का स्वरूप भी कारण का आत्मभूत ही है, क्योंकि जो अनात्मभूत है वह अनारम्भ है, ऐसा कहा है। और वस्तु-विशेष दर्शन मात्र से अन्य नहीं हो जाती। हाथ-पैरों को सिकोड़े हुए और हाथ-पैरों को फैलाये हुए देवदत्त में यद्यपि कुछ विशेषता दीखती है, तथापि वास्तव में कुछ भेद नहीं है, क्योंकि नहीं है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी प्रकार प्रतिदिन आकृतियों में भेद आने पर भी पिता आदि अन्य नहीं हो जाते, क्योंकि मेरा पिता, मेरा भ्राता, मेरा पुत्र ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। जन्म और उच्छेद का व्यवधान नहीं है इससे वहाँ यह युक्त है, अन्यत्र नहीं, ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते, क्योंकि दूध आदि दही के आकार में हैं, ऐसा प्रत्यक्ष है। वट के बीज आदि जो अदृश्यमान हैं, वे भी अन्य समानजातीय अवयवों से वृद्धि पाकर अंकुरादि भावों से दृष्टिगोचर होते हैं, तब उनकी जन्म संज्ञा होती है और वे ही अवयव क्षय हो जाने से जब अदर्शनता प्राप्त करते हैं, तब उनकी उच्छेद संज्ञा होती है। उनमें ऐसे जन्म और उच्छेद का व्यवधान होने से असत् सत् हो और सत् असत् हो, तो ऐसा होने से गर्भ में रहने वाले और उतान होकर सोने वाले इन दोनों में भेद होगा। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और स्थविर में भेद का प्रसंग हो जाएगा। इसी प्रकार पिता आदि व्यवहार लुप्त हो जायेंगे। इससे क्षणभंगवाद का प्रत्याख्यान हुआ समझना चाहिए। परन्तु जिसके मत में उत्पत्ति के पूर्व कार्य अविद्यमान है, उसके मत में आकाश को मारने के लिए खड्ग आदि अनेक आयुधों के समान कारक व्यापार निर्विषय हो जायगा, क्योंकि अभाव विषय नहीं हो सकता। कारक व्यापार का विषय समवायी कारण होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते। अन्य विषय कारक व्यापार से अन्य की निष्पत्ति हो, तो अति प्रसंग होगा। कार्य-समवायी कारण का ही अतिशय है, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाएगा। इसलिए दूध आदि पदार्थ दधि आदि के स्वरूप से रहते हुए कार्य की संज्ञा प्राप्त करते हैं। कारण से कार्य को सौ वर्ष में भी अन्य करना शक्य नहीं है। उसी प्रकार मूल कारण ही अन्त्य कार्य पर्यन्त उस कार्य के आकार से नट के समान सब व्यवहार का आश्रय होता है। इस प्रकार उत्पत्ति के पूर्व कार्य का सत्व और कारण से अनन्यत्व युक्ति से समझा जाता है और अन्य शब्द से भी यह समझा जाता है। पूर्व सूत्र में असत् का व्यपदेश करने वाला शब्द कहा गया है, इससे अन्य अर्थात् जिनमें सत् का व्यपदेश है, वे अन्य शब्द हैं – 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य, पूर्व में यह सत्स्वरूप एक अद्वितीय था) इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदस०' (कुछ लोग कहते हैं कि पूर्व में यह असत्स्वरूप ही था) इस प्रकार असत्पक्ष का उपक्षेप करके

'कथमसतः०' (असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो) ऐसा आक्षेप करके 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य, पूर्व में यह सत्स्वरूप ही था) ऐसा श्रुति निर्णय करती है। उसमें इदम् शब्द का वाच्य जो कार्य है, उसका उत्पत्ति के पूर्व सत् शब्द वाच्य कारण के साथ सामानाधिकरण्य श्रुति में कहा गया है, उससे सत्व और कारण भेद स्पष्टतया-स्पष्टतया सिद्ध होते हैं। यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् हो और पीछे से उत्पन्न होकर कारण में समवेत हो, तो कारण से अन्य हो। ऐसा होने पर 'येनाश्रृतं०' (जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है) इस प्रतिज्ञा का बाध हो जाएगा। सत्य और अभेद की अवगति से तो इस प्रतिज्ञा का समर्थन होता है।

(4) पराविद्या

[डा. पाल डायसन ने वेदान्त-दर्शन में पराविद्या और अपरावद्या का अच्छा वर्णन किया है। उनके मत से शारीरकभाष्य 4/3/14 में शंकरचार्य ने पराविद्या के छः विभागों का वर्णन किया है। हम 4/3/14 के भाष्य को इन विभागों के क्रम में नीचे उद्‌घृत कर रहे हैं।]

(क) क्या मुक्त पुरुष ब्रह्म में प्रवेश करते हैं?

कुछ लोग कहते हैं कि गति-श्रुतियाँ ब्रह्म-विषयक है। किन्तु यह संगत नहीं है, क्योंकि ब्रह्म प्राप्यत्व की – गन्तव्यत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है। कारण कि 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (आकाश के समान सर्वगत और नित्य आत्मा है), 'यत्साक्षात्०' (जो ब्रह्म अव्यवहित है, वह अपरोक्ष होने से गौण नहीं है), 'य आत्मा सर्वान्तरः (जो आत्मा सबके अभ्यन्तर है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (आत्मा ही यह सब है) इत्यादि श्रुतियों से जिस ब्रह्म का सर्वग तत्व रूप से, सर्वान्तरत्व रूप से और सर्वात्मकत्व रूप से विशेष निर्धारण किया गया हो, उसमें गन्तव्यता की कभी भी उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जो प्राप्त ही है, वह प्राप्य नहीं कहा जा सकता है। और लोक में यह प्रसिद्ध है कि अन्य अन्य के प्रति जाता है। परन्तु लोक में जो प्राप्त है, उसमें भी अन्य देश के योग से गन्तव्यता देखी जाती है, जैसे पृथ्वी में रहा हुआ ही अन्य देश द्वारा पृथ्वी के प्रति जाता है, उसी प्रकार बालक के अनन्य होने पर भी अन्य काल से विशिष्ट स्वात्मभूत ही वार्धक्य के प्रति बह जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त होने के कारण ब्रह्म भी किसी प्रकार गन्तव्य हो सकता है? नहीं, नहीं हो सकता है, क्योंकि सब विशेषों का ब्रह्म में प्रतिषेध है – 'निष्कलं निष्क्रयम्०' (ब्रह्म अवयव-रहित है, क्रिया-रहित है, शान्त है, अनिंद्य है और निर्लेप है) 'अस्थूलम०' (ब्रह्म स्थूल अणु, ह्रस्व और दीर्घ नहीं है) 'स बाह्या' (वह ब्रह्म वाह्य और अभ्यन्तर है) 'सवा एष० (प्रसिद्ध यह आत्मा महान और नित्य है [इसी प्रकार] जरा-बुढ़ौती से, और मरण-विनाश से रहित है अतः अमृत है इसी से भय-रहित है) 'स एष०' (नहीं, नहीं, इत्यादि से मधु काण्ड में जो निर्दिष्ट है, वही यह आत्मा है) इत्यादि श्रुति, स्मृति और अनुकूल तर्कों से

परमात्मा में देश काल आदि विशेष योग की कल्पना नहीं कर सकते हैं, जिससे कि भू-प्रदेश और वयः– अवस्था के दृष्टान्त से इसमें गन्तव्यता की उपपत्ति की जाय। भू-पृथ्वी और वयः – अवस्था में तो प्रदेश, अवस्था आदि के विशेष योग से देश काल से विशिष्ट गन्यव्यता की उपपत्ति हो सकती है।

(ख) परा सृष्टिविद्या

परन्तु जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश बोधक श्रुति से ब्रह्म में अनेक शक्तिमत्व का प्रतिपादन किया गया है [इसलिए उक्त व्यवस्था हो सकती है यदि इस प्रकार शंका की जाय तो वह युक्त नहीं है।] क्योंकि विशेषता की निवारिका श्रुतियाँ अनन्यार्थक है अर्थात् स्वार्थ के प्रतिपादन में मुख्य है। यदि शंका हो कि उत्पत्ति आदि के बोधक श्रुति वाक्यों की भी अनन्यार्थकता समान है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे श्रुतियाँ एकत्व का ही प्रतिपादन करती हैं। मृत्तिका आदि के दृष्टान्तों से सत्स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म के सत्यत्व का और विकार के अनृतत्व का – असत्यत्व का प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र उत्पत्ति आदि का बोधक कदापि नहीं हो सकता है।

परन्तु यह किस प्रकार समझा जाता है कि उत्पत्ति आदि की प्रतिपादिका श्रुतियाँ विशेष निराकरण श्रुतियों की अंग हैं और विशेष निराकरण श्रुतियाँ उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुतियाँ की अंग नहीं है। कहते हैं – विशेष के निराकरण के लिए जो श्रुतियाँ प्रवृत्त हैं, वे निरकांक्षार्थक हैं, क्योंकि आत्मा में एकत्व, नित्यत्व और शुद्धत्व आदि धर्मों की अवगति होने पर फिर कोई आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती है, कारण कि 'तत्र को मोह०' (एकत्व देखने वाले को उस काल में किस बात का मोह और किस बात का शोक? अर्थात् शोक और मोह एकत्वदर्शी को नहीं होते हैं) 'अभयं वै०' (हे जनक, तुम अभय को प्राप्त हुए हो) 'विद्वान्न०' (विद्वान किसी से भय प्राप्त नहीं करता है, मैंने साधु कर्म नहीं किये, असाधु-पाप कर्म मैने क्यों किये, इस प्रकार उस विद्वान को संताप नहीं होता है), इत्यादि श्रुतियों से पुरुषार्थ – पुरुष की अभीष्ट वस्तु की – समाप्ति विषयक बुद्धि उत्पन्न होती है। उसी प्रकार विज्ञानी को संतोष का अनुभव करते देखा जाता है। और विकार एवं अनृत के अभिसन्धान का अपवाद भी किया गया है, क्योंकि 'मृत्योः सः' (जो यहाँ मैं भिन्न हूँ और मुझसे यह अन्य है, इस प्रकार भिन्न सा देखता है वह जन्म-मरण परंपरा को प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुति हैं। इसलिए विशेष निराकरणार्थक जो श्रुतियाँ हैं, उनका अन्य-शेषत्व कल्पित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उत्पत्यादि श्रुतियाँ निराकांक्ष अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है, क्योंकि उनका अन्यार्थत्व प्रत्यक्ष ही है, जैसे कि 'तत्रैतच्छुङ्ग०' (जल के अशित के – भक्षित के प्रति नेता होने पर यह शरीर रूपी शुङ्ग कार्य वह आदि अङ्कुर के समान उत्पन्न हुआ, हे सोम्य! ऐसा तुम जानो, इसलिए यह शरीर रूप शुङ्ग मूल– कारण-रहित नहीं होगा) इस प्रकार

उपक्रम करके अन्त में सद्रूप एक ही जगत का मूल विशेष रूप से कहा गया है। और 'यतो वा इमानि०' (जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिसकी सामर्थ्य से उत्पन्न हुए ये भूत जीते हैं, [प्रलय काल में] जिसमें प्रयाण करते हैं, उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा करो, क्योंकि वही ब्रह्म है) इत्यादि भी है। इस प्रणाली से उत्पत्ति बोधक श्रुतियों का एकात्मता-अवगम ही प्रयोजन होने से ब्रह्म में अनेक शक्ति का योग नहीं हो सकता है। इसलिए परब्रह्म में गन्तव्य की उपपत्ति नहीं हो सकती है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति०' (जिसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, ब्रह्म ही होकर ब्रह्म में लीन होता है) इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्म में गति का निवारण करती है, उसका 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' इस सूत्र में व्याख्यान किया जा चुका है।

(ग) परा अध्यात्मविद्या

गति की यदि कल्पना की जाय, तो गमन करने वाला जीव गन्तव्य ब्रह्म का अवयव होगा, या विकार होगा अथवा उससे अन्य होगा, क्योंकि अत्यन्त तादात्म्य यदि मानोगे, तो गमन की उपपत्ति नहीं होगी, यदि ऐसा हो, तो क्या होगा? कहते हैं – यदि जीव ब्रह्म का एकदेश हो, तो उससे एकदेशी के नित्य प्राप्त होने से पुनः ब्रह्मगमन उपपन्न नहीं होगा, और एकदेशत्व की कल्पना ब्रह्म में विरुद्ध है, क्योंकि ब्रह्म का निरवयवत्व प्रसिद्ध है, विकार पक्ष में भी यह अनुपपत्ति समान है, कारण कि विकार से विकारी नित्य प्राप्त है। घट मृदात्मता को छोड़कर नहीं ठहर सकता है, यदि मृदात्मता का परित्याग करेगा, तो अभाव की प्रसक्ति होगी। विकार पक्ष में और अवयव पक्ष में विकारी और अवयवी ब्रह्म के स्थिर होने से संसार के गमन का भी असम्भव है। अब यदि जीव को ब्रह्म से अन्य मानते हैं, तो वह अणु, व्यापी अथवा मध्यम परिमाण वाला हो सकता है। व्यापी होने पर गमन अनुपपन्न है, मध्यम परिमाण वाला माना जाय, तो अनित्यत्व का प्रसंङ्ग होगा। अणु मानने पर सम्पूर्ण शरीर-वृत्ति-वेदना की उपपत्ति नहीं होगी, अणुत्व और मध्यम परिमाणत्व का पूर्व में सविस्तार निराकरण किया गया है। यदि ईश्वर से जीव अन्य माना जाय, तो 'तत्वमसि' इत्यादि शास्त्र के बाध का प्रसङ्ग होगा। और यह दोष तो विकार और अवयव पक्ष में भी समान है। परन्तु विकार-अवयव विकारी और अवयवी से अनन्य है, अतः उक्त दोष नहीं है; नहीं, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि मुख्य एकत्व की अनुपपत्ति होती है। और इन सभी पक्षों में अनिर्मोक्ष-प्रसक्ति तो है ही, क्योंकि संसारी आत्मा की निवृत्ति नहीं होगी अथवा वृत्ति होने पर स्वरूप-नाश प्राप्त होगा, क्योंकि ब्रह्मत्मता का स्वीकार नहीं है।

(घ) परा आचारविद्या

और कुछ लोग कहते हैं – नित्य कर्मों का और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति के लिए किया जाता है, काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों का परित्याग, स्वर्ग और नरक की प्राप्ति के परिहार के लिए है और वर्तमान देह में

उपभोग्य जो कर्म है, उनका उपभोग से ही क्षय होगा, इसलिए वर्तमन शरीर के विनाश के बाद अन्य देह के सम्पादक कारण के न होने से स्वरूपावस्थान रूप कैवल्य ब्रह्मात्मता के बिना ही उस पुरुष को प्राप्त होगा यह कथन असत् है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, कारण कि मोक्षार्थी को ऐसा आचरण करना चाहिए ऐसा किसी शास्त्र ने प्रतिपादन नहीं किया है। परन्तु संसार के कर्म-निमित्तक होने से निमित्तक के अभाव में संसार नहीं रहेगा, ऐसा स्वबुद्धि से तर्क किया है और उस प्रकार तर्क भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि निमित्त का अभाव दुर्ज्ञेय है। एक प्राणी के अन्य-अन्य जन्म में संचित हुए इष्ट और अनिष्ट विपाक वाले अनेक कर्म संभावित है। उन कर्मों का, जिनका फल अत्यन्त विरुद्ध है, एक काल में उपभोग नहीं हो सकने से जिनको अवसर मिला है, ऐसे कुछ कर्म इस जन्म को बनाते हैं और अवशिष्ट कर्म देश काल और निमित्त की अपेक्षा करते रहते हैं, इसलिए उन अवशिष्ट कर्मों का वर्तमान उपभोग से क्षय न होने के कारण पूर्वोक्त रीति से जिसके चरित्र का वर्णन किया है, उसको वर्तमान शरीर के नाश होने पर भी अन्य देह के निमित्त का अभाव निश्चित नहीं हो सकता है। कर्म शेष के सद्भाव की सिद्धि तो 'तद्य इह रमणीयचरणा' (इसलिए जो यहां रमणीय आचरण वाले हैं) 'ततः शेषेणः' (पीछे शेष से) इत्यादि श्रुति और स्मृति से सिद्ध हुआ है। परन्तु यह शङ्का हो सकती है – नित्य और नैमित्तिक कर्म उसके नाशक हो सकते हैं; नहीं, यह युक्त नहीं है, क्योंकि उनका विरोध नहीं है, विरोध के होने पर नाश्यनाशकभाव माना जाता है और जन्म में संचित कर्मों का – सुकृतों का नित्य और नैमित्तिक के साथ विरोध नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वरूपत्व दोनों में समान है। दुरितों का, अशुद्धि रूपता होने से विरोध होने के कारण भले ही विनाश हो, परन्तु इससे अन्य देह के निमित्त का अभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सुकृत निमित्त हो, इस प्रकार युक्त है। और दुरित का भी सर्वथा निःशेष विनाश ज्ञात नहीं होता है। इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिक के अनुष्ठान से प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति ही होती है और अन्य फल की उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि आपस्तम्ब कहते हैं कि 'तद्यथाम्रे फलार्थे०' (जैसे फल के लिए निर्मित आम्रवृक्ष के पीछे छाया और गन्ध उत्पन्न होते हैं, वैसे ही धर्म के अनुष्ठान करने पर अर्थ उत्पन्न होते हैं) और सम्यक् ज्ञान जब तक न हो तब तक जन्म और मरण के बीच में काम्य और प्रतिषिद्ध के त्याग की कोई भी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, क्योंकि बड़े-बड़े बुद्धिमान् निपुणों का भी सूक्ष्म अपराध देखने में आता है। यद्यपि संशय हो सकता है, तो भी निमित्ताभाव का ज्ञान तो दूर ही है। इसी प्रकार ज्ञान से गम्य ब्रह्मात्मत्व का स्वीकार न किया जाय, तो कर्तृत्व, भोक्तृत्व स्वभाव वाली आत्मा के कैवल्य की आकांक्षा ही नहीं होगी, क्योंकि अग्नि के औष्ण के समान स्वभाव अपरिहार्य है।

और भी शंका है – कर्तृत्व भोक्तृत्व का कार्य अनर्थ है, उसकी शक्ति अनर्थ नहीं है। इसलिए शक्ति के स्थित होने पर भी कार्य का परिहार होने से मोक्ष उपपन्न हो सकता है? परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि शक्ति का सद्भाव होने पर कार्य के प्रसव का निराकरण नहीं हो सकता है। एक और भी शंका हो सकती है कि केवल शक्ति-अन्य कारणों की अपेक्षा न करके कार्य का आरम्भ नहीं कर सकती है, इससे वह अकेली स्थित है, तो भी अपराध नही करती? परन्तु यह भी युक्त नही है, क्योंकि निमित्त भी शक्ति रूप सम्बन्ध के साथ नित्य संबंद्ध है। इसलिए कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वभाव होने से आत्मा में जब तक विद्यागम्य ब्रह्मात्मत्व न हो, तब तक किसी प्रकार मोक्ष की आशा नहीं करनी चाहिए, 'नान्यः पन्था०' (मोक्ष के लिए ज्ञान के बिना और मार्ग नहीं है) इस प्रकार की श्रुति भी ज्ञानातिरिक्त मोक्ष-मार्ग का प्रतिषेध करती है। ईश्वर से जीव अनन्य है, इस पक्ष में भी सर्व व्यवहार के लोप का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उस पक्ष में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है; नहीं, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि प्रबोध के पूर्व में स्वप्न आदि के समान व्यवहार उपपन्न हो सकता है। 'यत्र हि द्वैतमिव०' (जिस अविद्यावस्था में द्वैत सा होता है, उस काल में अन्य-अन्य को देखता है) इत्यादि शास्त्र अप्रबुद्ध विषय में प्रत्यक्षादि व्यवहार को कह कर फिर प्रबुद्धावस्था में यत्र त्वस्य (जिस विद्योदय काल में इसको सब आत्मा ही हो गया, तब किस कारण से किस विषय को देखें) इत्यादि से उसके अभाव को दिखलाती है। उक्त रीति से परब्रह्म-ज्ञानी के गन्तव्यत्व आदि विज्ञान का बाध होने से किसी प्रकार गति की उपपत्ति नहीं कर सकते हैं।

(च) परा उत्क्रमणविद्या

तब गति-श्रुतियाँ किसको विषय करती है? कहते हैं – सगुणविद्या को विषय करेंगी। किस प्रकार उसे देखिए – कहीं पंचाग्निविद्या का उपक्रम करके गति कही जाती है, तो कहीं पर पर्यङ्कविद्या का और कहीं पर वैश्वानरविद्या का उपक्रम करके गति कही जाती है। और जहाँ पर ब्रह्म का उपक्रम करके गति कही जाती है –जैसे 'प्राणो ब्रह्म०' (प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है) इत्यादि, और 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे०' (अब इस ब्रह्मपुर – शरीर में जो अल्प पुण्डरीक वेश्म है) इत्यादि, वहाँ पर भी वामनीत्व, सत्यकामत्व आदि गुणों के द्वारा सगुण ब्रह्म उपास्य है, अतः गति का सम्भव है। और जैसे 'न तस्य प्राणा०' (उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इस प्रकार गति का प्रतिषेध सुनाया गया है, वैसे परब्रह्म विषयक गति का श्रवण नही है। 'ब्रह्मविदाप्नोति०' (ब्रह्मवेत्ता पर को प्राप्त करता है) इत्यादि में यद्यपि गत्यर्थक 'आप्' धातु है, तथापि पूर्वोक्त न्याय से अन्य देश की प्राप्ति का असम्भव होने से अविद्या से अध्यारोपित नाम-रूप के प्रविलय की अपेक्षा 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होकर वह ब्रह्म में लीन होता है) इत्यादि

के समान स्वरूप-प्राप्ति का ही अभिधान है, ऐसा समझना चाहिए। और परब्रह्म में गति का व्याख्यान किया जाय, तो वह प्ररोचन के लिए होगी अथवा अनुचिन्तन के लिए होगी? उसमें परतत्व के अभिज्ञ पुरुष में गति की उक्ति से प्ररोचन नहीं किया जाता है, क्योंकि वह तो स्वसंवेद्य विद्या-समर्पित स्वास्थ्य से ही सिद्ध है। नित्यसिद्ध निःश्रेयस का जिसमें निवेदन है और साध्य जिसका फल नहीं है ऐसे विज्ञान की गति के अनुचिंतन में कोई अपेक्षा उपपन्न नहीं होती। इससे गति अपर ब्रह्म-विषयक है। उसमें पर और अपर ब्रह्म के परस्पर विवेक का अवधारण न होंने से अपर ब्रह्म में वर्तमान गति-श्रुतियाँ परब्रह्म में अध्यारोपित होती है।

(छ) परा ब्रह्मविद्या

पर और अपर रूप क्या दो ब्रह्म हैं? हाँ, दो ब्रह्म हैं, क्योंकि 'एतद्वै सत्यकाम०' (हे सत्यकाम, जो ओंकार है वह परब्रह्म और अपर ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों में दो प्रकार के ब्रह्म देखने में आते हैं। अच्छा तो परब्रह्म किसे कहते हैं और अपर ब्रह्म किसे कहते हैं? कहा जाता है – जहाँ अविद्या-प्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिषेध से अस्थूल आदि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। और वह जब नाम और रूप आदि किसी विशेष से विशिष्ट होता हुआ उपासना के लिए कहा जाता है – 'मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः' (मनोमय, प्राण शरीर और प्रकाश रूप) इत्यादि शब्दों से तब वही अपर ब्रह्म होता है। परन्तु ऐसा होने पर अद्वितीय -श्रुति विरुद्ध होगी? नहीं, क्योंकि अविद्या-जन्य नाम, रूप आदि उपाधि से युक्त होने से उसका निराकरण किया जा चुका है और अपर ब्रह्म की उपासना का फल उसके समीप में श्रूयमाण 'स यदि पितृलोककामों भवति' (वह यदि पितृलोक की अभिलाषा करता है) इत्यादि श्रुति से जगत का ऐश्वर्य-फल जो संसार-लक्षण है अर्थात् संसार-रूप है, उसे प्राप्त करता है, क्योंकि अभी तक उसकी अविद्या निवृत्त नहीं हुई है और वह देश विशेष से अवरूद्ध है, इसलिए उस देश की प्राप्ति के लिए गमन विरुद्ध नहीं है। यद्यपि वह आत्मा सर्वगत – व्यापक है, तो भी घट आदि के गमन से जैसे आकाश का गमन होता है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधि के गमन से उसका भी गमन प्रसिद्ध है, ऐसा 'तद्गुण सारत्वात्' इत्यादि सूत्र में कहा गया है। इसलिए 'कार्य बादारिः' (बादरायण आचार्य के मत से कार्य ब्रह्म ही गम्य है) यही पक्ष स्थिर हुआ। 'परं जैमिनिः' (जैमिनि के मत से पर ब्रह्म ही गन्तव्य है) इस प्रकार अन्य पक्ष का प्रदर्शन तो केवल बुद्धि की विशदता के लिए ही है, ऐसा समझना चाहिए।

(5) शब्द से जगत की उत्पत्ति

[शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र 1/3/28 के भाष्य में भाषा-दर्शन का विवेचन किया है जिसमें स्फोटवाद का खंडन है।]

वैदिक शब्द से ही देव आदि जगत् उत्पन्न होता है। किन्तु "यन्माद्यस्ययतः" सूत्र में निश्चय किया गया है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है, तब यहाँ पर यह

कैसे कहते हैं कि शब्द से जगत् की उत्पत्ति होती है? और जबकि वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत आदि अर्थ उत्पन्न होने के कारण अनित्य ही है, तब किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि वैदिक शब्द से इस जगत की उत्पत्ति होती है, तो इतने ही से विरोध का परिहार किस प्रकार हुआ? वसु आदि ही अर्थ जब अनित्य है, तब उनके वाचक वैदिक 'वसु' आदि शब्दों का अनित्यत्व कौन रोक सकता है? लोक में प्रसिद्ध ही है कि देवदत्त के पुत्र होने पर ही उसका नाम यज्ञदत्त रखा जाता है, इसलिए शब्द में विरोध ही है।

ऐसा यदि कहो तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि गो आदि शब्दों और अर्थों का संबंध नित्य दिखाई देता है। गो आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति होने पर उनमें रहने वाली जातियों की भी उत्पत्ति हो, यह नियम नहीं है। द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती है, द्रव्यत्व आदि जतियाँ उत्पन्न नहीं होती। और शब्दों का संबंध जातियों के साथ है, व्यक्तियों के साथ नहीं है, क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त हैं। अतः उनके साथ शब्दों का संबंध-ग्रहण नहीं हो सकता। व्यक्तियों के उत्पन्न होने पर भी जातियों के नित्य होने से गो आदि शब्दों में कुछ विरोध नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार देव आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने पर भी जाति के नित्य होने से वसु आदि शब्दों में कुछ विरोध नहीं है, ऐसा समझना चहिए। मंत्र, अर्थवाद आदि से देवताओं के शरीर आदि की प्रतीति होने से उनकी जाति भी है, यह जानना चाहिए। अथवा सेनापति आदि शब्दों के समान इन्द्र आदि शब्द विशिष्ट स्थान के संबंध से प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जो-जो उस-उस स्थान पर आरूढ़ होता है उस-उसका इन्द्र आदि शब्दों से अभिधान होता है, अतः कोई दोष नहीं है। और जगत् शब्द से उत्पन्न होता है, यह कथन ब्रह्म से उत्पन्न होने के समान उपादान कारण के अभिप्राय से नहीं है। तब किस अभिप्राय से है? नित्य अर्थ के साथ संबंध रखने वाला जब नित्य शब्द वाचक स्वरूप से स्थित रहता है, तभी शब्द-व्यवहार योग्य अर्थ की निष्पत्ति होती है। इस आशय से शब्द से उत्पत्ति कही गई है।

परन्तु शब्द से जगत् उत्पन्न होता है, यह कैसे माना जाय? प्रत्यक्ष और अनुमान से। प्रत्यक्ष अर्थात् श्रुति, क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिए किसी की अपेक्षा नहीं होती। अनुमान अर्थात् स्मृति, क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिए श्रुति की अपेक्षा होती है। ये दोनों प्रमाण यह दिखलाते हैं कि सृष्टि शब्दपूर्वक है। 'एत इति वै प्रजापति०' ('एते' इस पद से देवताओं का स्मरण करके प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि, 'असृगम' से मनुष्यों का स्मरण करके मनुष्यों की, 'इन्दवः' से पितरों का स्मरण करके पितरों की, 'तिरः पवित्रम्' से ग्रहों का स्मरण करके करके ग्रहों की, आशवः से स्रोत का स्मरण करके स्तोत्र की, 'विश्वानि' से शास्त्र का स्मरण करके शास्त्र की और 'अभिसौभगा' में अन्य प्रजाओं का स्मरण करके अन्य प्रजाओं की सृष्टि की) यह श्रुति है। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर भी 'स मनसा वाचं०' (प्रजापति

ने मन से त्रयी रूप वाणी का आलोचन किया) इत्यादि स्थल-स्थल पर श्रुति शब्दपूर्वक सृष्टि का निर्देश करती है। स्मृति भी 'अनादि निधना 'नित्या०' (सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू ने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणी का उत्सर्ग किया, जिससे अन्य सृष्टियाँ हुई) यहीं निर्देश करती हैं। वाणी का यह उत्सर्ग भी सम्प्रदाय-प्रवर्तन स्वरूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्तवाणी का दूसरे प्रकार से उत्सर्ग नहीं हो सकता। उसी प्रकार 'नामरूपे च०' (उस महेश्वर ने आरम्भ में वेद-शब्दों से ही भूतों के नाम, रूप और सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति उत्पन्न की) और 'सर्वेषांतु स नामानि०' (उसने आरम्भ में सबके पृथक्-पृथक नाम और कर्म एवं अवस्थाओं का वेद-शब्दों से ही निर्माण किया) ये स्मृतियाँ भी वेद शब्द से ही सृष्टि दिखलाती है। और यह हम सब लोगों को प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है कि जब कोई पुरुष किसी वस्तु को बनाना चाहता है तब पहले उसके बाचक शब्द का स्मरण करता है और उसके पश्चात उस वस्तु को बनाता है। उसी प्रकार सृष्टि करने वाले प्रजापति के मन में सृष्टि से पहले वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए उसके पश्चात् शब्द के अनुगत अर्थों – वस्तुओं की भी उसने रचना की, ऐसा समझा जाता है। उसी प्रकार 'स भूरिति०' (उसने 'भू' ऐसा उच्चारण करके पृथ्वी की सृष्टि की) इत्यादि श्रुति मन में प्रादुर्भूत हुए भू आदि शब्दों से ही भू आदि लोकों की सृष्टि दिखलाती है।

शब्द से जो जगत् की सृष्टि कही गयी है, वह शब्द को वर्ण-रूप मान कर कही गई है या स्फोट-रूप मानकर? वैयाकरण कहते हैं कि स्फोट मान कर कही गयी है। यदि वर्णरूप शब्द से सृष्टि मानी जाय तो वर्णों के उत्पन्न और नष्ट होने के कारण 'नित्य' शब्दों से देवता आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, यह कथन असंगत हो जायेगा। वर्ण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, जैसे कि किसी अदृश्य पुरुष के अध्ययन की ध्वनि सुनने से ही यह विशेष रीति से निर्धारण किया जा सकता है कि यह देवदत्त अध्ययन कर रहा है या यज्ञदत्त। और वर्ण में होने वाली भेद-प्रतीति मिथ्या ज्ञान नहीं है, क्योंकि उस प्रतीति का कोई बाधक ज्ञान नहीं है। और वर्णों से अर्थ की अवगति भी नहीं हो सकती है। कारण कि एक-एक वर्ण अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता, क्योंकि अर्थ-ज्ञान का व्यभिचार-अभाव है। उसी प्रकार वर्ण के समुदाय से भी अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वर्ण क्रमिक है। पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव श्रवण से उत्पन्न हुए संस्कार के साथ अन्त्य वर्ण अर्थ की प्रतीति करावेगा, यदि ऐसा कहो, तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि शब्द संकेत-ग्रह की अपेक्षा रखता है, इसलिए धूम आदि के समान स्वयं प्रतीत होने पर अर्थ की प्रतीति करा सकता है। पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार के साथ अन्त्य वर्ण की प्रतीति ही नहीं हो सकती है क्योंकि संसार अप्रत्यक्ष है। यदि कोई कहे कि कार्य से ज्ञापित संस्कारों से युक्त अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति करावेगा, यह कथन भीं ठीक नही

है, क्योंकि संस्कार का कार्य स्मरण भी क्रमिक है, इसलिए स्फोट ही शब्द है। एक-एक वर्ण की प्रतीति ने जिसने संस्कार-रूप बीज डाला है और अन्त्य वर्ण की प्रतीति ने जिसने परिपाक उत्पन्न किया है, ऐसे चित्त में एक प्रतीति के विषय-रूप से वह स्फोट झट प्रकट होता है। और यह एक प्रतीति वर्ण-विषयक स्मृति नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक होने से एक प्रतीति के विषय नहीं हो सकते। प्रत्येक उच्चारण में उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वह नित्य है, भेद-प्रतीति तो वर्णों से संबंध रखती है। इसलिए स्फोट-रूप नित्य वाचक शब्द से क्रिया, कारक और फलरूप जगत् उत्पन्न होता है।

भगवान् उपवर्ष कहते हैं कि वर्ण ही शब्द है। वर्णों की उत्पत्ति और विनाश होता है, यह जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे ही वर्ण हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, जैसे सादृश्य से छिन्न प्ररूढ़ केश आदि में प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही वर्णों में भी प्रत्यभिज्ञा होती है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रत्यभिज्ञा का बाधक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यभिज्ञा का कारण आकृति-जाति है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि व्यक्ति का प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि प्रत्येक उच्चारण में गो आदि व्यक्ति के समान अन्य-अन्य वर्ण-व्यक्ति की प्रतीति हो, तो यह माना जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा जाति-निमित्तक है, परंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में वर्ण-व्यक्ति की ही प्रत्यभिज्ञा होती है। दो बार 'गो' शब्द का उच्चारण किया, ऐसी प्रतीति होती है, न कि दो गो शब्दों का उच्चारण किया। परन्तु उच्चारण-भेद से 'वर्ण भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। क्योंकि देवदत्त और यज्ञदत्त की अध्ययन-ध्वनि सुनने से उनका भेद प्रतीत होता है, ऐसा कहा गया है। इस पर कहते हैं – प्रत्यभिज्ञान वर्ण-संबंधी है, यह निश्चित होने पर प्रतीत होता है कि [तालु आदि स्थानों के साथ कोष्ठस्थ वायु के] संयोग और विभाग से वर्णों की अभिव्यक्ति होने के कारण वर्णों में जो वैलक्षण्य की प्रतीति होती है, उसका निमित्त अभिव्यंजक वायु के संयोग और विभाग की विचित्रता है, स्वरूप की विचित्रता नहीं है। और वर्ण-व्यक्तियों को भिन्न मानने वाले को भी प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि के लिए वर्णों की जातियों की कल्पना करनी पड़ेगी और उनमें भेद-प्रतीति, अन्य उपाधि से होती है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इससे तो यही मानना अच्छा है कि वर्ण-व्यक्तियों में ही अन्य उपाधि से भेद-प्रतीति होती है। और प्रत्यभिज्ञा स्वरूप से ही होती है, इसमें कल्पना-लाघव भी है। वर्णों की प्रत्यभिज्ञा ही उनमें भेद-प्रतीति का बाध करने वाला प्रत्यय है। एक ही कल में बहुत लोगों से उच्चारित एक ही गकार एक ही समय में उदात्त, अनुदत्त, स्वरित सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से अनेक रूप किस प्रकार हो सकेगा? अथवा यह भेद-प्रतीति ध्वनि के भेद से होती है, वर्ण के भेद से नहीं होती, इसलिए दोष नही है। ध्वनि किसको कहते हैं? दूर से सुनने के कारण वर्ण-भेद को नहीं समझने वाले के कान में जो प्रविष्ट होती है और पास से सुनने वाले के लिए पटुत्व, मृदुत्व आदि भेदों का वर्णों में

आरोप करती है, वह ध्वनि है। उससे उदात्त आदि विशेष उत्पन्न होते हैं, वर्ण स्वरूप से उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि वर्णों का प्रत्येक उच्चारण में प्रत्यभिज्ञान होता है। ऐसा होने से उदात्त आदि प्रतीतियाँ आलम्बन-सहित होगी। अन्यथा वर्णों की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण उनमें भेद न होने से उदात्त आदि विशेष- भेद संयोग और विभाग से होते है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। संयोग और विभाग अप्रत्यक्ष है, अतः वर्णों में उनके भेद का आरोप नहीं किया जा सकता, इससे यह उदात्त आदि प्रतीति निराधार ही हो जाएगी। और वर्णों की 'वही यह गकार है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे उदात्त आदि भेदों से उनका भेद होगा, ऐसा आग्रह करना ठीक नहीं है, क्योंकि एक के भेद से दूसरे अभिन्न पदार्थ का भेद नहीं हो सकता। व्यक्ति के भेद से जाति भिन्न है, ऐसा कोई भी नहीं मानता। और वर्णों से अर्थ-प्रतीति का संभव होने से स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। मैं स्फोट की कल्पना नहीं करता, किन्तु उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, क्योंकि एक-एक वर्ण के ग्रहण से जिसमें संस्कार हुआ है, उस बुद्धि में स्फोट का जल्दी प्रत्यवभास होता है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन ठीक नही है, क्योंकि यह बुद्धि भी वर्ण-विषयक है। एक-एक वर्ण का ग्रहण होने के अनन्तर 'गौः' (गाय) यह जो एक बुद्धि होती है, वह समस्त वर्ण-विषयक है, अर्थान्तर-विषयक नहीं है। यह कैसे समझा जाय? इससे कि इस बुद्धि में भी गकार आदि वर्णों की अनुवृत्ति होती है दकार आदि की नहीं। यदि दकार आदि से अन्य स्फोट रूप अर्थ इस बुद्धि का विषय हो, तो उस बुद्धि से दकार आदि के समान गकार आदि भी हट जायेंगे, परंतु ऐसा नहीं है, इसलिए यह एक बुद्धि वर्ण-विषयक ही स्मृति है। परन्तु वर्णों के अनेक होने से वे एक बुद्धि के विषय हों, यह युक्त नहीं है, ऐसा कहा है। उसका निराकरण करते हैं – अनेक भी एक बुद्धि के विषय होते हैं, क्योंकि पंक्ति, वन, सेना, दश, शत, सहस्त्र इत्यादि में स्पष्टतया अनेक एक बुद्धि के विषय दिखाई देते हैं। 'गौ;' यह एक शब्द है, ऐसी जो बुद्धि है, वह वन, सेना आदि बुद्धि के समान बहुत वर्णों में एकार्थबोधकत्व रूप कारण से गौणतया प्रयुक्त होती है। यहाँ कहते हैं – यदि वर्ण ही सब मिलकर, एक बुद्धि के विषय होकर पद होते हैं, तो जारा, राजा, कपि, पिक इत्यादि में भिन्न पद की प्रतीति न होनी चाहिए। क्योंकि उन्हीं वर्णों का दोनों स्थलों पर अवभास होता है। इस पर कहते हैं – यद्यपि शब्द में सब वर्णों का भान होता है, तो भी जैसे क्रम के अनुसार ही चीटियों में पंक्ति की प्रतीति होती है, वैसे क्रमिक वर्णों में ही पद-बुद्धि होती है। इस प्रकार वर्णों में यद्यपि भेद नहीं है, तो भी भिन्न-भिन्न क्रम से भिन्न-भिन्न पद की प्रतीति होती है, अतः कोई विरोध नहीं है। क्रम आदि के अनुसार ग्रहण किए हुए उन वर्णों का वृद्ध व्यवहार में भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ संबंध ग्रहण किया जाता है, इसलिए अपने व्यवहार में भी वे एक-एक वर्ण का ग्रहण होने पर समस्त का अवमर्श करने वाली बुद्धि में वैसे ही भासते

हुए भिन्न-भिन्न अर्थों का ठीक-ठीक उसी प्रकार ज्ञान कराते हैं, वर्णवादी की इस कल्पना में बड़ा लाघव है। स्फोटवादी के मत में तो दृष्ट-हानि और अदृष्ट-कल्पना होगी। क्रम से गृहीत ये वर्ण-स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं, और स्फोट अर्थ को व्यक्त करता है, इस कल्पना में बड़ा गौरव है, यदि प्रत्येक उच्चारण में वर्ण अन्य-अन्य होते हैं, ऐसा स्वीकार करें, तो भी प्रत्यभिज्ञा के आधार पर वर्णगत जाति अवश्य माननी पड़ेगी, इससे वर्णों में अर्थ प्रतिपादन करने की जो प्रक्रिया बनाई गई है, वही वर्ण-सामान्य में लेनी पड़ेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि नित्य शब्दों से देवता आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, अतः कोई विरोध नहीं है।

(6) प्रपंचविलयवाद

[शंकराचार्य ने 3/2/21 सूत्र के भाष्य में प्रपंचविलयवाद का विस्तार से वर्णन किया है।]

यहाँ पर कुछ लोग दो अधिकरणों की कल्पना करते हैं। पहला यह कि सम्पूर्ण प्रपंच से शून्य एक आकार वाला ब्रह्म है, अथवा प्रपंच से युक्त अनेक आकार वाला है? दूसरा – वह सर्व प्रपंचशून्य है, ऐसा सिद्ध होने पर वह सद्रूप है या ज्ञानरूप है या उभयरूप है? इस पर हम कहते हैं – अन्य अधिकरण का आरम्भ करना सर्वथा अनर्थक है। यदि परब्रह्म अनेक लिङ्ग वाला है, इसके निराकरण के लिए यह प्रयास हो, तो इसका 'न स्थानतोऽपि' इस पूर्व अधिकरण से ही निराकरण हो गया है, इसलिए अग्रिम 'प्रकाशवच्च' यह अधिकरण व्यर्थ ही होगा। और ब्रह्म सद्रूप ही है, ज्ञान-रूप नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'ज्ञानघनः' (विज्ञान-रूप ही है) इत्यादि श्रुतियों के व्यर्थ होने की नौबत आयेगी। और चैतन्य रहित ब्रह्म का चेतन जीव के आत्मरूप से किस प्रकार उपदेश किया जाएगा? उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानरूप ही है, सद्रुप नहीं है, ऐसा नही कहा जा सकता, क्योंकि 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' ('है', इस प्रकार इसकी उपलब्धि करनी चाहिए) इत्यादि श्रुति व्यर्थ हो जाएगी और दूसरी बात यह है कि जिसका अस्तित्व नहीं है, उसका ज्ञान किस प्रकार किया जा सकता है? इसी प्रकार ब्रह्म उभयरूप ही है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्व में जिस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, उसके साथ विरोध होगा – सत्ता से भिन्न जो ज्ञान है उस ज्ञान से युक्त और ज्ञान से भिन्न सत्ता है, उस सत्ता से युक्त ब्रह्म है, ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले को पूर्व अधिकरण में जिसका प्रतिषेध किया है, उस प्रपंचयुक्त ब्रह्म की प्राप्ति होगी। श्रुति-प्रतिपादित होने से यह दोष नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जो एक है वह अनेक स्वभाव वाला नहीं हो सकता है। सत्ता ही ज्ञान है और ज्ञान ही सत्ता है, इन दोनों की परस्पर भिन्नता नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो भी वह ब्रह्म सद्रूप है, या ज्ञानरूप है, या उभयरूप है? यह विकल्प निर्विषयक हो जाएगा। सूत्रों की योजना तो हमने एक अधिकरण में ही की है। ब्रह्म-विषयक श्रुतियों के साकार

और निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन करने से परस्पर विरोध होने पर निराकार ब्रह्म का स्वीकार किया गया है, ऐसी दशा में अन्य श्रुतियों की गति अवश्य कहनी चाहिए। और उस गति को कहने के लिए 'प्रकाशवच्च' इत्यादि सूत्रों का अत्यन्त उपयोग होता है। ब्रह्म के आकार का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ भी प्रपंचप्रविलय द्वारा अनाकार ब्रह्म का ही ज्ञान करती है, उनका पृथक प्रयोजन नहीं है, ऐसा जो कहते हैं वह भी समीचीन-सा नहीं जान पड़ता। वह असमीचीन किस प्रकार है? इस प्रकार कि परविद्या के अधिकार में 'युक्ताहास्य०' (जैसे रथ में जुटे घोड़े है, वैसे ही इस आत्मा में जुटी हुई इन्द्रियाँ सौ और दश हैं, यह आत्मा ही इन्द्रियाँ हैं, यही दश, सहस्त्र, बहु और अनन्त हैं।) इत्यादि प्रपंच-विस्तार से कहा गया है वह प्रविलयात्मक हो, क्योंकि 'तदेदद् ब्रह्मापूर्व०' (वह ब्रह्म है जिसका पूर्व – कारण नहीं पर कार्य नहीं, अन्तर नहीं) ऐसा उपसंहार है। परन्तु 'मनोमय प्राणशरीरो भारूपः' 'मनोमय प्राणशरीरो भारूपः' (आत्मा मनोमय, प्राणशरीर और चैतन्य रूप है) इत्यादि प्रपंच जो उपासना-विधान के अधिकार में कहा गया है, वह प्रविलयार्थक है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'स क्रंतु कुर्वीत' (वह ऋतु-अध्यवसाय करे) इस प्रकार प्रकृत उपासनाविधि के साथ उस प्रपंच का संबंध है। श्रुति से – अभिधावृत्ति से इस प्रकार के गुण उपासनार्थक हैं, ऐसा संभव होने से लक्षणवृत्ति से उनका प्रविलय अर्थ नहीं हो सकता। और सब प्रपंचों का प्रविलय ऐसा साधारण अर्थ हो तो 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ऐसा जो विनिगमना का कारण कहा गया है, वह निरवकाश हो जाएगा। और उसका फल भी उपदेश के अनुसार कहीं पर पाप का क्षय, कहीं पर ऐश्वर्य की प्राप्ति और कहीं पर क्रम-मुक्ति, ऐसा समझा जाता है। उससे उपासना-वाक्य और ब्रह्म वाक्यों की पृथगर्थता मानना ही ठीक है, एकवाक्यता मानना ठीक नहीं है। और इन वाक्यों की एकवाक्यता किस प्रकार हो सकती है, वह कहना चाहिए। प्रयाज और दर्शपूर्णमास के वाक्यों के समान एक नियोग प्रतीत होता है, उससे एक वाक्यता है, यदि ऐसा कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म-वाक्यों में नियोग का अभाव है। ब्रह्म-वाक्यों का वस्तुमात्र में पर्यवसान होता है, वे नियोग का उपदेश नहीं करते, ऐसा 'तत्तु समन्वायत्' इस सूत्र में विस्तार से सिद्ध किया जा चुका है। और यहाँ नियोग का विषय क्या अभिप्रेत है, उसे कहना चाहिए क्योंकि जो पुरुष नियुक्त होता है वह 'करो' ऐसा किसी एक अपने व्यापार में नियुक्त किया जाता है। परन्तु (यहाँ शंङ्का होती है) द्वैत-प्रपंच का प्रविलय जब तक नहीं किया जाय, तब तक ब्रह्म-तत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म तत्व के ज्ञान का प्रतिबन्धक जो द्वैत-प्रपंच है, उसका प्रविलय करना चाहिए। जैसे स्वर्ग की इच्छा करने वाले को याग का अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया जाता है, वैसे ही मुमुक्षु के लिए प्रपंच के प्रविलय का उपदेश किया जाता है। और जैसे अन्धकार में स्थित घटादि तत्व को जानने की इच्छा करने वाला उस तत्व के प्रतिबन्धक अन्धकार का प्रविलय करता है,

उसी प्रकार ब्रह्म-तत्व को जानने की इच्छा करने वाले को उस तत्व के प्रतिबन्धक प्रपंच का प्रविलय करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म जिसका स्वभाव है, ऐसा प्रपंच है, प्रपंच जिसका स्वभाव है, ऐसा ब्रह्म नहीं है, ऐसी शंका होने पर हम पूछते है – यह प्रपंच का प्रविलय क्या है? क्या जैसे अग्नि के संपर्क से घृत की कठिनता का प्रविलय होता है, वैसे प्रपंच का प्रविलय करना चाहिए या एक चंद्र में नेत्रदोष से किए गये अनेक चंद्रों के प्रपंच के समान ब्रह्म में अविद्याकृत नाम-रूप प्रपंच का विद्या से प्रविलय करना। उनमें यदि विद्यमान (सत्य) देहादिरूप आध्यत्मिक और पृथ्वी आदि बाह्य प्रपंच का प्रविलय करना चाहिए यह कहो, तो यह विद्यमान प्रपंच का प्रविलय पुरुष मात्र से शक्य न होने से उसके प्रविलय का उपदेश अशक्य विषय वाला ही होगा, और एक आदि मुक्त पुरुष से पृथ्वी का प्रविलय किया गया होता तो आज जगत् पृथ्वी आदि से रहित होता। एक ब्रह्म में अविद्या से अध्यस्त हुए इस प्रपंच का विद्या से प्रविलय किया जाता है, ऐसा यदि कहो, तो अविद्या से अध्यस्त हुए प्रपंच का विद्या से प्रविलय किया जाता है, ऐसा यदि कहो, तो अविद्या से अध्यस्त हुए प्रपंच के निराकरण से ब्रह्म को जानना युक्त है – 'एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म), 'तत्सत्यं स आत्मा०' (वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है)। उस ब्रह्म के ज्ञान होने पर विद्या आप ही आप उत्पन्न होती है और उस विद्या से अविद्या का बाध होता है। और तदनन्तर अविद्या से अध्यस्त हुए इस सकल नाम-रूप प्रपंच का स्वप्न-प्रपंच के समान प्रविलय होता है। परन्तु ब्रह्म के ज्ञान न होने पर 'ब्रह्म का विज्ञान करो', प्रपंच का प्रविलय करो' ऐसा सैकड़ों बार कहने पर भी ब्रह्म का विज्ञान या प्रपंच का प्रविलय नहीं हो सकता। परन्तु ब्रह्म के ज्ञान होने पर उसके विज्ञान के लिए या प्रपंच के विलय के लिए नियोग होगा। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रपंच-रहित ब्रह्म स्वरूप के आवेदन से ही दोनों सिद्ध होते हैं। रज्जु के स्वरूप के प्रकाश से ही उसके स्वरूप का विज्ञान और अविद्या से अध्यस्त हुए सर्पादि प्रपंच का प्रविलय होता है। और जो किया गया हो, वहीं फिर नहीं किया जाता। प्रपंच की अवस्था में जो जीव नियोज्य समझा जाता वह प्रपंच पक्ष का ही है या ब्रह्म पक्ष का? प्रथम विकल्प में प्रपंच रहित ब्रह्मत्व का प्रतिपादन होने से पृथ्वी आदि के समान जीव का भी प्रविलय हो गया है, अतः प्रपंच के प्रविलय में किसका नियोग कहा जाय, नियोग-निष्ठ होने से किसको मोक्ष प्राप्तव्य है, ऐसा कहा जाय? दूसरे विकल्प में भी ब्रह्म ही अनियोज्य जीव का स्वरूप है और जीवत्व तो अविद्या से ही हुआ है, ऐसा प्रतिपादन हुआ। इससे ब्रह्म नियोज्य नहीं हो सकता। इसलिए उसमें नियोग का अभाव ही है। और पर विद्या के अधिकार में पठित 'द्रष्टव्य' आदि शब्दों का भी तात्पर्य तत्व के अभिमुख करने में ही है, तत्वज्ञान का विधान करने में नहीं है। लोक में (व्यवहार में) भी 'यह देखो' 'यह सुनो', इस प्रकार की आज्ञाओं में 'एकाग्र मन करो' ऐसा कहा जाता है। 'साक्षात् ज्ञान ही करो' ऐसा नहीं कहा

जाता। जो ज्ञेय के अभिमुख होता है, उस पुरुष को भी कदचित् ज्ञान होता है और कदाचित् नहीं होता है। इसलिए जो ज्ञान कराना चाहता है, उसे उसको ज्ञान का विषय ही दिखलाना पड़ता है, उसको दिखलाने के विषय और प्रमाण के अनुसार अपने आपही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। और अन्य प्रमाणों से अन्य प्रकार से प्रसिद्ध अर्थ में अन्य प्रकार से नियुक्त को भी ज्ञान नहीं होता। परन्तु जो 'मैं नियुक्त हूँ' ऐसा समझकर अन्यथा ज्ञान करे, तो वह ज्ञान नहीं है, तब क्या है? वह मानसी क्रिया है और आपही जो अन्यथा उत्पन्न हो, भ्रान्ति ही है। ज्ञान तो प्रमाणजन्य है, और विषय के अनुसार है, वह सौ नियोगों से भी नहीं कराया जा सकता है, या सौ प्रतिषेध से भी उसका निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह पुरुष के अधीन नहीं है, किन्तु वह तो वस्तु के अधीन है, इससे भी नियोग का अभाव है और दूसरी बात है कि यदि वेद वाक्यों का नियोगनिष्ठता में ही पर्यवसान हो, तो अनियोज्य ब्रह्म जीव का स्वरूप है, ऐसा जो स्वीकार किया गया है, वह प्रमाण रहित ही हो जाएगा। यदि शास्त्र ही अनियोज्य ब्रह्म जीव का आत्मा है, ऐसा कहे और उसके बोध में पुरुष को नियुक्त करें, तो एक ब्रह्मशास्त्र दो अर्थ प्रतिपादन करने वाला तथा विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाला है, ऐसा प्राप्त होगा; वेद-वाक्यों का तात्पर्य नियोग में हो, तो श्रुति की हानि और अश्रुत की कल्पना, कर्मफल के समान मोक्षफल का अदृष्ट-फलत्व होना, तथा अनित्य होना, इत्यादि दोषों का किसी से भी परिहार नहीं हो सकेगा। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मवाक्य ज्ञाननिष्ठ ही है, नियोगनिष्ठ नहीं है, इसलिए एक नियोग की प्रतीति होने से उनकी एकवाक्यता है, ऐसा कहना उचित नहीं है, और ब्रह्म-वाक्यों में नियोग का सद्भाव है, ऐसा स्वीकार करने पर भी निष्प्रपंच उपदेशों में और सप्रपंच उपदेशों में एक ही नियोग है, यह असिद्ध है। क्योंकि अन्य शब्द आदि प्रमाणों से नियोग का भेद -ज्ञान होने पर भी सर्वत्र एक नियोग है, ऐसा आश्रय नहीं किया जा सकता है, प्रयाज और दर्शपूर्णमास-वाक्यों में तो अधिकार-रूप अंश में अभेद होने से एकत्व युक्त है। परन्तु यहाँ सगुण और निर्गुण के विधि-वाक्यों में कोई एकत्व प्रतिपादन करने वाला अधिकारांश नहीं है, क्योंकि भारूपत्व आदि गुण प्रपंच के प्रविलय करने में उपकारी नहीं है, उसी प्रकार प्रपंच का प्रविलय भारूपत्व आदि गुणों का उपकारी नहीं है, क्योंकि वे परस्पर विरोधी हैं। एक ही धर्मी में सकल प्रपंच का प्रविलय और प्रपंच के एकदेश की अपेक्षा इन दोनों का समावेश नहीं किया जा सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि साकार और अनाकार ब्रह्म का उपदेश करने वाले वाक्यों का हमसे कहा गया विभाग ही अधिक श्रेष्ठ है।21॥

(7) भौतिकवाद का निराकरण

[ब्रह्मसूत्र 3/3/53-54 ऐकात्म्य-अधिकरण है। इसमें भौतिकवाद का खंडन करके आत्मवाद सिद्ध किया गया है।]

एक आत्मनः शरीरे भावात्[1] इस अधिकरण में बन्ध और मोक्ष के अधिकार की सिद्धि के लिए देह से पृथक आत्मा के अस्तित्व का समर्थन किया जाता है। यदि देह से अतिरिक्त आत्मा न हो, तो परलोक जिनका फल है, ऐसे विधि-वाक्यों की उपपत्ति नहीं होगी। यदि देहातिरिक्त आत्मा न हो, तो किसके ब्रह्मात्मत्व का उपदेश किया जाएगा। परन्तु शास्त्र के आरम्भ में ही (पूर्व मीमांसा में) प्रथम पाद में शास्त्रोक्त फल के उपभोग के योग्य, देह से व्यतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व कहा गया है। यह ठीक है, भाष्यकार ने वहाँ देहातिरिक्त आत्मा का कथन किया है, परन्तु उसमें आत्मा के अस्तित्व के विषय में सूत्र नहीं है। और यहाँ तो सूत्रकार ने आप ही आक्षेपपूर्वक देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का स्थापन किया है और यहीं से हटा करके आचार्य शबर स्वामी ने प्रमाण-लक्षण में देहातिरिक्त आत्मा का वर्णन किया है। इसी से भगवान उपवर्ष, पूर्वमीमांसा में आत्मा के अस्तित्व के कथन का प्रसंग आने पर, हम इसे शारीरक में कहेंगे, ऐसा कहकर विरत हुए है। यहाँ चोदना-विधि जिनमें लक्षण-प्रमाण है, ऐसी उपासनाओं का विचार किये जाने पर, समस्त शास्त्र का वह आत्मास्तित्व अंग है, ऐसा प्रदर्शन करने के लिए आत्मा के अस्तित्व का विचार किया जाता है, और पूर्व अधिकरण में ऋतु के प्रकरण का उत्कर्ष स्वीकार करके मनश्चित् आदि पुरुषार्थ है, ऐसा वर्णन किया गया है। अब पुरुष कौन है, जिसके लिए ये मनिश्चित् आदि हैं, ऐसा प्रसक्त होने पर देह से व्यतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व कहा जाता है। और इस अस्तित्व के आक्षेप के लिए यह प्रथम सूत्र है। आक्षेप करके कहा गया परिहार स्थूणानिखननन्याय से विवक्षित अर्थ में दृढ़ बुद्धि उत्पन्न करता है।

आत्म-विचार के प्रसंग में कितने ही, देहमात्र आत्मा है, ऐसा विचार करने वाले लोकायतिक देह से व्यतिरिक्त आत्मा का अभाव मान कर समस्त और व्यस्त बाह्य पृथिवी आदि में अदृष्ट भी चैतन्य शरीर के आकार में परिणत भूतों में होगा, इस प्रकार उन भूतों से चैतन्य की सम्भावना करते हुए मदशक्ति के समान विज्ञान है और चैतन्य की सम्भावना करते हुए मदशक्ति के समान विज्ञान है और चैतन्य-विशिष्टकाय पुरुष है, ऐसा कहते हैं। स्वर्ग में जाने के लिए या अपवर्ग प्राप्त करने के लिए देह से अतिरिक्त समर्थ आत्मा नहीं है जिसके प्रभाव से देह में चैतन्य हो। देह ही चेतन है और आत्मा है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं और उस प्रतिज्ञात अर्थ के विषय में हेतु कहते हैं – 'शरीरे भावात्'। क्योंकि जिसके रहते जो रहता है और जिसके अभाव में जिसका अभाव होता है, वह उसका धर्म माना जाता है, जैसे अग्नि के धर्म-उष्णता और प्रकाश माने जाते हैं। प्राण, चेष्टा, चैतन्य, स्मृति आदि जो आत्मवादियों के आत्मा-धर्म अभिमत हैं, वे भी देह के अन्दर ही उपलब्ध होते हैं और देह के बाहर उपलब्ध नहीं होते हैं। अतएव देह से अतिरिक्त धर्मी

---

1. ब्रह्मसूत्र 3/3/53

के सिद्ध न होने पर उसका देह-धर्म होना ही युक्त है। इससे देह से अतिरिक्त आत्मा नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं –

व्यतिरेकस्तदभावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।[1]

सिद्धान्ती – देह से आत्मा अतिरिक्त नहीं है, ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है। आत्मा का देह से व्यतिरेक ही होना युक्त है, क्यों? उसके (देह के) अस्तित्व में, उनका (आत्म धर्मों का) अभाव होने से। यदि देह के अस्तित्व में आत्मधर्मों का अस्तित्व होने से आत्म-धर्म देह-धर्म माने जायँ तो देह के अस्तित्व में भी आत्मा के चैतन्य आदि धर्मों का अस्तित्व न होने से ये आत्म-धर्म देह-धर्म नहीं है, ऐसा क्यों न माना जाय? क्योंकि वे देह-धर्म से विलक्षण हैं, क्योंकि जो देह धर्म रूप आदि है, वे जब तक देह रहता है, तब तक रहते हैं। और प्राण, चेष्टा स्वासोच्छवास आदि मृत अवस्था में देह के विद्यमान रहते भी नहीं होते हैं और रूप आदि देह-धर्म अन्य पुरुषों से भी जाने जाते हैं, परन्तु चैतन्य, स्मृति आदि आत्म-धर्म अन्य पुरुषों से नहीं जाने जाते। इसी प्रकार देह के रहते जीवनावस्था में इन धर्मों के अस्तित्व का निश्चय किया जा सकता है, परन्तु देह यदि विद्यमान न हों, तो धर्मों के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि कदाचित् इस देह के गिर जाने पर भी आत्म-धर्म अन्य देह में संचार से अनुवृत्त होते हैं। इस प्रकार केवल संशय से भी उसका प्रतिषेध किया जाता है। और जिस चैतन्य की उत्पत्ति तुम भूतों से मानते हो, उस चैतन्य का स्वरूप क्या है, ऐसा वादी से पूछना चाहिए, क्योंकि लोकायतिक – नास्तिक चार भूतों से अतिरिक्त किसी तत्व को नहीं मानता। भूत और भौतिकों का जो अनुभव है, वह चैतन्य है, ऐसा यदि वह कहे, तो चैतन्य के प्रति उनके (देहात्मभूतों के) विषय होने से वह (चैतन्य) उनका धर्म नहीं होगा, क्योंकि अपने में क्रिया का विरोध होता है अर्थात् एक ही में विषयत्व और विषयित्व का विरोध होता है, क्योंकि अग्नि उष्ण होने से अपने को नहीं जलाती और नट कितना ही शिक्षित क्यों न हो, फिर भी अपने कन्धों पर नहीं चढ़ सकता है। चैतन्य भूत और भौतिकों का धर्म होने से उस चैतन्य से भूत और भौतिक विषय नहीं किये जा सकते, क्योंकि रूप आदि से स्वरूप या पररूप विषय नहीं किए जाते यह प्रसिद्ध है। परन्तु बाह्य और आध्यात्मिक भूत-भौतिक पदार्थ चैतन्य से विषय किये जाते हैं। इससे जैसे भूत-भौतिक विषय की उपलब्धि के अस्तित्व का स्वीकार किया जाता है, इसी प्रकार उनसे इनके व्यतिरेक का भी स्वीकार करना चाहिए। और हमारे मत में आत्मा उपलब्धि-स्वरूप ही है, इसलिए आत्मा देह से व्यतिरिक्त है। और उपलब्धि नित्य है क्योंकि वह एक रूप है, ''मैने यह देखा' इस प्रकार अन्य अवस्था का संबंध होने पर भी

1. ब्रह्मसूत्र 3/3/54

उपलब्धृत्व-रूप से प्रत्यभिज्ञान होता है और स्मृति आदि की उपपत्ति भी होती है, शरीर में भाव-अस्तित्व होने से उपलब्धि शरीर-धर्म है, ऐसा जो कहा गया है, उसका वर्णित प्रकार से निराकरण हुआ। और प्रदीप आदि उपकरण यदि विद्यमान हों, तो उपलब्धि होती है और यदि विद्यमान न हों, तो नहीं होती, उतने से उपलब्धि प्रदीप आदि का धर्म नहीं होती। इसी प्रकार देह के विद्यमान रहने पर उपलब्धि होती है, और देह के विद्यमान न रहने पर, उपलब्धि नहीं होती, इससे उसका देह-धर्म होना युक्त नहीं है, क्योंकि केवल उपलब्धि के उपकरण होने से भी प्रदीप आदि के समान देह का उपयोग हो सकता है। और उपलब्धि में देह का अत्यन्त उपयोग नहीं दीखता, क्योंकि जब यह देह निश्चेष्ट रहता है, तब भी स्वप्न में नाना प्रकार की उपलब्धि देखी जाती है। इससे देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व दोष-रहित है।

द्वितीय भाग : स्मृतिप्रस्थान गीताभाष्य और उपदेशसाहस्त्री

गीताभाष्य

1. उपोद्‌धात

नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम्।
अण्डस्यान्तस्त्वि मे लोकाः सप्तद्वीपाच मेदिनी॥

अव्यक्त से अर्थात् माया से श्री नारायण – आदि-पुरुष सर्वथा अतीत हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यक्त-प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, ये भूः भुवः आदि लोक और सात द्वीपों वाली पृथ्वी ब्रह्माण्ड के अंतर्गत है।

इस जगत् को रचकर इसके पालन करने की इच्छा वाले उस भगवान् ने पहले मरीचि आदि प्रजापतियों को रचकर उनको वेदोक्त प्रवृत्ति-रूप धर्म (कर्मयोग) ग्रहण करवाया। फिर उनसे अलग सनक, सनन्दनादि ऋषियों को उत्पन्न करके उनको ज्ञान और वैराग्य जिसके लक्षण हैं ऐसा निवृत्ति रूप धर्म (ज्ञानयोग) ग्रहण करवाया।

वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है – एक प्रवृत्ति-रूप और दूसरा निवृत्ति-रूप।

जो जगत् की स्थिति का कारण तथा प्राणियों की उन्नति का और मोक्ष का साक्षात् हेतु है एवं कल्याणकामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रम-अवलम्बियों द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम धर्म है।

बहुत काल के बाद, जब धर्मानुष्ठान करने वालों के अन्तःकरण में कामनाओं का विकास होने से विवेक-ज्ञान का ह्रास हो जाना ही जिसकी उत्पत्ति का कारण है ऐसे अधर्म से धर्म दबता जाने लगा और अधर्म की वृद्धि होने लगी तब जगत् की स्थिति सुरक्षित रखने की इच्छा वाले वे आदि कर्ता नारायण नामक श्री विष्णु भगवान् भूलोक के ब्रह्म की अर्थात् भूदेवों (ब्राह्मणों) के ब्राह्मणत्व की रक्षा करने के लिए श्रीवसुदेव जी से श्री देवकी जी के गर्भ में अपने अंश से (लीला-विग्रह से) श्रीकृष्ण रूप में प्रकट हुए। यह प्रसिद्ध है।

ब्राह्मणत्व की रक्षा से ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता है क्योंकि वर्णाश्रमों के भेद उसी के अधीन हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि से सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिक मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए से और लोगों पर अनुग्रह करते हुए से दीखते हैं।

अपना कोई प्रयोजक न रहने पर भी भगवान् ने भूतों पर दया करने की इच्छा से, यह सोचकर कि अधिक गुणवान् पुरुषों द्वारा ग्रहण किया हुआ और आचरण किया हुआ धर्म अधिक विस्तार को प्राप्त होगा, शोकमोहरूप महासमुद्र में डूबे हुए अर्जुन को दोनों ही प्रकार के वैदिक धर्मों का उपदेश किया। उक्त दोनों प्रकार के धर्मों को भगवान् ने जैसे-जैसे कहा था ठीक वैसे ही सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास जी ने गीता नामक सात सौ श्लोकों के रूप में ग्रंथित किया। ऐसा यह गीताशास्त्र सम्पूर्ण वेदार्थ का सार-संग्रह रूप है और उसका अर्थ समझते में अत्यन्त कठिन है।

यद्यपि उसका अर्थ प्रकट करने के लिए अनेक पुरुषों ने पदच्छेद, पदार्थ, वाक्यार्थ और आपेक्ष, समाधानपूर्वक उनकी विस्तृत व्याख्याएं की हैं, तो भी लौकिक मनुष्यों द्वारा उस गीताशास्त्र का अनेक प्रकार से (परस्पर) अत्यन्त विरुद्ध अनेक अर्थ ग्रहण किये जाते देखकर, उसका विवेकपूर्वक अर्थ निश्चित करने के लिए मैं संक्षेप में व्याख्या करूँगा। संक्षेप में इस गीताशास्त्र का प्रयोजन परम कल्याण अर्थात् कारणसहित संसार की अत्यन्त उपरति हो जाना है, वह (परमकल्याण) सर्वकर्म-संन्यास-पूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठा-रूप धर्म से प्राप्त होता है। इसी गीतार्थ रूप धर्म को लक्ष्य करके स्वयं भगवान् ने ही अनुगीता में कहा है कि 'ब्रह्म के परम पद को (मोक्ष को) प्राप्त करने के लिए वह (गीता के ज्ञान निष्ठा रूप) धर्म ही सुसमर्थ है।' इसके सिवा वहीं ऐसा भी कहा है कि, 'जो न धर्मी, न अधर्मी और न शुभाशुभी होता है तथा जो कुछ भी चिन्तन न करता हुआ तूष्णी भाव से एक जगदाधार ब्रह्म में लीन हुआ रहता है वही उसको पाता है।'

यह भी कहा है कि 'ज्ञान का लक्षण (चिह्न) संन्यास है।'

यहाँ (गीताशास्त्र में) भी अन्त में अर्जुन से कहा है –

'सब धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा।'

अभ्युदय – सांसारिक उन्नत्ति ही जिसका फल है ऐसा जो प्रवृत्तिरूप धर्म, वर्ण और आश्रमों को लक्ष्य करके कहा गया है, वह यद्यपि स्वर्गादि की प्राप्ति का ही साधन है तो भी फल-कामना छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला होता है। तथा शुद्धान्तःकरण पुरुष को पहले ज्ञान-निष्ठा की योग्यता-प्राप्ति कराकर फिर ज्ञानोत्पत्ति का कारण होने से (वह प्रवृत्तिरूप धर्म) कल्याण का भी हेतु होता है। इसी अर्थ को लक्ष्य में रखकर आगे गीता कहेगी कि 'कर्मों को' ब्रह्म में अर्पण कर' 'योगिजन आसक्ति छोड़कर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं', इत्यादि।

परम कल्याण ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे इन दो प्रकार के धर्मों को और लक्ष्यभूत से वासुदेव नामक पर ब्रह्म रूप परमार्थतत्व को विशेष रूप से अभिव्यक्त करने वाला यह गीताशास्त्र, असाधारण प्रयोजन, संबंध और विषय वाला है। ऐसे

इस (गीताशास्त्र) का अर्थ जान लेने पर समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, अतएव इसकी व्याख्या करने के लिए मैं प्रयत्न करता हूँ।

2. ज्ञानमार्ग

[गीता 2/10 का भाष्य]

यद्यपि (वह अर्जुन) स्वयं ही पहले क्षात्रधर्म रूप युद्ध में प्रवृत्त हुआ था तो भी शोक-मोह के द्वारा विवेक-ज्ञान के दब जाने पर वह उस युद्ध से रुक गया, भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करना आदि दूसरों के धर्म का आचरण करने के लिए प्रवृत्त हो गया। इसी प्रकार शोक, मोह आदि दोषों से जिनका चित्त घिरा हुआ हो, ऐसे सभी प्राणियों से स्वधर्म का त्याग और निषिद्ध धर्म का सेवन स्वाभाविक ही होता है। यदि वे स्वधर्मपालन में लगे हुए हों तो भी उनके मन, वाणी और शरीरादि की प्रवृत्ति फलाकांक्षा-पूर्वक और अहंकार-सहित ही होती है। ऐसा होने से पुण्य, पाप दोनों बढ़ते रहने के कारण अच्छे-बुरे जन्म और सुख-दुःखों की प्राप्तिरूप संसार की निवृत्ति नहीं हो पाती, अतः शोक और मोह ये दोनों संसार के बीज-रूप हैं।

इन दोनों को निवृत्ति सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय से नहीं हो सकती। अतः उसका (आत्मज्ञान का) उपदेश करने की इच्छा वाले भगवान् वासुदेव सब लोगों पर अनुग्रह करने के लिए अर्जुन को निमित्त बना कर कहने लगे –'अशोच्यान्' इत्यादि। इस पर कितने ही टीकाकार कहते हैं कि केवल कर्म-संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान निष्ठा मात्र से ही कैवल्य की (मोक्ष की) प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु अग्नि होत्रादि श्रौत-स्मार्त कर्मों सहित ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही सारी गीता का निश्चित अभिप्राय है। इस अर्थ में वे प्रमाण भी बतलाते हैं, जैसे – 'अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि', 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इत्यादि।

वे यह भी कहते हैं कि हिंसा आदि से युक्त होने के कारण वैदिक कर्म अधर्म का कारण है, ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि गुरु, भ्राता और पुत्रादि की हिंसा ही जिसका स्वरूप है, ऐसा अत्यन्त क्रूर युद्ध-रूप क्षात्र कर्म भी स्वधर्म माना जाने के कारण अधर्म का हेतु नहीं है, ऐसा कहने वाले तथा उसके न करने में 'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापं वाप्स्यसि' इस प्रकार दोष बतलाने वाले भगवान् का यह कथन तो पहले ही सुनिश्चित हो जाता है कि 'जीवन पर्यन्त कर्म करें' इत्यादि श्रुति-वाक्यों द्वारा वर्णित पशु आदि की हिंसा कर्मों को करना अधर्म नहीं है।

परंतु उन लोगों का यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भिन्न-भिन्न दो बुद्धियों के आश्रित रहने वाली ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का अलग-अलग वर्णन है।

'अशोच्यान्' इस श्लोक से लेकर 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इस श्लोक के पहले के प्रकरण से भगवान ने जिस परमार्थ आत्मतत्व का निरूपण किया है वह सांख्य है,

तद्विषयक जो बुद्धि है अर्थात् आत्मा में जन्मादि छओं विकारों का अभाव होने के कारण आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार का जो निश्चय उक्त प्रकरण के अर्थ का विवेचन करने से उत्पन्न होता है, वह सांख्य बुद्धि है, वह जिन ज्ञानियों के लिए उचित होती है (जो उसके अधिकारी हैं) वे सांख्ययोगी हैं।

इस (उपर्युक्त) बुद्धि के उत्पन्न होने से पहले-पहले, आत्मा का देहादि से पृथकपन, कर्तापन और भोक्तापन मानने की अपेक्षा रखने वाला, जो धर्म-अधर्म के विवेक से युक्त मार्ग है, मोक्ष साधनों का अनुष्ठान करने के लिए चेष्टा करना ही जिसका स्वरूप है, उसका नाम योग है, और तद्विषयक जो बुद्धि है, वह योग-बुद्धि है, वह जिन कर्मियों के लिए उचित होती है (जो उसके अधिकारी है) वे योगी हैं। इसी प्रकार भगवान् ने 'एषा ते अभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु' इस श्लोक से अलग-अलग दो बुद्धियाँ दिखलाई है। उन दोनों बुद्धियों में से सांख्य बुद्धि के आश्रित रहने वाली सांख्य योगियों की ज्ञानयोग से (होने वाली) निष्ठा को 'पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता' इत्यादि वचनों से अलग कहेंगे। तथा योग बुद्धि के आश्रित रहने वाली कर्मयोग से (होने वाली) निष्ठा को 'कर्मयोगेन योगिनाम्' इत्यादि वचनों से अलग कहेंगे।

कर्तापन, अकर्तापन और एकता-अनेकता जैसी भिन्न-भिन्न बुद्धि के आश्रित रहने वाले जो ज्ञान और कर्म हैं उन दोनों का एक पुरुष में होना असंभव मानने वाले भगवान् ने ही स्वयं उपर्युक्त प्रकार से सांख्य बुद्धि और योग बुद्धि का आश्रय लेकर अलग-अलग दो निष्ठायें कहीं है। जिस प्रकार गीताशास्त्र में इन दोनों निष्ठाओं का अलग-अलग वर्णन है वैसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी दिखलाया गया है। वहाँ 'इस आत्म-लोक को ही चाहने वाले वैराग्यशील ब्राह्मण संन्यास लेते हैं' इस प्रकार सर्वकर्म-संन्यास का विधान करके उसी वाक्य के शेष (सहायक) वाक्य से कहा है कि 'जिन हम लोगों का यह आत्मा ही लोक है वे हम सन्तति से क्या (सिद्ध) करेंगे।'

वहीं यह भी कहा है कि 'प्राकृत आत्मा अर्थात् अज्ञानी मनुष्य धर्मजिज्ञासा के बाद और विवाह से पहले तीनों लोकों की प्राप्ति के साधन रूप पुत्र की तथा दैव और मनुष्य ऐसे दो प्रकार के धन की इच्छा करने लगा। इनमें पितृलोक की प्राप्ति का साधन रूप 'कर्म' तो मानुष धन है और देवलोक की प्राप्ति का साधन रूप 'विद्या' दैव धन है। इस तरह उपर्युक्त श्रुति में अविद्या और कामना वाले पुरुष के लिए ही श्रौतादि सम्पूर्ण कर्म बताये गये हैं। 'उन सब (कर्मों) से निवृत्त होकर संन्यास ग्रहण करते हैं' इस कथन से केवल आत्मलोक को चाहने वाले निष्काम पुरुष के लिए संन्यास का ही विधान किया है।

यदि इस पर भी यह बात मानी जायेगी कि भगवान् को श्रौत कर्म और ज्ञान का समुच्चय इष्ट है तो यह उपर्युक्त विभक्त विवेचन अयोग्य ठहरेगा। तथा ऐसा मान लेने से 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादि जो अर्जुन का प्रश्न है वह भी नहीं बन सकता। यदि ज्ञान और कर्म का एक पुरुष द्वारा एक साथ किया जाना

असम्भव और कर्म की अपेक्षा ज्ञान का श्रेष्ठत्व भगवान् ने पहले न कहा होता, तो इस तरह अर्जुन बिना सुनी हुई बात का झूठे ही भगवान् में अध्यारोप कैसे करता कि 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्तेमता बुद्धिः'।

यदि सभी के लिए ज्ञान और कर्म का समुच्चय कहा होता तो अर्जुन के लिए वह कहा भी गया था, फिर दोनों का समुचित उपदेश होते हुए 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' इस प्रकार दोनों में से एक के ही संबंध में प्रश्न कैसे होता? क्योंकि पित्त की शान्ति चाहने वाले को वैद्य के द्वारा यह उपदेश दिया जाने पर कि मधुर और शीत पदार्थ सेवन करना चाहिए, रोगी का यह प्रश्न नहीं बन सकता कि उन दोनों में से किसी एक को ही पित्त की शांति का उपाय बतलाइये।

यदि ऐसी कल्पना की जाये की भगवान् द्वारा कहे हुए वचन न समझने के कारण अर्जुन ने प्रश्न किया है, तो फिर भगवान् को प्रश्न के अनुरूप ही यह उत्तर देना चाहिए था कि मैंने तो ज्ञान और कर्म का समुच्चय बतलाया है, तो ऐसा भ्रान्त क्यों हो रहा है। परंतु प्रश्न से विपरीत दूसरा ही उत्तर देना कि मैंने दो निष्ठायें पहले कहीं हैं उपर्युक्त कल्पना के उपयुक्त नहीं है। इसके सिवा यदि केवल स्मार्त कर्म के साथ ही ज्ञान का समुच्चय माना जाये तो भी विभक्त वर्णन आदि सब उपयुक्त नहीं ठहरते। तथा ऐसा मानने से युद्ध रूप स्मार्त कर्म क्षत्रिय का स्वधर्म है, यह जानने वाले अर्जुन का इस प्रकार उलाहना देना भी नहीं बन सकता कि 'तत् किम् कर्मणि घोरे मां नियोजयसि'।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि गीताशास्त्र में किञ्चिन् मात्र भी श्रौत या स्मार्त किसी कर्म के साथ आत्मज्ञान का समुच्चय कोई भी नहीं दिखा सकता। अज्ञान से या आसक्ति आदि दोषों से कर्म में लगे हुए जिस पुरुष को यज्ञ से, दान से या तप से अन्तःकरण शुद्ध होकर परमार्थ तत्व विषयक ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि यह सब एक ब्रह्म ही है और वह अकर्ता है, उसके कर्म और फल दोनों ही यद्यपि निवृत्त हो चुकते हैं त्रो भी लोक संग्रह के लिए पहले की भाँति यत्नपूर्वक कर्मों में लगे रहने वाले ऐसे पुरुष का जो प्रवृत्ति रूप कर्म दीखा करता है, वह वास्तव में कर्म नहीं है, जिससे कि ज्ञान के साथ उसका समुच्चय हो सके।

जैसे भगवान् वासुदेव द्वारा किए हुए क्षात्र कर्मों का मोक्ष की सिद्धि के लिए ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं होता वैसे ही फलेच्छा और अहंकार के अभाव की समानता होने के कारण ज्ञानी के कर्मों का भी ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं होता, क्योंकि आत्मज्ञानी न तो ऐसा मानता है कि मैं कहता हूँ कि और न उन कर्मों का फल ही चाहता है। इसके सिवा जैसे काम साधना रूप अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करने के लिए सकाम अग्निहोत्रादि में लगे हुए, स्वर्गादि की कामना वाले अग्निहोत्री की कामना यदि आधा कर्म कर चुकने पर नष्ट हो जाये और फिर भी उसके द्वारा वही अग्निहोत्रादि कम होता रहे तो भी वह काम्य-कर्म नहीं होता है वैसे ही ज्ञानी के कर्म कर्म नहीं है।

'कुर्वन्नपि न लिप्यते', न करोति न लिप्यते' इत्यादि वचनों से भगवान् भी जगह-जगह यही बात दिखलाते हैं। इसके सिवा जो 'पूर्वैः पूर्वेतरं कृतम्', 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादि वचन हैं उनको विभागपूर्वक समझना चाहिए। वह किस प्रकार समझे? यदि वे पूर्व में होने वाले जनकादि तत्ववेत्ता होकर भी लोकसंग्रह के लिए कर्मों में प्रवृत्त थे, तब तो यह अर्थ समझना चाहिए कि 'गुण ही गुणों में बरत रहे हैं' इस ज्ञान से ही वे परमसिद्धि को प्राप्त हुए अर्थात् कर्म संन्यास की योग्यता प्राप्त होने पर भी कर्मों का त्याग नहीं किया, कर्म करते-करते ही परमसिद्धि को प्राप्त हो गये। यदि वे जनकादि तत्वज्ञानी नहीं थे तो ऐसी व्याख्या करनी चाहिए कि वे ईश्वर के समर्पण किए हुए साधन रूप कर्मों द्वारा चित्तशुद्धि रूप सिद्धि को अथवा ज्ञानोत्पत्ति रूप से सिद्धि को प्राप्त हुए। यही बात भगवान् कहेंगे कि योगी अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं? तथा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः', ऐसा कहकर फिर उस सिद्ध पुरुष के लिए 'सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म' इत्यादि वचनों से ज्ञाननिष्ठा कहेंगे।

सुतरां गीताशास्त्र में निश्चय किया हुआ अर्थ यही है कि केवल तत्वज्ञान से ही मुक्ति होती है, कर्मसहित ज्ञान से नहीं। जैसा यह भगवान् का अभिप्राय है वैसा ही प्रकरण के अनुसार विभागपूर्वक यथास्थान हम आगे दिखलायेंगे।

(3) गीता का तात्पर्य

[गीता 18/66 का भाष्य]

यह विचार करना चाहिए कि इस गीताशास्त्र में निश्चय किया हुआ परम कल्याण (मोक्ष) का साधन ज्ञान है या कर्म, अथवा दोनों?

पू०– यह संदेह क्यों होता है?

उ०– 'जिसको जानकर अमरता प्राप्त कर लेता है', 'तदनन्तर मुझे तत्व से जानकर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है' इत्यादि वाक्य तो केवल ज्ञान में मोक्ष की प्राप्ति दिखला रहे हैं। तथा 'तेरा कर्म ही अधिकार है', 'तू कर्म ही कर' इत्यादि वाक्य कर्मों की अवश्यकर्तव्यता दिखला रहे हैं। इसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों की कर्तव्यता का उपदेश होने से ऐसा संशय हो सकता है कि सम्भवतः दोनों समुचित ही मोक्ष के साधन होंगे।

पू०– परंतु इस मीमाँसा का फल क्या होगा?

उ०– यही कि इन तीनों में से किसी एक को ही परम कल्याण का साधन निश्चय करना। अतः इसकी विस्तारपूर्वक मीमाँसा कर लेनी चाहिए। केवल आत्मज्ञान ही परम कल्याण का हेतु (साधन) है, क्योंकि भेद-प्रतीति का निवर्तक होने के कारण, कैवल्य की प्राप्ति ही उसकी अवधि है। आत्मा में क्रिया, कारक और फल विषयक भेद-बुद्धि अविद्या के कारण सदा प्रवृत्त हो रही है। कर्म मेरे हैं, मैं उनका कर्ता हूँ, मैं अमुक फल के लिए यह कर्म करता हूँ, यह अविद्या अनादि काल से प्रवृत्त हो रही है।

'यह केवल एकमात्र अकर्ता, क्रियारहित और फल से रहित आत्मा में हूँ, मुझसे भिन्न और कोई भी नहीं', ऐसा आत्मविषयक ज्ञान इस अविद्या का नाशक है, क्योंकि यह उत्पन्न होते ही कर्म प्रवृत्ति की हेतु-रूप भेद-बुद्धि का नाश करने वाला है। उपर्युक्त वाक्य में 'तु' शब्द दोनों पक्षों की निवृत्ति के लिए है अर्थात् मोक्ष न केवल कर्म से मिलता है और न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से ही। इस प्रकार 'तु' शब्द दोनों पक्षों का खंडन करता है। मोक्ष अकार्य अर्थात् स्वतः सिद्ध है, इसलिए कर्मों को उसका साधन मानना नहीं बन सकता। क्योंकि कोई भी नित्य, स्वतः सिद्ध वस्तु कर्म या ज्ञान से उत्पन्न नहीं की जाती।

पू०– तब तो केवल ज्ञान भी व्यर्थ ही है?

उ० – यह बात नहीं है, क्योंकि अविद्या का नाशक होने के कारण उसकी मोक्षप्राप्ति रूप फल-पर्यन्तता प्रत्यक्ष है। अर्थात् जैसे दीपक के प्रकाश का रज्जु, आदि वस्त्रों में होने वाली सर्पादि की भ्रान्ति की और अन्धकार को नष्ट कर देना ही फल है और जैसे उस प्रकाश का फल सर्पविषयक विकल्प को हटाकर, केवल रज्जू को प्रत्यक्ष कराके समाप्त हो जाता है, वैसे ही अविद्या-रूप अन्धकार के नाशक आत्मज्ञान का भी फल, केवल आत्मस्वरूप को प्रत्यक्ष कराके ही समाप्त होता देखा गया है।

जिनका फल प्रत्यक्ष है, ऐसी जो लकड़ी को चीरना अथवा अरणिमन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न करना आदि क्रियाएं है, उनमें लगे हुए कर्ता आदि करकों की, जैसे-जैसे अलग-अलग टुकड़े हो जाना, अथवा अग्नि प्रज्वलित हो जाना आदि फल से अतिरिक्त किसी अन्य फल देने वाले कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जिसका फल प्रत्यक्ष है, ऐसी ज्ञान-निष्ठा रूप क्रिया में लगे हुए ज्ञाता आदि कारकों की भी आत्मकैवल्य रूप फल से अतिरिक्त फल वाले किसी अन्य कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः ज्ञान निष्ठा कर्मसहित नहीं हो सकती।

यदि कहो कि भोजन और अग्निहोत्र आदि क्रियाओं के समान इसमें भी समुच्चय हो सकता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जिसका फल कैवल्य (मोक्ष) है, उस ज्ञान के प्राप्त होने के पश्चात् कर्मफल की इच्छा नहीं रह सकती, जैसे सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर कूप-तालाब आदि की जल के लिए चाह नहीं रहती उसी प्रकार मोक्ष जिसका फल है, ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद क्षणिक सुखरूप फलान्तर की या उसकी साधनभूत क्रिया की इच्छुकता नहीं रह सकती। क्योंकि जो मनुष्य राज्य प्राप्त करा देने वाले कर्म में लगा हुआ है उसकी प्रवृत्ति, क्षेत्र-प्राप्ति ही जिसका फल है ऐसे कर्म में नहीं होती और उस कर्म के फल की इच्छा भी नहीं होती।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि परम कल्याण का साधन न तो कर्म है और न ज्ञान-कर्म का समुच्चय ही है। तथा कैवल्य (मोक्ष) ही जिसका फल है, ऐसे ज्ञान को कर्मों की सहायता भी अपेक्षित नहीं है। क्योंकि ज्ञान अविद्या का नाशक है इसलिए

उसका कर्मों से विरोध है। यह प्रसिद्ध ही है कि अन्धकार का नाशक अन्धकार नहीं हो सकता। इसलिए केवल ज्ञान ही परम कल्याण का साधन है।

पू०- यह सिद्धान्त ठीक नहीं क्यों नित्य कर्मों के न करने से प्रत्यवाय होता है और मोक्ष नित्य है। भाव यह है कि - पहले यह जो कहा गया कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है, ठीक नहीं, क्योंकि वेदशास्त्र में कहे हुए नित्य कर्मों के न करने से नरकादि की प्राप्ति रूप प्रत्यवाय होगा। यदि कहो कि ऐसा होने से तो कर्मों से चुटकारा ही न होगा, अतः मोक्ष के अभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा, तो ऐसा दोष नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्यसिद्ध है। नित्य कर्मों का आचरण करने से तो प्रत्यवाय न होगा, निषिद्ध कर्मों का सर्वथा त्याग कर देने से अनिष्ट (बुरे) शरीरों की प्राप्ति न होगी, काम्य कर्मों का त्याग कर देने के कारण इष्ट (अच्छे) शरीरों की प्राप्ति न होगी, तथा वर्तमान शरीर को उत्पन्न करने वाले कर्मों का, फल के उपभोग से क्षय हो जाने पर, इस शरीर का नाश हो जाने के पश्चात्, दूसरे शरीर की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं रहने से तथा शरीर सम्बधी आशक्ति आदि के न करने से, जो स्वरूप में स्थित हो जाना है वही कैवल्य है, अतः बिना प्रयत्न के ही कैवल्य सिद्ध हो जायेगा।

उ०- किन्तु भूतपूर्व अनेक जन्मों के किये हुए जो स्वर्ग-नरक आदि की प्राप्ति रूप फल देने वाले अनेक अनारब्ध फल - संचित कर्म हैं, उनके फल का उपभोग न होने के कारण, उनका तो नाश नहीं होगा - ऐसा कहें तो?

पू०- यह बात नहीं है, क्योंकि नित्य कर्म के अनुष्ठान में होने वाले परिश्रम रूप दुःख-भोग को, उन कर्मों के फल का उपभोग माना जा सकता है। अथवा प्रायश्चित की भाँति नित्य कर्म भी पूर्वकृत पाप का नाश करने वाले मान लिए जायेंगे तथा प्रारब्ध कर्म का फल-भोग से नाश हो जाएगा, फिर नये कर्मों का आरम्भ न करने से 'कैवल्य बिना यत्न के सिद्ध हो जायेगा।

उ०- यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि 'उस (परमात्मा) को जान कर ही मनुष्य मृत्यु से तरता है; 'मोक्ष प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है' इस प्रकार मोक्ष के लिए विद्या के अतिरिक्त अन्य मार्ग का अभाव बतलाने वाली श्रुति है। तथा जैसे चमड़े की भाँति आकाश को लपेटना असम्भव है, उसी प्रकार अज्ञानी की मुक्ति असम्भत्र बतलाने वाली भी श्रुति है, एवं पुराण और स्मृतियों में भी यही कहा गया है कि ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। इसके सिवा (उस सिद्धान्त में) जिनका फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे पूर्वकृत पुण्यों के नाश की उपपत्ति न होने से भी, यह पक्ष ठीक नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार पूर्वकृत संचित पापों का नाश सम्भव है, उसी प्रकार संचित पुण्यों का होना भी सम्भव है ही, अतः देहान्तर को उत्पन्न किये बिना उसका क्षय सम्भव न होने से (इस पक्ष के अनुसार) मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा।

इसके सिवा, पुण्य-पाप के कारण-रूप राग, द्वेष और मोह आदि दोषों का, बिना आत्मज्ञान के मूलोच्छेद होना सम्भव न होने के कारण भी, पुण्य-पाप का उच्छेद होना सम्भव नहीं। तथा श्रुति में नित्य कर्मों का पुण्यलोक की प्राप्ति रूप फल बतलाया जाने के कारण और 'अपने कर्मों में स्थित वर्णाश्रमावलम्बी' इत्यादि स्मृति-वाक्यों द्वारा भी यही बात कहे जाने के कारण भी कर्मों का क्षय मानना सिद्ध नहीं होता। तथा जो यह कहते हैं कि नित्य कर्म दुःख-रूप होने के कारण पूर्वकृत पापों का फल ही है, उनका अपने स्वरूप से अतिरिक्त और कोई फल नहीं है, क्योंकि श्रुति में उनका कोई फल नहीं बतलाया गया तथा उनका 'विधान जीवन-निर्वाह आदि के लिए किया गया है' उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कर्म-फल देने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए, उनका फल होना असम्भव है और नित्य कर्म के अनुष्ठान का परिचय, अन्य कर्म का फल विशेष है, यह बात भी सिद्ध नहीं की जा सकेगी।

तुमने जो यह कहा, कि पूर्व जन्म कृत पाप कर्मों का फल, नित्यकर्मों के अनुष्ठान में होने वाले परिश्रम रूप दुःख के द्वारा भोगा जाता है, सो ठीक नहीं, क्योंकि मरने के समय जो कर्म भविष्य में फल देने के लिए अंकुरित नहीं हुए उनका फल दूसरे कर्मों द्वारा उत्पन्न हुए शरीर में भोगा जाता है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। यदि ऐसा न हो, तो स्वर्ग रूप फल का भोग करने के लिए अग्निहोत्रादि कर्मों से उत्पन्न हुए जन्म में, नरक के कारण भूत कर्मों का फल भोगा जाना भी युक्ति-विरुद्ध नहीं होगा।

इसके सिवा वह (नित्य कर्म के अनुष्ठान में होने वाला परिश्रम रूप दुःख) पापों का फल रूप दुःख विशेष सिद्ध न हो सकने के कारण भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःख साधन रूप फल देने वाले, अनेक (संचित) पापों के होने की सम्भावना होते हुए भी, नित्य कर्म अनुष्ठान के परिश्रम मात्र को ही उन सबका फल मान लेने पर, शीतोष्णादि द्वन्द्वों की अथवा रोगादि की पीड़ा से होने वाले दुःखों को पापों का फल नहीं माना जा सकेगा। तथा यह हो भी कैसे सकता है कि नित्य कर्म के अनुष्ठान का परिश्रम ही पूर्वकृत पापों का फल है, सिर पर पत्थर आदि ढोने का दुःख उसका फल नहीं। इसके सिवा, नित्य कर्मों के अनुष्ठान से होने वाला परिश्रम-रूप दुःख पूर्वकृत पापों का फल है, यह कहना प्रकरण-विरुद्ध भी है।

पू० कैसे?

उ० जो पूर्वकृत पाप फल देने के लिए अंकुरित नहीं हुए है, उनका क्षय नहीं हो सकता ऐसा प्रकरण है, उसमें तुमने फल देने के लिए प्रस्तुत हुए पूर्वकृत पापों का ही फल नित्यकर्मों के अनुष्ठान से होने वाला परिश्रम रूप दुःख बतलाया है, जो कर्म फल देने के लिए प्रस्तुत नहीं हुए हैं, उनका फल नहीं बतलाया। यदि तुम यह मानते हो कि पूर्वकृत सभी पाप-कर्म फल देने के लिए प्रवृत्त हो चुके हैं, तो फिर नित्य कर्मों के अनुष्ठान का परिश्रम्-रूप दुःख ही उनका फल है, यह विशेषण देना अयुक्त ठहरता है। और नित्य कर्म-विधायक शास्त्र को भी व्यर्थ मानने का

प्रसंग आ जाता है, क्योंकि फल देने के लिए अंकुरित हुए पापों का तो उपभोग से ही क्षय हो जाएगा (उनके लिए नित्य कर्मों की क्या आवश्यकता है)।

इसके सिवा (वास्तव में) वेद-विदित नित्य कर्मों से होने वाला परिश्रम रूप दुःख यदि कर्म का फल हो तो वह उन विहित नित्य कर्मों का ही फल होना चाहिए; क्योंकि वह व्यायाम आदि की भाँति, उनके ही अनुष्ठान से होता हुआ दिखलायी देता है, अतः यह कल्पना करना कि 'वह किसी अन्य कर्म का फल है' युक्तियुक्त नहीं है। नित्य कर्मों का विधान जीवनादि के लिए किया गया है इसलिए भी नित्य कर्मों को प्रायश्चित की भाँति पूर्वकृत पापों का फल मानना युक्तियुक्त नहीं है। जिस पाप कर्म के लिए जो प्रायश्चित विहित है, वह उस पाप का फल नहीं है। तथापि यदि ऐसा माने कि प्रायश्चित रूप दुःख (जिसके लिए प्रायश्चित किया जाये) उस पाप-रूप निमित्त का ही फल होता है, तो जीवनादि के लिए किये जाने वाले नित्य कर्मों का परिश्रम-रूप दुःख भी जीवन आदि हेतुओं का ही फल सिद्ध होगा; क्योंकि नित्य और प्रायश्चित ये दोनों ही किसी-न-किसी निमित्त से किए जाने वाले हैं, इनमें कोई भेद नहीं है।

इसके सिवा दूसरा दोष यह भी है कि नित्य कर्म के परिश्रम की और काम्य अग्निहोत्रादि कर्म के परिश्रम की समानता होने के कारण नित्य कर्म का परिश्रम ही पूर्वकृत पाप का फल है, काम्य-कर्मानुष्ठान परिश्रम-रूप दुःख उसका फल नहीं है, ऐसा मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं है, अतः वह काम्य कर्म का परिश्रम-रूप दुःख भी, पूर्वकृत पाप का ही फल माना जायेगा। ऐसा होने से नित्य कर्मों का फल नहीं बतलाया गया है और उनके अनुष्ठान का विधान किया गया है, उस विधान की अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने के कारण, नित्य कर्मों के अनुष्ठान से होने वाला दुःख पूर्वकृत पापों का ही फल है इस प्रकार की जो अर्थापत्ति की कल्पना की गयी थी, उसका खण्डन हो गया। इस तरह प्रकारान्तर से नित्य कर्मों के विधान की अनुपपत्ति होने से और निक्य कर्मों का अनुष्ठान-संबंधी परिश्रम-रूप दुःख के सिवा दूसरा फल होता है, ऐसा अनुमान होने से भी यह पक्ष खण्डित हो जाता है।

इसके सिवा ऐसा मानने में विरोध होने के कारण भी यह पक्ष कट जाता है। नित्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए दूसरे कर्मों का फल भोगा जाता है, ऐसा मान लेने से यह कहना होता है कि वह उपभोग ही नित्य कर्म का फल है। और साथ ही यह भी प्रतिपादन करते जाते हो कि नित्य कर्म का फल नहीं है, अतः यह कथन परस्पर विरुद्ध होता है। इसके अतिरिक्त तुम्हारे मतानुसार काम्य अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करते हुए तन्त्र से नित्य अग्निहोत्रादि भी उन्हीं के साथ अनुष्ठित हो जाते हैं। अतः उस परिश्रम-रूप दुःख भोग से ही काम्य अग्निहोत्रादि का फल भी क्षीण हो जाएगा, क्योंकि वह उसके अधीन है।

यदि ऐसा माने कि काम्य अग्निहोत्रादि का स्वर्गादि-प्राप्ति-रूप दूसरा ही फल होता है तो उनके अनुष्ठान में होने वाले परिश्रम-रूप दुःख को भी नित्य कर्म के परिश्रम से

भिन्न मानना आवश्यक होगा। परंतु प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण यह नहीं हो सकता। क्योंकि काम्य कर्मों के अनुष्ठान से होने वाले परिश्रम-रूप दुःख से, केवल नित्य कर्म अनुष्ठान में होने वाले परिश्रम-रूप दुःख हो, भेद नहीं है। इसके सिवा दूसरी बात यह भी है कि जो कर्म न विहित हो और न प्रतिषिद्ध हो, वही तत्काल फल देने वाला होता है, शास्त्र-विहित या प्रतिषिद्ध कर्म तत्काल फल देने वाला नहीं होता। यदि ऐसा होता तो स्वर्ग आदि लोकों का प्रतिपादन करने में और अदृष्ट फलों के बतलाने में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

कर्मत्व में किसी प्रकार का भेद न होने पर तथा अंग और इतिकर्तव्यता आदि की कोई विशेषता न होने पर भी केवल नित्य अग्निहोत्रादि का फल तो अनुष्ठान-जनित परिश्रम-रूप दुःख के उपभोग से क्षय हो जाता है और फलेच्छुकता मात्र की अधिकता से काम्य-अग्निहोत्रादि का स्वर्गादि महाफल होता है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।

सुतरां नित्य कर्मों का अदृष्ट फल नहीं होता यह बात कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अविद्यापूर्वक होने वाले सभी शुभाशुभ कर्मों का अशेषतः नाश करने वाला हेतु, विद्या (ज्ञान) ही है, नित्यकर्म का अनुष्ठान नहीं। क्योंकि सभी कर्म, अविद्या और कामनामूलक हैं। ऐसा ही हमने सिद्ध किया है कि अज्ञानी का विषय कर्म है और ज्ञानी का विषय सर्वकर्म-सन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा है।

'उभौ तौ न विजानीतः' 'वेदाविनाशिनं नित्यं', 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्', 'अज्ञानां कर्मसंगिनाम्', 'तत्ववितु', 'गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते', 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते', 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्वविद्' इत्यादि वाक्यों के अर्थ से, यही सिद्ध होता है कि अज्ञानी ही 'मैं कर्म करता हूं' ऐसा मानता है। (ज्ञानी नहीं)। आरुरुक्ष के लिए कर्म कर्तव्य बतलाये हैं और आरूढ़ के लिए अर्थात् योगस्थ पुरुष के लिए उपशम कर्तव्य बतलाया है। तथा (ऐसा भी कहा है कि) 'तीनों प्रकार के अज्ञानी भक्त भी उदार है', 'पर ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मैं मानता हूँ।'

कर्म करने वाले सकाम अज्ञानी लोग आवागमन को प्राप्त होते हैं और अनन्य भक्त नित्य युक्त होकर चिन्तन करते हुए आत्मस्वरूप, आकाश के सदृश, मुझ निष्पाप परमात्मा की उपसाना किया करते हैं।

'उनको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं', इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म करने वाले अज्ञानी भगवान् को प्राप्त नहीं होते। भगवदर्थ कर्म करने वाले जो युक्ततम होने पर भी कर्मी होने के नाते अज्ञानी हैं, वे चित्त-समाधान से लेकर कर्मफल-त्याग-पर्यन्त उत्तरोत्तर हीन बतलाये हुए साधनों से युक्त होते हैं। तथा जो अनिर्देश्य अक्षर के उपासक हैं वे 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि से लेकर बारहवें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त बतलाते हुए साधनों से सम्पन्न

और तेरहवें अध्याय से लेकर तीन अध्यायों में बतलाये हुए ज्ञान-साधनों से भी युक्त होते हैं।

अधिष्ठानादि पाँच जिसके कारण हैं, ऐसे समस्त कर्मों का जो संन्यास करने वाले हैं, जो आत्मा के एकत्व और अकर्तुत्व को जानने वाले हैं, जो ज्ञान की परानिष्ठा में स्थित हो गये हैं, जो भगवत्स्वरूप और आत्मा के एकत्व-ज्ञान की शरण ले चुके हैं, ऐसे भगवात्-तत्व को जानने वाले परमहंस परिव्राजकों को इष्ट-अनिष्ट और मिश्र–ऐसा विविध कर्मफल नहीं मिलता। इससे अन्य जो सन्यास न करने वाले कर्मपरायण अज्ञानी हैं, उनको कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है; यही गीताशास्त्र में कहे हुए कर्तव्य और अकर्तव्य का विभाग है।

पू०– सभी कर्मों को अविद्यामूलक मानना युक्तिसंगत नहीं है।

उ०– नहीं ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्मों की भाँति सभी कर्म अविद्यामूलक हैं नित्य कर्म यद्यपि शास्त्र-प्रतिपादित हैं तो भी वे अविद्यायुक्त पुरुष के ही कर्म हैं।

जैसे प्रतिषेध शास्त्र से कहे हुए भी अनर्थ के कारण-रूप ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्म अविद्या और कामनादि दोषों से युक्त पुरुष के द्वारा ही हो सकते हैं, क्योंकि दूसरी तरह उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि कर्म भी अविद्या और कामना से युक्त मनुष्य से ही हो सकते हैं।

पू०– परंतु आत्मा को शरीर से पृथक् समझे बिना नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों में प्रवृत्ति का होना असम्भव है।

उ०– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा जिसका कर्ता नहीं है ऐसे चलन रूप कर्म में (अज्ञानियों की) "मैं करता हूँ" ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि कहो कि शरीरादि में जो अहंभाव है वह गौण है, मिथ्या नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से उनके कार्य में भी गौणता सिद्ध होगी।

पू० –जैसे 'हे पुत्र! तू मेरा आत्मा ही है' इस श्रुति-वाक्य के अनुसार, अपने पुत्र में 'अहंभाव' होता है तथा संसार में भी जैसे 'यह गौ मेरा प्राण ही है' इस प्रकार प्रिय वस्तु में 'अहंभाव' होना देखा जाता है, उसी प्रकार अपने शरीरादि संघात में भी अहंभाव गौण ही है, यह प्रतीति मिथ्या नहीं है। मिथ्या प्रतीति तो वह है जो स्थाणु और पुरुष के भेद को न जानकर स्थाणु में पुरुष की प्रतीति होती है।

उ०– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि गौण प्रयोग लुप्तोपमा शब्द द्वारा अधिकरण की स्तुति करने के लिए होता है, इसलिए गौण प्रतीति से मुख्य के कार्य की सिद्धि नहीं होती। जैसे कोई कहे कि देवदत्त सिंह है, या बालक अग्नि है, तो उसका यह कहना, देवदत्त सिंह के सदृश क्रूर और बालक अग्नि के समान पिंगल 'गौर वर्ण' इस प्रकार की समानता के कारण देवदत्त और बालक रूप अधिष्ठान की स्तुति के लिए ही हैं, क्योंकि गौण शब्द या गौण ज्ञान से कोई सिंह का कार्य (किसी को भक्षण कर जाना) या अग्नि का कार्य (किसी को जला डालना) सिद्ध नहीं किया

जा सकता। परन्तु मिथ्या प्रत्यय का कार्य (जन्म-मरण रूप) अनर्थ मनुष्य अनुभाव कर रहा है।

इसके सिवा गौण प्रतीति के विषय को मनुष्य ऐसा जानता भी है कि वास्तव में यह देवदत्त सिंह नहीं है। यदि उपर्युक्त प्रकार से शरीरादि संघात में भी आत्मभाव गौण होता तो शरीरादि के संघात रूप गौण आत्मा द्वारा किये हुए कर्म, अहंभाव के मुख्य विषय आत्मा के लिए नही माने जाते, क्योंकि गौण सिंह (देवदत्त) और गौण अग्नि (बालक) द्वारा किये हुए कर्म मुख्य सिंह और अग्नि के नहीं माने जाते। तथा उस क्रूरता और पिंगलता द्वारा कोई मुख्य सिंह और मुख्य अग्नि का कार्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे केवल स्तुति के लिए कहे हुए होने से हीनशक्ति है।

जिनकी स्तुति की जाती है वे (देवदत्त और बालक) भी यह जानते हैं कि 'मैं सिंह नहीं हूँ' 'मैं अग्नि नहीं हूँ' तथा 'सिंह का कर्म मेरा नहीं है' 'अग्नि का कर्म मेरा नहीं है'। इसी प्रकार यदि शरीरादि में गौण भावना होती तो संघात के कर्म मुझ मुख्य आत्मा के नहीं है — ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिए थी, ऐसी नहीं कि 'मैं कर्ता हूँ' 'मेरे कर्म हैं'। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि शरीर में आत्मभाव गौण नहीं, मिथ्या है। जो ऐसा कहते हैं कि अपने स्मृति, इच्छा और प्रयत्न इन कर्म हेतुओं के द्वारा आत्मा कर्म किया करता है, उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि वे सब मिथ्या प्रतीतिपूर्वक ही होने वाले हैं। अर्थात् स्मृति, इच्छा और प्रयत्न आदि सब मिथ्या प्रतीति से होने वाले इष्ट-अनिष्ट रूप अनुभूत कर्मफल-जनित संस्कारों को लेकर ही होते हैं।

जिस प्रकार इस वर्तमान जन्म में धर्म, अधर्म और उनके फलों का अनुभव (सुख-दुःख) शरीरादि संघात में आत्म बुद्धि और रामद्वेषादि द्वारा किये हुए होते हैं, वैसे ही भूतपूर्व जन्म में और उससे पहले के जन्मों में भी थे। इस न्याय से यह अनुमान करना चाहिए कि यह बीता हुआ और आगे होने वाला जन्म-मरण-रूप संसार अनादि एवं अविद्या-कर्तृक ही है। इससे यह सिद्ध होता है, कि ज्ञान-निष्ठा में सर्वकर्मों के संन्यास से संसार की आत्यान्तिक निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि देहाभिमान अविद्या-रूप है, अतः उसकी निवृत्ति हो जाने पर शरीरान्तर की प्राप्ति न होने के कारण जन्म-मरणरूप संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शरीरादि संघात में जो आत्माभिमान है वह अविद्या-रूप है क्योंकि संसार में भी 'मैं गौ आदि से अन्य हूँ और गौ आदि वस्तुएँ मुझसे अन्य हैं', ऐसा जानने वाला कोई भी मनुष्य उनमें ऐसी बुद्धि नहीं करता कि 'यह मैं हूँ'। न जानने वाला ही स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति के समान अविवेक के कारण, शरीरादि संघान में 'मैं हूँ' ऐसा आत्मभाव कर सकता है, पर विवेकपूर्वक जानने वाला नहीं कर सकता। तथा पुत्र में जो 'हे पुत्र! तू मेरा आत्मा ही है' ऐसी आत्म-बुद्धि ही है, वह जन्य-जनक-संबंध के कारण होने वाली गौण बुद्धि है, उस गौण आत्मा (पुत्र) से

भोजन आदि की भाँति कोई मुख्य कार्य नहीं किया जा सकता। जैसे कि गौण सिंह और गौण अग्निरूप देवदत्त और बालक द्वारा मुख्य सिंह और मुख्य अग्नि का कार्य नहीं किया जा सकता।

पू०– स्वर्गादि अदृष्य पदार्थों के लिए कर्मों का विधान करने वाली श्रुति का प्रमाणत्व होने से, यह सिद्ध होता है कि शरीर-इन्द्रिय आदि गौण आत्माओं के द्वारा मुख्य आत्मा के कार्य किये जाते हैं।

उ०– ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनका आत्मत्व अविद्याकर्तृक है। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि गौण आत्मा नहीं है किन्तु मिथ्या है।

पू०– तो फिर इनमें आत्मभाव कैसे होता है?

उ.– मिथ्या प्रतीति से ही संगरहित आत्मा की संगति मान कर इनमें आत्मभाव किया जाता है, क्योंकि उस मिथ्या प्रतीति के रहते हुए उनमें आत्मभाव की सत्ता है, उसके अभाव से आत्मभावना का भी अभाव हो जाता है। अभिप्राय यह है कि मूर्ख अज्ञानियों का ही अज्ञानकाल में 'मैं बड़ा हूँ, मैं गौर हूँ' इस प्रकार शरीर-इन्द्रिय आदि के संघात में आत्माभिमान देखा जाता है। परंतु 'मैं शरीरादि संघात से अलग हूँ' ऐसा समझने वाले विवेकशीलों की, उस समय शरीरादि संघात में अहंबुद्धि नहीं होती।

सुतरां मिथ्या प्रतीति के अभाव से देहात्म-बुद्धि का अभाव हो जाने के कारण, यह सिद्ध होता है कि शरीरादि में आत्मबुद्धि अविद्याकृत ही है, गौण नहीं। जिनकी समानता और विशेषता अलग-अलग समझ ली गयी है, ऐसे सिंह और देवदत्त में या अग्नि और बालक आदि में ही गौण प्रतीति या गौण शब्द का प्रयोग हो सकता है, जिनकी समानता और विशेषता नहीं समझी गयी, उनमें नहीं।

तुमने जो कहा कि श्रुति को प्रमाण-रूप मानने से यह पक्ष सिद्ध होता है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि उसकी प्रमाणता अदृष्ट-विषयक है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध न होने वाले अग्निहोत्रादि के साध्य, साधन और संबंध के विषय में ही श्रुति की प्रमाणता है; प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध हो जाने वाले विषयों में नहीं; क्योंकि श्रुति की प्रमाणता अदृष्ट विषय को दिखलाने के लिए ही है अर्थात् अप्रत्यक्ष विषय को बतलाना ही उसका काम है।

सुतरां देहादि संघात में, प्रत्यक्ष ही मिथ्या ज्ञान से होने वाली अहं-प्रतीति को गौण मानना नहीं बन सकता। क्योंकि 'अग्नि ठंडा है या अप्रकाशक है' ऐसा कहने वाली सैकड़ों श्रुतियाँ भी प्रमाण-रूप नहीं मानी जा सकती। यदि श्रुति ऐसा कहे कि 'अग्नि ठंडा है अथवा अप्रकाशक है' तो ऐसा मान लेना चाहिए कि श्रुति को कोई और ही अर्थ अभीष्ट है, क्योंकि अन्य प्रकार से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परंतु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध या श्रुति के अपने वचनों के विरुद्ध श्रुति के अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं।

पू०– कर्म मिथ्याज्ञानयुक्त पुरुष द्वारा ही किये जाने वाले हैं, ऐसा मानने से वास्तव में कर्ता का अभाव हो जाने के कारण श्रुति की अप्रमाणता (अनर्थकता) ही सिद्ध होती है ऐसा कहें तो?

उ०– नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्या में उसकी सार्थकता सिद्ध होती है।

पू०– कर्म-विधायक श्रुति की भाँति ब्रह्मविद्या-विधायक श्रुति की अप्रमाणता का प्रसङ्ग आ जाएगा, ऐसा मानें तो?

उ० – यह ठीक नहीं, क्योंकि उसका कोई बाधक प्रत्यय नहीं हो सकता। अर्थात् जैसे ब्रह्मविद्या-विधायक श्रुति द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर, देहादि संघात में आत्म बुद्धि बाधित हो जाती है, वैसे आत्मा में ही होने वाले आत्मभाव का बोध किसी के द्वारा किसी भी काल में किसी प्रकार भी बाधित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह आत्मज्ञान स्वयं ही फल है, उससे भिन्न किसी अन्य फल की प्राप्ति नहीं है, जैसे अग्नि उष्ण और प्रकाश-स्वरूप है।

इसके सिवा (वास्तव में) कर्म-विधायक श्रुति भी अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वह पूर्व-पूर्व (स्वाभाविक) प्रवृत्तियों को रोक-रोक कर उत्तरोत्तर नयी-नयी (शास्त्रीय) प्रवृत्ति को उत्पन्न करती हुई अन्त में अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा साधक को अन्तरात्मा के सम्मुख करने वाली प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। अतः उपाय मिथ्या होते हुए भी उपेय की सत्यता से, उसकी सत्यता ही है, जैसे कि विधि-वाक्य के अन्त में कहे जाने वाले अर्थवाद-वाक्यों की सत्यता मानी जाती है। लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि उन्मत्त और बालक आदि को दूध आदि पिलाने के लिए चोटी बढ़ने आदि की बात कही जाती है। तथा आत्म-ज्ञान होने से पहले, देहाभिमान-निमित्तक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रमाणत्य की भाँति प्रकारान्तर में स्थित कर्म-विधायक श्रुतियों की साक्षात् प्रमाणता भी सिद्ध होती है।

तुम जो यह मानते हो कि आत्मा स्वयं क्रिया न करता हुआ भी सन्निधि मात्र से कर्म करता है, यहीं आत्मा का मुख्य कर्तापन है। जैसे राजा स्वयं युद्ध न करते हुए भी सन्निधि मात्र से ही अन्य योद्धाओं के युद्ध करने से 'राजा युद्ध करता है' ऐसा कहा जाता है तथा 'वह जीत गया, हार गया' ऐसा भी कहा जाता है, इसी प्रकार सेनापति केवल वाणी से ही आज्ञा करता है। फिर भी राजा और सेनापति का उस क्रिया के फल से संबंध होता देखा जाता है। तथा जैसे ऋत्विक के कर्म यजमान माने जाते हैं, वैसे ही देहादि संघात के कर्म आत्मकृत हो सकते हैं, क्योंकि उनका फल आत्मा को ही मिलता है। तथा जैसे भ्रामक (भ्रमण कराने वाला चुम्बक) स्वयं क्रिया नहीं करता, तो भी वह लोहे तको चलाने वाला है, इसलिए उसी का मुख्य कर्तापन है, वैसे ही आत्मा का मुख्य कर्तापन है। ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से न करने वाले को कारक मानने का प्रसंग आ जायेगा।

यदि कहो कि कारक तो अनेक प्रकार के होते हैं, तो भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं, क्योंकि राजा आदि का मुख्य कर्तापन भी देखा जाता है। अर्थात् राजा अपने

निजी व्यवहार द्वारा भी युद्ध करता है तथा योद्धाओं से युद्ध कराने और उन्हें धन देने से भी निःसंदेह उसका मुख्य कर्तापन है। उसी प्रकार जय-पराजय आदि फल भोगों में भी उसकी मुख्यता है। वैसे ही यजमान का भी प्रधान आहुति स्वयं देने के कारण और दक्षिणा देने के कारण निःसंदेह मुख्य कर्तृव्य है। इससे यह निश्चित होता है है कि क्रिया-रहित वस्तु में जो कर्तापन का उपचार है वह गौण है। यदि राजा और यजमान आदि में स्वव्यापार-रूप मुख्य कर्तापन न पाया जाता तो उनका सन्निधिमात्र से भी मुख्य कर्तापन माना जा सकता था, जैसे कि लोह को चलाने में चुम्बक का सन्निधिमात्र से मुख्य कर्तापन माना जाता है। परंतु चुम्बक की भाँति राजा और यजमान का स्वव्यापार उपलब्ध न होता हो — ऐसी बात नहीं है। सुतरां सन्निधिमात्र से जो कर्तापन है वह भी गौण ही है।

ऐसा होने से उसके फल का संबंध भी गौण ही होगा, क्योंकि गौण कर्ता द्वारा मुख्य कार्य नहीं किया जा सकता। अतः यह मिथ्या ही कहा जाता है कि 'निष्क्रिय आत्मा देहादि की क्रिया से कर्ता-भोक्ता हो जाता है'। परन्तु भ्रन्ति के कारण सब कुछ हो सकता है, जैसे कि स्वप्न और माया में होता है। परंतु शरीरादि में आत्मबुद्धि-रूप अज्ञान-सन्तति का विच्छेद हो जाने पर, सुषुप्ति और समाधि आदि अवस्थाओं में कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थ उपलब्ध नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह संसार भ्रम मिथ्याज्ञान-निमित्तक ही है, वास्तविक नहीं, अतः पूर्ण तत्वज्ञान से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

4. ज्ञाननिष्ठा

[गीता 18/50 का भाष्य]

जिस ज्ञाननिष्ठारूप प्रकार से साधक ब्रह्म को — परमात्मा को — पाता है, उस प्रकार को, यानी ज्ञाननिष्ठा के क्रम को, तू मेरे वचनों से निश्चयपूर्वक समझ। क्या उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे? इस पर कहते हैं कि नहीं। हे कौन्तेय! समास से अर्थात् संक्षेप से ही, जिस क्रम से ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसे समझ। इस वाक्य से जिस ब्रह्म-प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञा की थी, उसे इदं रूप से (स्पष्ट) दिखाने के लिए कहते हैं कि ज्ञान की जो परनिष्ठा है उसको सुन। अन्तिम अवधि-परिसमाप्ति का नाम निष्ठा है। ऐसी जो ब्रह्मज्ञान की परमावधि है उसको सुन। वह (ब्रह्मज्ञान की निष्ठा) कैसी है? जैसा कि आत्मज्ञान है। वह कैसा है? जैसा आत्मा है। वह आत्मा कैसा है? जैसा भगवान् ने बतलाया है,[1] तथा जैसा उपनिषद्-वाक्यों द्वारा कहा गया है और जैसा न्याय से सिद्ध है।

पू०– ज्ञान विषयाकार होता है, परंतु आत्मा न तो कहीं विषय माना जाता है और न आकारवान् ही।

1. देखिए गीता 18/17 का शांकर भाष्य

उ०– किन्तु 'आदित्यवर्ण', प्रकाशस्वरूप', स्वयंज्योति' इस तरह आत्मा का आकारवान् होना तो श्रुति में कहा है।

पू०– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे वाक्य तमःस्वरूपत्व का निषेध करने के लिए कहे गये हैं। अर्थात् आत्मा में द्रव्य, गुण आदि के आकार का प्रतिषेध करने पर जो आत्मा को अन्धकाररूप मानने की आशंका होती है उसका प्रतिषेध करने के लिए ही 'आदित्यवर्णम्' इत्यादि वाक्य हैं। क्योंकि 'अरूपम्' आदि वाक्यों से विशेषतः रूप का प्रतिषेध किया गया है और इसका (आत्मा का) रूप इन्द्रियों के समान नहीं ठहरता, इसको (आत्मा को) कोई भी आँखों से नहीं देख सकता', 'यह अशब्द है, अस्पर्श है' इत्यादि वचनों से भी आत्मा किसी का विषय नहीं है, यह बात कही गयी है।

सुतरां 'जैसा आत्मा है वैसा ही ज्ञान है' यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। तब फिर आत्मा का ज्ञान कैसे होता है? क्योंकि सभी ज्ञान, जिसको विषय कहते हैं उसी के आकार वाले होते हैं और 'आत्मा निराकार है' ऐसा कहा है। फिर ज्ञान और आत्मा दोनों निराकार होने से उसमें भावना और निष्ठा कैसे हो सकती है?

उ०– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा का अत्यन्त निर्मलत्व, स्वच्छत्व और सूक्ष्मत्व सिद्ध है और बुद्धि का भी आत्मा के सदृश निर्मलत्व आदि सिद्ध है। इसलिए बुद्धि आत्मचैतन्य के आकार से आभासित है। बुद्धि आत्माकार का आभास है। बुद्धि का आभास मन है। मन के आभास इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों का आभास स्तूल शरीर है। इसलिए सांसारिक मनुष्य देहमात्र को आत्मा मानते हैं।[1]

देहात्मवादी लोकायतिक 'चेतनता विशिष्ट शरीर ही आत्मा है, ऐसा कहते हैं, दूसरे इन्द्रियों को चेतन कहने वाले हैं, तथा कोई मन को और कोई बुद्धि को चेतन कहने वाले हैं। कितने ही, उस बुद्धि के भी भीतर व्याप्त, अव्यक्तको — अव्याकृत संज्ञक अविद्यावस्थ (चिदाभास) को आत्मरूप से समझने वाले हैं। बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त सभी जगह आत्मचैतन्य का आभास ही उनमें आत्मा की भ्रान्ति का कारण है। अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मविषयक ज्ञान विधेय नहीं है। तो क्या विधेय नहीं है? नामरूप आदि अनात्मा वस्तुओं का जो आत्मा में अध्यारोप है उसकी निवृत्ति ही कर्त्तव्य है। आत्मचैतन्य का विज्ञान प्राप्त करना नहीं है, क्योंकि ज्ञान अविद्या द्वारा आरोपित समस्त पदार्थों के आकार में ही विशेषरूप से ग्रहण किया हुआ है।

यही कारण है कि विज्ञानवादी बौद्ध 'विज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ही नहीं है' इस प्रकार मानते हैं। और उस ज्ञान को स्वयंवेद्य मानने के कारण प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं मानते। सुतरां ब्रह्म में जो अविद्या द्वारा अध्यारोप किया गया है, उसका निराकरण मात्र कर्तव्य है। ब्रह्मज्ञान के लिए प्रयत्न कर्तव्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। ब्रह्म यद्यपि अत्यन्त प्रसिद्ध, सुविज्ञेय,

---

1. यहाँ आभासवाद का सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है।

अतिसमीप और आत्मस्वरूप है तो भी वह विवेकरहित मनुष्यों को, अविद्याकल्पित नामरूप के भेद से उनकी बुद्धि भ्रमित हो जाने के कारण, अप्रसिद्ध, दुर्विज्ञेय, अति दूर और दूसरा-सा प्रतीत हो रहा है। परंतु जिनकी बाह्याकार बुद्धि निवृत्त हो गई है जिन्होंने गुरु और आत्मा की कृपा लाभ कर ली है, उनके लिए इससे अधिक सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय, सुख-स्वरूप और अपने समीप कुछ भी नहीं है। 'प्रत्यक्ष-उपलब्ध धर्ममय' इत्यादि वाक्यों से भी यही बात कही गई है।

कितने ही अपने को पंडित मानने वाले यों कहते हैं, 'आत्मतत्व निराकार होने के कारण उसको बुद्धि नहीं पा सकती, अतः सम्यक् ज्ञाननिष्ठा दुःसाध्य है।' ठीक है, जो गुरु-परंपरा से रहित है, जिन्होंने वेदान्त-वाक्यों को (विधि-पूर्वक) नहीं सुना है, जिनकी बुद्धि सांसारिक विषयों में अत्यन्त आसक्त हो रही है, जिन्होंने यथार्थ ज्ञान कराने वाले प्रमाणों में परिश्रम नहीं किया है, उनके लिए यही बात है। परंतु जो उनसे विपरीत है, उनके लिए तो लौकिक ग्राह्य-ग्राहक भेद-युक्त वस्तुओं में सद्भाव सम्पादन करना (इनको सत्य समझना) अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उनको आत्मचैतन्य से अतिरिक्त दूसरी वस्तु की उपलब्धि ही नहीं होती। यह ठीक इसी तरह है, अन्यथा नहीं है, यह बात हम पहले सिद्ध कर आये हैं और भगवान् ने भी कहा है कि 'जिसमें सब प्राणी जागते हैं, ज्ञानी मुनि की वही रात्रि है' इत्यादि।

सुतरां आत्म-स्वरूप के अवलम्बन में, बाह्य नानाकार भेद बुद्धि की निवृत्ति ही कारण है, क्योंकि आत्मा कभी किसी के भी लिए अप्रसिद्ध, प्राप्तव्य, त्याज्य या उपादेय नहीं हो सकता। आत्मा को अप्रसिद्ध मान लेने पर तो सभी प्रवृत्तियों को निरर्थक मानना सिद्ध होगा। इसके सिवा न तो यह कल्पना की जा सकती है कि अचेतन शरीरादि के लिए सब कर्म किये जाते हैं और न यही कि सुख के लिए सुख है या दुःख के लिए दुःख है। क्योंकि सारे व्यवहार का प्रयोजन अन्त में आत्मा के ज्ञान का विषय बन जाता है। इसलिए, जैसे अपने शरीर को जानने के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, वैसे ही आत्मा को जानने के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है, अतः यह सिद्ध हुआ कि विवेकियों के लिए आत्मज्ञाननिष्ठा सुप्रसिद्ध है।

जिनके मत में ज्ञान निराकार और अप्रत्यक्ष है उनको भी, ज्ञेय का बोध (अनुभव) ज्ञान के ही अधीन होने के कारण, सुखादि की तरह ही ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध है, यह मान लेना चाहिए। तथा ज्ञान को जानने के लिए जिज्ञासा नहीं होती। इसलिए भी यह मान लेना चाहिए कि ज्ञान प्रत्यक्ष है। यदि ज्ञान अप्रत्यक्ष होता, तो अन्य ज्ञेय वस्तुओं की तरह उसको भी जानने के लिए इच्छा की जाती, अर्थात् जैसे ज्ञाता (पुरुष) घटादिरूप ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान के द्वारा अनुभव करना चाहता है, उसी तरह उस ज्ञान को भी अन्य ज्ञान के द्वारा जानने की इच्छा करता, परंतु यह बात नहीं है। सुतरां ज्ञान अत्यन्त प्रत्यक्ष है और इसलिए ज्ञाता भी

अत्यन्त ही प्रत्यक्ष है। अतः ज्ञान के लिए प्रयत्न कर्तव्य नहीं है, किन्तु आत्मबुद्धि की निवृत्ति के लिए ही कर्तव्य है, इसलिए ज्ञाननिष्ठा सुसंपाद्य है।

5. सत् और असत्

[गीता 2/16 का भाष्य]

वास्तव में अविद्यमान शीतोष्णादि का और उनके कारणों का भाव अर्थात् अस्तित्व है ही नहीं, क्योंकि प्रमाणों द्वारा निरूपण किये जाने पर शीतोष्णादि और उनके कारण कोई पदार्थ ही नहीं ठहरते। क्योंकि वे शीतोष्णादि सब विकार हैं, और विकार का सदा नाश होता है। जैसे चक्षु द्वारा निरूपण किये जाने पर घटादि का आकार मिट्टी को छोड़कर और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता इसलिए असत् है, वैसे ही सभी विकार कारण के सिवा उपलब्ध न होने से असत् है। क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पश्चात् उन सबकी उपलब्धि नहीं है।

पू०– मिट्टी आदि कारण का और उसके भी कारण का उसके निजी कारण से पृथक् उनकी उपलब्धि नहीं होने से अभाव सिद्ध हुआ, फिर इसी तरह उसका भी अभाव सिद्ध होने से सबके अभाव का प्रसंग आ जाता है।

उ० – यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र सत्-बुद्धि और असत्-बुद्धि ऐसी दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। जिस पदार्थ को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट नहीं होती वह पदार्थ सत् है और जिसको विषय करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है वह असत् है। इस प्रकार सत् और असत् का विभाग बुद्धि के अधीन है। सभी जगह समानाधिकरण में (एक ही अधिष्ठान में) सबको दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती है। नील कमल के सदृश्य नहीं; किन्तु घड़ा है, कपड़ा है, हाथी है, इस तरह सब जगह दो-दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। उन दोनों बुद्धियों में से घटादि को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, यह पहले दिखलाया जा चुका है परंतु सत्-बुद्धि नष्ट नहीं होती। अतः घटादि बुद्धि का विषय (घटादि) असत् है क्योंकि उसका व्यभिचार होता है। परंतु सत्-बुद्धि का विषय (अस्तित्व) असत् नहीं है, क्योंकि उसका व्यभिचार नहीं होता।

पू०– घट का नाश हो जाने पर घट-विषयक बुद्धि के नष्ट होते ही सत्-बुद्धि भी तो नष्ट हो जाती है।

उ०– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वस्त्रादि अन्य वस्तुओं में भी सत्-बुद्धि देखी जाती है। वह सत्-बुद्धि केवल विशेषण को ही विषय करने वाली है।

पू०– सत्-बुद्धि की तरह घट-बुद्धि भी तो दूसरे घट में दीखती है।

उ०– यह ठीक नहीं, क्योंकि वस्त्रादि में नहीं दीखती।

पू० – घट का नाश हो जाने पर उसमें सत्-बुद्धि भी तो नहीं दीखती।

उ०– यह ठीक नहीं, क्योंकि (वहाँ) घटरूप विशेष्य का अभाव है। सत्-बुद्धि विशेषण को विषय करने वाली है। सो जब घटरूप विशेष्य का अभाव हो गया,

बिना विशेष्य के विशेषण की अनुपपत्ति होने से वह (सत्-बुद्धि) किसको विषय करे? पर विषय का अभाव होने से सत्-बुद्धि का अभाव नहीं होता।

पू० – घटादि विशेष्य का अभाव होने से एकाधिकरणता (दोनों बुद्धियों का एक अधिष्ठान में होना) युक्तियुक्त नहीं होती।

उ०– यह ठीक नहीं, क्योंकि मृगतृष्णिकादि में अधिष्ठान से अतिरिक्त अन्य वस्तु का (जल का) अभाव है, तो भी 'यह जल है' ऐसी बुद्धि होने से समानाधिकरणता देखी जाती है। इसलिए असत् जो शरीरादि एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व और उनके कारण हैं उनका किसी का भी भाव — अस्तित्व — नहीं है। वैसे ही सत् जो आत्मतत्त्व है उसका अभाव अर्थात् अविद्यमानता नहीं है, क्योंकि वह सर्वत्र अटल है यह पहले कह आये हैं। इस प्रकार सत् आत्मा और असत्-अनात्मा — इन दोनों का ही यह निर्णय तत्त्वदर्शियों द्वारा देखा गया है अर्थात् प्रत्यक्ष किया जा चुका है कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है। 'तत् यह सर्वनाम है और सर्व ब्रह्म ही है, अतः उसका नाम 'तत्' है, उसके भाव को अर्थात् ब्रह्म के पदार्थ स्वरूप को तत्त्व कहते हैं, उस तत्त्व को देखना जिनका स्वभाव है वे तत्त्वदर्शी हैं, उनके द्वारा उपर्युक्त निर्णय देखा गया है। तू भी तत्त्वदर्शी पुरुषों की बुद्धि का आश्रय लेकर शोक और मोह को छोड़ कर तथा नियत और अनियत रूप शीतोष्णादि द्वन्द्वों को, इस प्रकार मन में समझ कर कि ये सब विकार हैं, ये वास्तव में न होते हुए भी मृगतृष्णा के जल की भाँति मिथ्या प्रतीत हो रहे हैं, (इनको) सहन कर।

6. आत्मेश्वरवाद

[गीता 13/2 का भाष्य]

पूर्वपक्ष— यदि समस्त शरीर में एक ही ईश्वर है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता नहीं है, ऐसा हम मानते हैं तो हम ईश्वर को संसारी मानते हैं, नहीं तो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य संसारी का अभाव होने से संसार के अभाव का प्रसंग आ जाता है। ये दोनों ही अनिष्ट हैं, क्योंकि ऐसा मान लेने पर बन्ध, मोक्ष और उनके कारण का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी इस मान्यता का विरोध है। प्रत्यक्ष प्रमाण से तो सुख-दुःख और उनका कारण-रूप यह संसार दीख ही रहा है। इसके सिवा जगत् की विचित्रता को देखकर पुण्यपाप-हेतु संसार का होना अनुमान से भी सिद्ध होता है, परन्तु आत्मा और ईश्वर की एकता मान लेने पर ये सबके सब अयुक्त ठहरते हैं।

उत्तरपक्ष— यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का भेद होने से यह सब सम्भव है। श्रुति में भी कहा गया है कि 'प्रसिद्ध जो अविद्या और विद्या हैं वे अत्यन्त विपरीत और भिन्न समझी गयी है' तथा उसी जगह उन विद्या और अविद्या का फल भी श्रेय और प्रेय इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखलाया गया है, इनमें विद्या का फल श्रेय (मोक्ष) और अविद्या का फल प्रेय (इष्ट भोगों की प्राप्ति) है। वैसे ही श्री व्यास जी ने भी कहा है कि 'ये दोनों ही मार्ग हैं' इत्यादि। तथा

'ये दो ही मार्ग है' इत्यादि और यहाँ गीताशास्त्र में भी दो निष्ठाएँ बतलायी गयी हैं।

इसके सिवा श्रुति, स्मृति और न्याय से भी यही सिद्ध होता है कि विद्या के द्वारा कार्यसहित अविद्या का नाश करना चाहिए। इस विषय में ये श्रुतियाँ हैं, 'यहाँ यदि जान लिया तो बहुत ठीक है और यदि यहाँ नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है,' 'उसको इस प्रकार जानने वाला यहाँ अमृत हो जाता है', 'परम पद की प्राप्ति के लिए (विद्या के सिवा) अन्य मार्ग नहीं है', 'विद्वान किसी से भी भयभीत नहीं होता' । किन्तु अज्ञानी के विषय में कहा गया है कि 'उसको भय होता है' जो अविद्या के बीच में ही पड़े हुए हैं, 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है', 'यह देव अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार जो समझता है वह आत्मतत्त्व को नहीं जानता। जैसे 'मनुष्यों का पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु है' किन्तु जो आत्मज्ञानी है उसके विषय में 'वह यह सब कुछ हो जाता है', 'यदि आकाश को चर्म के समान लपेटा जा सके' इत्यादि सहस्त्रों श्रुतियाँ हैं। तथा ये स्मृतियाँ भी हैं — 'ज्ञान अज्ञान से ढँका हुआ है, इसलिए जीव मोहित हो रहे हैं', 'जिनका चित्त समता में स्थित है उन्होंने यहीं संसार को जीत लिया है' 'सर्वत्र समान भाव से देखता हुआ' इत्यादि।

युक्ति से भी यह बात सिद्ध है। कहा गया है कि 'सर्प, कुश-कण्टक और तालाब को जान लेने पर मनुष्य उनसे बच जाते हैं, किन्तु बिना जाने कई एक उनमें गिर जाते हैं, इस न्याय से ज्ञान का जो विशेष फल है उसको समझो'। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि देहादि में आत्मबुद्धि करने वाला अज्ञानी रागद्वेषादि दोषों से प्रेरित होकर धर्म-अधर्म-रूप कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ जन्मता और मरता रहता है, किन्तु देहादि से अतिरिक्त आत्मा का साक्षात् करने वाले पुरुषों के राग-द्वेषादि दोष निवृत्त हो जाते हैं, इससे उनकी धर्मा-धर्म-विषयक प्रवृत्ति शान्त हो जाने से वे मुक्त हो जाते है। इस बात का कोई भी न्यायानुसार विरोध नहीं कर सकता।

अतः यह सिद्ध हुआ कि जो वास्तव में ईश्वर है उस क्षेत्रज्ञ को अविद्या द्वारा आरोपित उपाधि के भेद से संसारित्व प्राप्त-सा हो जाता है, जैसे कि जीव को देहादि में आत्मबुद्धि हो जाती है, क्योंकि समस्त जीवों का जो देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मभाव प्रसिद्ध है, वह निःसंदेह अविद्याकृत ही है। जैसे स्तम्भ में मनुष्य-बुद्धि हो जाती है, परंतु इतने ही से मनुष्य के धर्म स्तम्भ में और स्तम्भ के धर्म मनुष्य में नहीं आ जाते, वैसे ही चेतन के धर्म देह में और देह के धर्म चेतन में नहीं जा सकते। जरा और मृत्यु के समान ही अविद्या के कार्य होने से सुख-दुःख और अज्ञान आदि भी उन्हीं की भाँति आत्मा के धर्म नहीं हो सकते।

पू० – यदि ऐसा माने कि विषय होने के कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं है अर्थात् स्तम्भ और पुरुष दोनों ज्ञेय वस्तु है, उनमें अविद्यावश ज्ञाता द्वारा एक में

एक का अध्यास किया गया है; परन्तु देह और आत्मा में तो ज्ञेय और ज्ञाता का ही एक दूसरे में अध्यास होता है, इसलिए यह दृष्टान्त सम नहीं है, अतः यह सिद्ध होता है कि देह का ज्ञेय रूप (सुख-दुःखादि) धर्म भी ज्ञाता-आत्मा में होता है।

उ०– इसमें आत्मा को जड़ आदि मानने का प्रसंग आ जाता है, इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञेय-रूप शरीरादि क्षेत्र के सुख-दुःख, मोह और इच्छादि धर्म ज्ञाता (आत्मा) के भी होते हैं, तो यह बतलाना चाहिए कि ज्ञेय-रूप क्षेत्र के अविद्या द्वारा आरोपित कुछ धर्म तो आत्मा में होते हैं और कुछ — 'जरा-मरणादि' नहीं होते, इस विशेषता का कारण क्या है? बल्कि ऐसा अनुमान तो किया जा सकता है कि जरा आदि के समान अविद्या द्वारा आरोपित और त्याज्य तथा ग्राह्य होने के कारण ये सुख दुःखादि आत्मा के धर्म नहीं है। ऐसा होने से यह सिद्ध हुआ कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रूप यह संसार ज्ञेय वस्तु में स्थित हुआ ही अविद्या द्वारा ज्ञाता में अध्यारोपित है, अतः उससे ज्ञाता का कुछ भी नहीं बिगड़ता, जैसे कि मूर्खों द्वारा अध्यारोपित धर्म से किसी का भी उपकार या अपकार होता नहीं देखा जाता। आपने जो यह कहा था कि स्तम्भ में मनुष्य के भ्रम का दृष्टान्त सम नहीं है सो यह कहना भूल है।

पू० – कैसे?

उ०– अविद्याजन्य अध्यास मात्र में ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की समानता विवक्षित है। उसमें कोई दोष नहीं आता। परन्तु जो आप यह मानते हैं कि ज्ञाता में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की विषमता का दोष आता है, तो उसका भी अपवाद जरा, मृत्यु आदि के दृष्टान्त से दिखला दिया है।

पू० – यदि ऐसा कहें कि अविद्यायुक्त होने से क्षेत्रज्ञ को ही संसारित्व प्राप्त हुआ, तो?

उ०– यह कहना ठीन नहीं, क्योंकि अविद्या तामस प्रत्यय है। तामस प्रत्यय, चाहे विपरीत ग्रहण करने वाला हो, चाहे संशय उत्पन्न करने वाला (संशय) हो और चाहे कुछ भी ग्रहण न करने वाला हो, आवरण-रूप होने के कारण वह अविद्या ही है; क्योंकि विवेक-रूप प्रकाश के होने पर वह दूर हो जाता है, तथा आवरण-रूप तमोमय तिमिरादि दोषों के रहते हुए ही अग्रहण आदि-रूप तीन प्रकार की अविद्या का अस्तित्व उपलब्ध होता है।

पू० – यदि यह बात है तब तो अविद्या ज्ञाता का धर्म हुआ?

उ०– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि तिमिर रोगादि जन्य दोष चक्षु आदि कारणों में ही देखे जाते हैं, ज्ञाता आत्मा में नहीं। जो आप ऐसा मानते हैं कि 'अविद्या ज्ञाता का धर्म है और अविद्या-रूप धर्म से युक्त होना ही उसका संसारित्व है इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है और वह संसारी नहीं है, सो आपका ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि नेत्र-रूप कारण में विपरीत

ग्राहकर्ता आदि दोष देखे जाते हैं तो भी वे विपरीतादि ग्रहण या उनके कारण रूप तिमिरादि दोष ज्ञाता के नहीं हो जाते, उसी प्रकार देह के धर्म भी आत्मा के नहीं हो सकते। तथा जैसे आँख का संस्कार करके तिमिरादि प्रतिबन्ध को हटा देने पर ग्रहीता पुरुष में वे दोष नहीं देखे जाते, इसलिए वे ग्रहीता पुरुष के धर्म नहीं है, वैसे ही अग्रहण, विपरीत ग्रहण और संशय आदि प्रत्यय तथा उनके कारणरूप तिमिरादि दोष भी सर्वत्र किसी न किसी कारण के भी हो सकते हैं — ज्ञाता पुरुष के अर्थात् क्षेत्रज्ञ के नहीं।

इसके सिवा वे जानने में आने वाले (ज्ञान के विषय) होने से भी दीपक के प्रकाश की भाँति ज्ञाता के धर्म नहीं हो सकते। क्योंकि वे ज्ञेय हैं इसलिए अपने से अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा जानने में आने वाले हैं। सभी आत्मवादी समस्त कारणों से आत्मा का वियोग होने के उपरान्त कैवल्य-अवस्था में आत्मा को अविद्यादि दोषों से रहित मानते हैं, इससे भी उपर्युक्त सिद्धान्त ही सिद्ध होता है क्योंकि यदि अग्नि की उष्णता के समान ये सुख दुःखादि दोष क्षेत्रज्ञ आत्मा के अपने धर्म हों तो उनसे उसका कभी वियोग नहीं हो सकेगा। इसके सिवा आकाश की भाँति सर्वव्यापक, मूर्तिरहित, निर्विकार आत्मा का किसी के साथ संयोग, वियोग होना सम्भव नहीं है। इससे भी क्षेत्रज्ञ की नित्य ईश्वरता ही सिद्ध होता है। तथा 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' इत्यादि भगवान के वचनों से भी क्षेत्रज्ञ का नित्य ईश्वरत्व ही सिद्ध होता है।

पू०- ऐसा मान लेने पर तो संसार और संसारित्व का अभाव हो जाने के कारण शास्त्र की व्यर्थता आदि दोष उपस्थित होंगे?

उ०- नहीं, क्योंकि यह दोष तो सभी ने स्वीकार किया है। सभी आत्मवादियों द्वारा स्वीकार किये हुए दोष का किसी एक के लिए ही परिहार करना आवश्यक नहीं है।

पू०- इसे सबने कैसे स्वीकार किया है?

उ०- सभी आत्मवादियों ने मुक्त आत्मा में संसार और संसारीपन के व्यवहार का अभाव माना है, परंतु (इससे) उनके मत में शास्त्र की अनर्थकता आदि दोषों की प्राप्ति नहीं मानी गयी। जैसे समस्त द्वैतवादियों के मत से बन्धनावस्था में ही शास्त्र आदि की सार्थकता है मुक्त-अवस्था में नहीं, वैसे ही हमारे मत में भी जीवों की ईश्वर के साथ एकता हो जाने पर यदि शास्त्र की व्यर्थता होती हो, तो अविद्यावस्था में तो उसकी सार्थकता है ही।

पू०- हम सब द्वैतवादियों के सिद्धान्त से तो आत्मा की बन्धावस्था और मुक्तावस्था वास्तव में सच्ची है। अतः वे हेय और उपादेय हैं और उनके सब साधन भी सत्य हैं, इस कारण शास्त्र की सार्थकता हो सकती है। परन्तु अद्वैतवादियों के सिद्धान्त से तो द्वैतभाव अविद्या-जन्य और मिथ्या है, अतः आत्मा में बन्धावस्था भी वास्तव में नहीं है, इसलिए शास्त्र का कोई विषय न रहने के कारण शास्त्र आदि की व्यर्थता का दोष आता है।

उ०- यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा के अवस्था-भेद सिद्ध नहीं हो सकते, यदि आत्मा में इनका होना मान भी लें तो आत्मा की ये बन्ध और मुक्त दोनो अवस्थाएँ एक साथ होनी चाहिए या क्रम से?

स्थिति और गति की भाँति परस्पर विरोध होने के कारण दोनों अवस्थाएँ एक साथ तो एक में हो नहीं सकती। यदि क्रम से होना मानें तो बिना निमित्त के बन्धावस्था का होना मानने से तो उससे कभी छुटकारा न होने का प्रसंग आ जायेगा और किसी निमित्त से उसका होना मानें तो स्वतः न होने के कारण वह मिथ्या ठहरती है। ऐसा होने पर स्वीकार किया हुआ सिद्धान्त कट जाता है।

इसके सिवा बन्धावस्था और मुक्तावस्था का आगे-पीछे निरूपण किया जाने पर पहले बन्धावस्था का होना माना जायेगा तथा उसे आदि-रहित और अन्त-युक्त मानना पड़ेगा, सो यह प्रमाण-विरुद्ध है। ऐसे ही मुक्तावस्था को भी आदि-युक्त और अन्तरहित मानना प्रमाण-विरुद्ध ही होगा। तथा आत्मा को अवस्था वाला और एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने वाला मान कर उसका नित्यत्व सिद्ध करना भी सम्भव नहीं है।

आत्मा में अनित्यन्त के दोष का परिहार करने के लिए बन्धावस्था और मुक्तावस्था के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए द्वैतवादियों के मत से भी शास्त्र की व्यथता आदि दोष अबाध्य ही है। इस प्रकार दोनों के लिए समान होने के कारण इस दोष का परिहार केवल अद्वैतवादियों द्वारा ही किया जाना आवश्यक नहीं है। हमारे मतानुसार तो वास्तव में शास्त्र की व्यर्थता है भी नहीं, क्योंकि शास्त्र लोक-प्रसिद्ध अज्ञानी का ही विषय है। अज्ञानियों का ही फल और हेतु रूप अनात्म वस्तुओं में आत्मभाव होता है, विद्वानों का नहीं। क्योंकि विद्वान की बुद्धि में फल और हेतु से आत्मा का पृथक्त्व प्रत्यक्ष है, इसलिए उसका उन (अनात्म पदार्थों) में 'यह मैं हूँ' ऐसा आत्मभाव नहीं हो सकता। अत्यन्त मूढ़ और उन्मत्त आदि भी जल और अग्नि की, या छाया और प्रकाश की एकता नहीं मानते, फिर विवेकी की तो बात ही क्या है?

सुतरां फल और हेतु से आत्मा को भिन्न समझ लेने वाले ज्ञानी के लिए विधि-निषेध-विषयक शास्त्र नहीं है। जैसे 'हे देवदत्त! तू अमुक कार्य कर' इस प्रकार किसी कर्म में (देवदत्त के) नियुक्त किये जाने पर वहीं खड़ा हुआ विष्णुमित्र उस नियुक्ति को सुनकर भी, यह नहीं समझता कि मैं नियुक्त किया गया हूँ। हाँ, नियुक्त-विषयक विवेक का स्पष्ट ग्रहण न होने से तो ऐसा समझना ठीक हो सकता है, इसी प्रकार फल और हेतु में भी अज्ञानियों की आत्मबुद्धि हो सकती है।

पू० – फल और हेतु से आत्मा के पृथक्त्व का ज्ञान हो जाने पर भी, स्वाभाविक सम्बन्ध की अपेक्षा से शास्त्र-विषयक इतना बोध होना तो युक्तियुक्त ही है कि, 'मैं शास्त्र द्वारा अनुकूल फल और उसके हेतु में तो प्रवृत्त किया गया हूँ और प्रतिकूल फल और उसके हेतु से निवृत्त किया गया हूँ', जैसे कि पिता, पुत्र

आदि का आपस में एक दूसरे को भिन्न समझते हुए भी एक दूसरे के लिए किए हुए नियोग और प्रतिषेध को अपने लिए समझना देखा जाता है।

उ०- यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा के पृथक्त्व का ज्ञान होने से पहले ही फल और हेतु में आत्माभिमान होना सिद्ध है। नियोग और प्रतिषेध के अभिप्राय को भली प्रकार जानकर ही मनुष्य फल और हेतु से आत्मा के पृथक्त्व को जान सकता है, उससे पहले नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि विधि-निषेध-रूप शास्त्र केवल अज्ञानी के लिए ही है।

पू० – इस सिद्धान्त के अनुसार 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे', 'मांस भक्षण न करें' इत्यादि विधि-निषेध-बोधक शास्त्र-वचनों में आत्मा का पृथक्त्व जानने वालों की और केवल देहात्मावादियों की भी प्रवृत्ति न होने से कर्ता का अभाव हो जाने के कारण शास्त्र के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग आ जायेगा?

उ०- यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति का होना लोक-प्रसिद्धि से ही प्रत्यक्ष है। ईश्वर और जीवात्मा की एकता देखने वाला ब्रह्मवेत्ता कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता तथा आत्मसत्ता को न मानने वाला देहात्मवादी भी 'परलोक नहीं है' ऐसा समझकर शास्त्रानुसार नहीं बर्तता यह ठीक है, परन्तु लोक-प्रसिद्धि से यह तो हम सबको प्रत्यक्ष है ही कि विधि-निषेध-बोधक शास्त्र-श्रवण की दूसरी तरह उपपत्ति न होने के कारण जिसने आत्मा के अस्तित्व का अनुमान कर लिया है, एवं जो आत्मा के असली तत्त्व का ज्ञाता नहीं है, जिसकी कर्मों के फल में तृष्णा है, ऐसा मनुष्य श्रद्धालुता के कारण शास्त्रानुसार कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः शास्त्र की व्यर्थता नहीं है।

पू० – विवेकशील पुरुषों की प्रवृत्ति न देखने से उनका अनुकरण करने वालों की भी शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी अतः सास्त्र व्यर्थ हो जायेगा।

उ०- यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि किसी एक को ही विवेक-ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थात् अनेक प्राणियों में से कोई एक ही विवेकी होता है जैसा कि आज कल देखा जाता है। इसके सिवा मूढ़ लोग विवेकियों का अनुकरण भी नहीं करते क्योंकि प्रवृत्ति रागादि दोषों के अधीन हुआ करती है। (प्रतिहिंसा के उद्देश्य से किये जाने वाले जारण-मारण आदि) अभिचारों में भी लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है, तथा प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह कहा भी है कि 'स्वभाव ही बर्तता है।'

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि संसार अविद्यामात्र ही है और वह अज्ञानियों का ही विषय है। केवल शुद्ध क्षेत्रज्ञ में अविद्या और उसके कार्य दोनों ही नहीं है। तथा मिथ्याज्ञान परमार्थ वस्तु को दूषित करने में समर्थ भी नहीं है, क्योंकि जैसे ऊसर भूमि को मृगतृष्णिका का जल अपनी-अपनी आर्द्रता से कीचड़युक्त नहीं कर सकता, वैसे ही अविद्या भी क्षेत्रज्ञ का कुछ भी (उपकार या अपकार) करने में समर्थ नहीं है, इसीलिए 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' और 'अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानम्' यह कहा है।

पू० – तो फिर यह क्या बात है कि संसारी पुरुषों की भाँति पण्डितों को भी 'मैं ऐसा हूँ' 'यह वस्तु मेरी ही है' ऐसी प्रतीति होती है?

उ०– सुनो, यह पांडित्य बस इतना ही है जो कि क्षेत्र में ही आत्मा को देखना है परन्तु यदि मनुष्य क्षेत्रज्ञ को निर्विकारी समझ ले तो फिर 'मुझे अमुक भोग मिले' या 'मैं अमुक कर्म करूँ' ऐसी आकांक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि भोग और कर्म दोनों विकार ही तो हैं। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि फलेच्छुक होने के कारण अज्ञानी कर्मों में प्रवृत्त होता है, परन्तु विकार-रहित आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाले ज्ञानी में फलेच्छा का अभाव होने के कारण, उसकी प्रवृत्ति संभव नहीं, अतः कार्य-कारण-संघात के व्यापार की निवृत्ति होने पर उस (ज्ञानी) में निवृत्ति का उपचार किया जाता है।

किसी-किसी के मत में यह एक प्रकार की विद्वता और भी हो सकती है कि क्षेत्रज्ञ तो ईश्वर है और उस क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का विषय क्षेत्र उससे अलग है तथा मैं तो (उन दोनों से भिन) संसारी और सुखी-दुःखी भी हूँ। मुझे क्षेत्रज्ञ के ज्ञान और ध्यान द्वारा ईश्वर रूप-क्षेत्रज्ञ का साक्षात् करके उसके स्वरूप में स्थित होगा रूप साधन से संसार की निवृत्ति करनी चाहिए। जो ऐसा समझता है या दूसरे को ऐसा समझाता है कि 'वह (जीव) क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म) नहीं है' तथा जो यह मानता है कि मैं (इस प्रकार के सिद्धान्त से) संसार, मोक्ष और शास्त्र की सार्थकता सिद्ध करूँगा, वह पण्डितों में अधम है। तथा वह आत्महत्यारा शास्त्र के अर्थ की सम्प्रदाय-परम्परा से रहित होने के कारण, श्रुति-विहित अर्थ त्याग और वेद-विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके स्वयं मोहित हो रहा है और दूसरों को भी मोहित करता है।

सुतरां जो शास्त्रार्थ की परम्परा को जानने वाला नहीं है, वह समस्त शास्त्रों का ज्ञाता भी हो तो मूर्खों के समान उपेक्षणीय ही है। और जो यह कहा था कि ईश्वर की क्षेत्रज्ञ के साथ एकता मानने से तो ईश्वर में संसारीपन आ जाता है और क्षेत्रज्ञों की ईश्वर के साथ एकता मानने से कोई संसारी न रहने के कारण संसार के अभाव का प्रसंग आ जाता है, सो विद्या और अविद्या की विलक्षणता के प्रतिपादन से इन दोषों का ही परिहार कर दिया गया।

पू०– कैसे?

उ०– 'अविद्या द्वारा कल्पित किए हुए दोष से तद्विषयक पारमार्थिक (असली) वस्तु दूषित नहीं होती' इस कथन से पहली शङ्का का निराकरण किया गया और वैसे ही यह दृष्टान्त भी दिखलाया कि मृगतृष्णिका के जल से ऊसर भूमि पङ्क युक्त नही की जा सकती। तथा संसारी का अभाव होने से संसार के अभाव के प्रसङ्ग का जो दोष बतलाया था, उसका भी संसारित्व की अविद्या-कल्पित उपपत्ति को स्वीकार करके निराकरण कर दिया गया।

पू०– क्षेत्रज्ञ का अविद्यायुक्त होना ही तो सांसारित्व-रूप दोष है, क्योंकि उससे होने वाले दुःखित्व आदि दोष प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

उ०– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो कुछ ज्ञेय है – जानने में आता है, वह सब क्षेत्र का ही धर्म है, इसलिए उसके किये हुए दोष ज्ञाता क्षेत्रज्ञ के नहीं हो सकते। तू क्षेत्रज्ञ पर वास्तव में बिना हुए ही जो कुछ भी दोष लाद रहा है, वे सब ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र के ही धर्म हैं, क्षेत्रज्ञ के नहीं। उनसे क्षेत्रज्ञ (आत्मा) दूषित नहीं हो सकता। यदि उनका संसर्ग मान लिया जाये तो (ज्ञेय का) ज्ञेयत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि अविद्यायुक्त होना और दुःखी होना आदि आत्मा के धर्म हैं तो वे प्रत्यक्ष कैसे दीखते हैं? और वे क्षेत्रज्ञ के धर्म हों भी कैसे सकते हैं? क्योंकि जो कुछ भी ज्ञेय वस्तु है वह सब क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ ज्ञाता है, ऐसा सिद्धान्त स्थापित किये जाने पर फिर अविद्यायुक्त होना और दुःखी होना आदि दोषों को क्षेत्रज्ञ के धर्म बतलाना और उनकी प्रत्यक्ष-उपलब्धि भी मानना, यह सब अज्ञान मात्र के आश्रय से केवल विरुद्ध प्रलाप करना है।

पू०– वह अविद्या किसमें है?

उ०– जिसमें दीखता है उसी में।

पू०– किसमे दीखती है?

उ०– 'अविद्या किसमें दीखती है' – यह प्रश्न ही निरर्थक है।

पू०– किस प्रकार?

उ०– यदि अविद्या दीखती है तो उससे जो युक्त है उसकी भी तू अवश्य देखता ही होगा? फिर अविद्यावान् की उपलब्धि हो जाने पर वह अविद्या किसमें है, यह पूछना ठीक नहीं है। क्योंकि गौ वाले को देख लेने पर 'यह गौ किसकी है?' यह पूछना सार्थक नहीं हो सकता।

पू०– तुम्हारा यह दृष्टान्त विषम है। गौ और उसका स्वामी तो प्रत्यक्ष होने के कारण उनका संबंध भी प्रत्यक्ष है इसलिए (उनके संबंध के विषय में) प्रश्न निरर्थक है, परंतु उनकी भांति अविद्यावान् और अविद्या तो प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे कि यह प्रश्न निरर्थक माना जाये?

उ०– अप्रत्यक्ष अविद्यावान् के साथ अविद्या का संबंध जान लेने में तुम्हें क्या मिलेगा?

पू०– अविद्या अनर्थ की हेतु है, इसलिए उसका त्याग किया जा सकेगा।

उ०– जिसमें अविद्या है, वह उसका स्वयं त्याग कर देगा।

पू०– मुझमें ही तो अविद्या है?

उ०– तब तो तू अविद्या और उससे युक्त अपने आपको जानता है।

पू०– जानता तो हूँ परंतु प्रत्यक्ष-रूप से नहीं।

उ०– यदि अनुमान से जानता है तो (तुझ ज्ञाता और अविद्या के) संबंध का ग्रहण कैसे हुआ? क्योंकि उस समय (अविद्या के अनुमान से जानने के काल में) तुझ ज्ञाता का ज्ञेय-रूप अविद्या के साथ सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया जा सकता, कारण यह है कि ज्ञाता का विषय मानकर ही अविद्या का उपयोग किया गया है।

तथा ज्ञाता अविद्या के संबंध को जो ग्रहण करने वाला है वह तथा उस (अविद्या और ज्ञाता के संबंध) को विषय करने वाला कोई दूसरा ज्ञान ये दोनों ही संभव नहीं है। क्योंकि ऐसा होने से अनवस्था दोष प्राप्त होता, अर्थात् यदि ज्ञाता और ज्ञेय-ज्ञाता का संबंध ये भी (किसी के द्वारा) जाने जाते हैं, ऐसा माना जाये तो उसका ज्ञाता किसी और को मानना होगा। फिर उसका भी दूसरा और उसका भी दूसरा ज्ञाता मानना होगा, इस प्रकार अनवस्था अनिवार्य हो जाएगी। परन्तु ज्ञेय चाहे अविद्या हो अथवा और कुछ हो, ज्ञेय ज्ञेय ही रहेगा (ज्ञाता नहीं हो सकता), वैसे ही ज्ञाता भी ज्ञाता ही रहेगा, ज्ञेय नहीं हो सकता, जबकि ऐसा है तो अविद्या या दुःखित्व आदि दोषों से ज्ञाता-क्षेत्रज्ञ का कुछ भी दूषित नहीं हो सकता।

पू०– यही उसका दोष है जो कि वह दोषयुक्त क्षेत्र का ज्ञाता है।

उ०– यह कहना ठीक नही, क्योंकि आत्मा विज्ञान-स्वरूप और अविक्रिय है, उसमें (इस) ज्ञातापन का उपचारमात्र किया जाता है, जैसे कि उष्णतामात्र स्वभाव होने से अग्नि में तपाने की क्रिया का उपचार किया जाता है। जैसे भगवान् ने यहाँ (इस प्रकरण में) यह दिखाया है कि आत्मा में स्वभाव से ही क्रिया, कारक और फलात्मत्व का अभाव है, केवल अविद्या द्वारा अध्यारोपित होने के कारण क्रिया, कारक आदि आत्मा में उपचारित होते हैं, वैसे ही, 'जो इसे मारने वाला जानता है', 'प्रकृति के गुणों द्वारा ही सब कर्म किये जाते हैं', '(वह विभु) किसी के पाप-पुण्य को ग्रहण नहीं करता' इत्यादि प्रकरणों में जगह-जगह दिखाया गया है और इसी प्रकार हमने व्याख्या भी की है, तथा आगे के प्रकरणों में भी हम दिखलायेंगे।

पू०– तब तो आत्मा में स्वभाव से क्रिया, कारक और फलात्म का अभाव सिद्ध होने से तथा ये सब अविद्या द्वारा अध्यारोपित सिद्ध होने से यही निश्चय हुआ कि कर्म अविद्वान् को ही कर्तव्य है, विद्वान् को नहीं।

उ०– ठीक यही सिद्ध हुआ।

उपदेशसाहस्री

1. कूटस्थ और अद्वय आत्मा का ज्ञान[1]

जन्ममरण लक्षण वाले संसार से दुःखी होकर मोक्ष की इच्छा रखने वाला एक ब्रह्मचारी सुखपूर्वक बैठे हुए ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण के पास विधिवत् गया। उसने पूछा — भगवन्! मैं संसार से कैसे मुक्त होऊँगा? मैं जागरित अवस्था में शरीर तथा इन्द्रिय के विषयों की संवेदना का अनुभव करता हूँ और फिर दुःख पाता हूँ। इसी प्रकार सुषुप्ति में थोड़ा आराम पाकर पुनः पुनः स्वप्न में भी अनुभव करता हूँ। क्या यही मेरा स्वभाव है? अथवा यह नैमित्तिकमात्र है और मेरा स्वभाव कुछ

---

1. उपदेशसाहस्री प्रथम भाग, द्वितीय प्रकरण।

अन्य है? यदि यह मेरा स्वभाव हो तो मैं मोक्ष की आशा नहीं कर सकता, क्योंकि स्वभाव का त्याग नहीं हो सकता है। किन्तु यदि यह नैमित्तिक है तो निमित्त का निराकरण करने पर मोक्ष की सिद्धि हो सकती है।

गुरु ने उससे कहा — पुत्र! सुनो। यह तुम्हारा स्वभांव नहीं है, किन्तु नैमित्तिक है।

तब शिष्य ने कहा — इसका निमित्त क्या है? इसका निर्वतक क्या है? मेरा स्वभाव क्या है? निमित्त के निराकरण पर नैमित्तिक का अभाव होना और स्वभाव की प्राप्ति होगी, जैसे रोग के निमित्त की निवृत्ति होने पर रोगी स्वभाव को प्राप्त करता है अर्थात् वह स्वस्थ हो जाता है।

गुरु ने कहा — अविद्या निमित्त है। विद्या उसको निवृत्त करती है। अविद्या के निवृत्त होने पर उसके निमित्त का अभाव हो जाता है और तब तुम जन्ममरण लक्षण वाले संसार से मुक्त हो जाते हो और स्वप्न तथा जागृत अवस्था के दुःखों का अनुभव नहीं करोगे।

शिष्य ने पूछा — वह अविद्या क्या है? उसका विषय क्या है? विद्या क्या है जिससे स्वभाव की प्राप्ति होती है?

गुरू ने कहा — तुम असंसारी परम आत्मा हो, किन्तु इसके विपरीत तुम समझते हो कि मैं संसारी हूँ। तुम अकर्ता हो, अभोक्ता हो, किन्तु तुम अपने को कर्ता और भोक्ता मानते हो। तुम सदा विद्यमान हो किन्तु अपने को अविद्यमान मानते हो। यही अविद्या है।

शिष्य ने कहा — यदि मैं विद्यमान हूँ, तो भी मैं परमात्मा नहीं हूँ। मैं कर्ता, भोक्ता, संसारी हूँ — यह मेरा स्वभाव है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से मैं ऐसा अनुभव भी करता हूँ। अतः मेरा यह संसारी-रूप अविद्या के कारण नहीं है, अविद्या का विषय स्वात्मा नहीं हो सकता है। अविद्या का अर्थ है किसी वस्तु में अन्य वस्तु के गुणों का आरोप करना, जैसे प्रसिद्ध रजत का शुक्तिका में आरोप या प्रसिद्ध पुरुष का स्थाणु में आरोप या प्रसिद्ध स्थाणु का पुरुष में आरोप। अप्रसिद्ध का आरोप प्रसिद्ध में नहीं होता है: प्रसिद्ध का आरोप भी अप्रसिद्ध में नहीं होता है। आत्मा में अनात्मा का आरोप नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मा अप्रसिद्ध है। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मा का आरोप नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अप्रसिद्ध है।

गुरु ने उसको बताया — ऐसा नहीं है। देखो, अपवाद है। प्रसिद्ध में ही प्रसिद्ध का आरोप हो — ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि आत्मा में अध्यारोप देखा जाता है। मैं गौर हूँ, मैं कृष्ण हूँ, इस प्रकार देहधर्म का अध्यारोप अहं-प्रत्यय-विषयक आत्मा में किया जाता है और यह मैं हूँ इस वाक्य में यह प्रत्यय-विषयक आत्मा का अध्यारोप देह में किया जाता है।

शिष्य ने कहा — तब अहं-प्रत्यय के विषय-रूप से आत्मा तो प्रसिद्ध ही है और 'यह है' ऐसा अनुभव होने के कारण देह भी प्रसिद्ध ही है। ऐसा होने पर तो स्थाणु-पुरुष एवं शुक्ति-रजत के समान प्रसिद्ध देह और आत्मा का ही अन्योन्याध्यास

होता है। तब श्रीमान् ने किस विशेषता को लेकर ऐसा कहा था कि प्रसिद्ध पदार्थों का ही एक दूसरे में अध्यास होता है – ऐसा नियम नहीं किया जा सकता।

गुरु ने कहा— सुनो, यह तो ठीक है कि देह और आत्मा भी प्रसिद्ध ही है, किन्तु वे स्थाणु और पुरुष के समान सम्पूर्ण लोक में पृथक्-पृथक् प्रतीति के विषय रूप से प्रसिद्ध नहीं है तो फिर वे किस प्रकार प्रसिद्ध है? — वे तो सदा ही व्यवधानशून्य, अपृथक् प्रतीति के विषय-रूप से जाने जाते हैं, क्योंकि कोई भी पुरुष 'यह देह है और यह आत्मा है इस पृथक्-पृथक् प्रतीतियों के द्वारा देह और आत्मा ग्रहण नहीं करता। इसी से आत्मा और अनात्मा के विषय में 'आत्मा ऐसा है— ऐसा नहीं है' इस प्रकार लोगों को मोह हो रहा है। इसी विशेषता को लेकर मैंने कहा था कि ऐसा नियम नहीं किया जा सकता।

शिष्य — किन्तु जो वस्तु जहाँ अविद्या से आरोपित होती है वह तो असत् देखी गयी है जैसे सीपी में चाँदी, स्थाणु में पुरुष, रस्सी में सर्प और आकाश में तल मालिन्यादि (नीलिमा एवं गन्धर्व-नगरादि)। इसी प्रकार यदि देह और आत्मा का भी सर्वदा निरन्तर अभिन्न प्रतीति-विषयत्व रूप से एक दूसरे में अध्यारोप किया गया हो तो वह नित्य ही दोनों की पारस्परिक असत्ता का ही हेतु होगा। जिस प्रकार सीपी आदि में अविद्या से आरोपित चाँदी आदि की सर्वदा ही आत्यन्तिकी असत्ता है तथा इसके विपरीत सीपी आदि की तद्विपरीत चाँदी आदि में असत्ता है, उसी प्रकार यदि देह और आत्मा का अविद्या से ही एक दूसरे में अध्यास हुआ है तो ऐसा होने पर उन देह और आत्मा की असत्ता का ही प्रसंग उपस्थित होता है, किन्तु आत्मा की असत्ता वैनाशिक (बौद्ध) का पक्ष होने के कारण इष्ट नहीं है और यदि इसके विपरीत देह ही आत्मा में अविद्या से आरोपित है तो आत्मा की सत्ता रहते हुए भी देह की असत्ता सिद्ध होगी। किन्तु यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण इष्ट नहीं है। तो ये कैसे हैं? जैसे घर में बांस और खम्भे नित्य संयुक्त हैं, वैसे ये मनुष्य में नित्य संयुक्त हैं।

गुरु — ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो उनके अनित्यत्व और परार्थत्व का प्रसंग उपस्थित होगा। आपस में संयुक्त होने के कारण बांस और खम्भे के समान ही उनका परार्थत्व और अनित्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इसके सिवा अन्य मतावलम्बी जिस आत्मा को देह से संहत मानते हैं वह तो संहत होने के कारण पदार्थ हो जाता है। अतः देह से भिन्न जो आत्मा है वह दूसरा ही नहीं है तथा वह तो नित्य ही सिद्ध है।

शिष्य — किन्तु यदि (संयोग सम्बन्ध से नहीं किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से) इस असंहत — आत्मा का देह में देह-रूप से अध्यास होता है तो भी इसके असत्व और अनित्यत्व आदि दोष का प्रसंग उपस्थित हो ही जाता है, और ऐसा होने पर 'देह आत्मा-शून्य है' इस वैनाशिक मत की प्राप्ति का दोष हो जाता है।

गुरु — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आकाश के समान आत्मा का स्वाभाविक असंहतत्व स्वीकार किया गया है। वह आत्मा सभी से असंहृत है, इसमें देहादि सम्पूर्ण पदार्थ निरात्मक भी सिद्ध नहीं होते, जिस प्रकार कि आकाश सबसे असंहृत है, इसलिए सब वस्तु आकाश-हीन सिद्ध नहीं होती। अतः यहाँ वैनाशिक मत की प्राप्ति का दोष नहीं है। और तुमने यह जो कहा कि देहादि का अत्यन्ताभाव मानने पर तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा आत्मा में देह की सत्ता नहीं देखी जाती। कूंडी में बेर, दूध में घी, तिल में तैल और दिवार में चित्र के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा में देह नही देखा जाता। इसलिए (ऐसा मानने में) प्रत्यक्षादि से भी विरोध नहीं है।

शिष्य— तो फिर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध आत्मा में देहादि का आरोप और देह में भी आत्मा का आरोप कैसे हो सकता है?

गुरु— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही प्रसिद्ध है। और ऐसा भी कोई नियम नहीं किया जा सकता कि कभी-कभी सिद्ध होने वाली वस्तु में ही आरोप होता है, नित्य वस्तु में नहीं होता, क्योंकि आकाश में भी नीलता का अध्यास देखा ही जाता है।

शिष्य— भगवन्! देह और आत्मा का परस्पर अध्यास देहादि संघात के द्वारा किया जाता है या आत्मा के द्वारा?

गुरु— यह चाहे देहादि संघात से कृत हो या आत्मा से कृत हो, उसमें क्या रखा है?

शिष्य ने तब कहा— यदि मैं देहादि संघात मात्र हूँ तो अचेतन होने के कारण मेरा परार्थत्व सिद्ध होता है, इसलिए देह और आत्मा का परस्पर अध्यास मेरा किया हुआ नहीं हो सकता। और यदि मैं इस संघात से भिन्न परम आत्मा हूं, तो चेतन होने के कारण मेरा स्वार्थत्व सिद्ध है और मेरी ही चेतन आत्मा सभी अनर्थों के बीजभूत अध्यास को उत्पन्न करती है।

ऐसे कहे जाने पर गुरु ने कहा — यदि तुम अध्यास को अनर्थ का बीज मानते हो, तो अध्यास मत करो।

शिष्य- नहीं भगवन्! न करने में मैं समर्थ हूँ। किसी अन्य के द्वारा मैं प्रेरित हूँ, मैं स्वतंत्र नहीं हूँ।

गुरु — तब तो अचेतन होने के कारण तुम्हारा स्वार्थत्व सिद्ध नहीं होता। जिसके द्वारा प्रेरित होकर तुम अस्वतंत्र होते हो, वह चितिमान् स्वार्थ (स्वतंत्र) है और तुम तो केवल संघात हो।

शिष्य — यदि मैं अचेतन हूँ,तो सुख-दुःख का अनुभव और आपके कथन मैं कैसे जानता हूँ?

गुरु ने कहा—तुम सुख-दुःख के अनुभव से और मेरे कथन से अन्य हो या अनन्य?

शिष्य ने कहा — मैं उनसे तो अनन्य हूँ नहीं। क्यों नहीं हूँ? क्योंकि मैं घटादि के समान कार्यभूत उन दोनों को जानता हूँ। यदि मैं उनसे अभिन्न होता तो उन दोनों

को जान नहीं सकता था, किन्तु जानता हूँ, इसलिए भिन्न ही हूँ। उनसे मेरा अभेद होता तो सुख-दुःख का अनुभव-रूप विकार स्वार्थ ही सिद्ध होता और फिर आपके कहे हुए अनित्यत्व आदि दोष भी प्राप्त हो जाते। किन्तु उनका स्वार्थ होना उचित नहीं है, क्योंकि चन्दन और काँटे से होने वाले सुख और दुःख चन्दन और काँटे के ही लिए नहीं होते तथा घट का उपयोग भी घट के लिए ही नहीं होता। अतः चन्दनादि का किया हुआ कार्य उसके ज्ञाता मेरे ही लिए है, और मैं तो उससे भिन्न हूँ तथा अपनी बुद्धि-वृत्ति पर आरूढ़ हुए उस समस्त कार्य को जानता हूँ।

तब उसके गुरु ने कहा — इस प्रकार तब तो तू स्वार्थ ही है और चेतन पदार्थ परतंत्र होकर किसी अन्य के द्वारा प्रयुक्त नहीं हुआ करता, क्योंकि दीपक और प्रकाश के समान तुल्य होने के कारण किसी चेतन का अन्य चेतन के लिए होना संभव नहीं है। इसके सिवा चेतन का किसी अचेतन के लिए होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अचेतन का अचेतन होने के कारण ही स्वार्थ संबंध होना असंभव है, और न तो अचेतनों का ही एक दूसरे के लिए ही होना देखा गया है। काष्ठ और भित्ति ये एक दूसरे का कार्य सिद्ध नहीं कर सकते।

शिष्य — किन्तु समान रूप से चेतनता होने पर भी स्वामी और सेवक का एक-दूसरे के लिए होना देखा जाता है।

गुरु—ऐसी बात नहीं है, हमें तेरा चेतनत्व तो अग्नि के उष्णत्व और प्रकाश के समान बतलाना है। इस विषय में दीपक और प्रकाश का दृष्टांत भी दिखलाया जा चुका है। ऐसा होने के कारण अग्नि के उष्णत्व और प्रकाश के समान तू अपने कूटस्थ नित्य चैतन्यस्वरूप से ही अपनी बुद्धि पर आरूढ़ हुए समस्त पदर्थों का अनुभव करता है। यदि इस प्रकार तू आत्मा के नित्य निर्विशेषत्व को समझ गया है तो 'मैं सुषुप्ति में विश्राम ले-लेकर जग्रत और स्वाप्नावस्था में बारंबार दुःख अनुभव करता हूँ। क्या यह मेरा स्वभाव ही है, अथवा किसी निमित्तवश है' ऐसा तूने क्यों कहा था? अब तेरा यह मोह दूर हो गया कि नहीं?

गुरु के ऐसा कहने पर शिष्य बोला– भगवन्! आपकी कृपा से मेरा मोह निवृत्त हो गया, किन्तु मुझे अपनी कूटस्थता के विषय में संदेह है। किस प्रकर संदेह है? (सो बतलाता हूँ) शब्दादि अचेतन है, इसलिए उनकी स्वतः सिद्धि नहीं हो सकती; उनकी सिद्धि तो शब्दादि रूप ज्ञान की उत्पत्ति से ही होती है। तथा जिनके विशेषण एक दूसरे से पृथक् हैं ऐसे जो नील-पीतादि आकार वाले ज्ञान हैं उनकी भी स्वतः सिद्धि असम्भव है; अतः उनका भी बाह्याकार निमित्तक होना सिद्ध होता है, इससे बाह्य आकारों के समान शब्दादि के आकारवत्व की भी सिद्धि होती है। इसी प्रकार अहं प्रत्यय की आलम्बन भूत वस्तु [अर्थात् अन्तःकरण] के भेद रूप शब्दादि ज्ञान भी संहत होने के कारण अचेतन होने चाहिए। ऐसी अवस्था में उनका स्वार्थत्व असम्भव होने के कारण शब्दादि के समान उनकी सिद्धि भी अपने स्वरूप से व्यतिरिक्त ग्राहक के द्वारा ग्राह्य रूप से हो सकती है। अतः असंहत होने के कारण स्वार्थ होने पर भी आत्मा चैतन्य-स्वरूप होने के कारण अन्तःकरण की

नील-पीतादि-रूप वृत्तियों को उपलब्ध करने वाला है, इसलिए वह विकारी ही है। कूटस्थ किस प्रकार हो सकता है? यही मुझे संदेह है।

तब उससे गुरु ने कहा – तेरा यह संशय ठीक नहीं है क्योंकि जो उन प्रत्ययों की नियम से पूर्णतया उपलब्धि अपरिणामिनी होने के कारण आत्मा के कूटस्थत्व की सिद्धि का निश्चय होने में हेतु है उस सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों की उपलब्धि को ही तू अपने संशय का कारण बतलाता है। यदि तू परिणामी होता तो तुझे अपने विषय के प्रति चित्त की सम्पूर्ण गतियों का ज्ञान न होता, जैसे कि चित्त को अपने विषय का तथा इन्द्रियों को अपने विषयों का [केवल एकदेशीय ज्ञान होता है] उनके समान तुझ आत्मा को अपने विषय के केवल एकदेश की ही उपलब्धि नहीं होती इससे तेरी कूटस्थता ही सिद्ध होती है।

तब शिष्य बोला — उपलब्धि तो धात्वर्थ है, इसलिए विकार ही है, और उपलब्धा (प्रत्यक्षकर्ता) की कूटस्थता बतलाई जाती है— सो तो विरुद्ध ही है।

[गुरू] यह नहीं है, क्योंकि धातु के अर्थ रूप विकार में तो उपलब्धि का उपचार [गौण प्रयोग] होता है। बुद्धि-जनित ज्ञान ही विकार रूप धात्वर्थ हुआ करता है, आत्मा की [स्वरूप भूता] उपलब्धि तो अपने आभासरूप फल पर्यन्त ही है। अतः उसका 'उपलब्धि' शब्द से उसी प्रकार उपचार किया जाता है जैसे किसी वस्तु के दो खण्ड होने में समाप्त हो जाने वाली छेदन क्रिया का धातु के अर्थ रूप से उपचार किया जाता है।

ऐसा कहे जाने पर शिष्य बोला — किन्तु भगवन्! यह दृष्टांत तो मेरी कूटस्थता का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है। [गुरु] किस प्रकार? [शिष्य] क्योंकि जिस प्रकार छिदिक्रिया का उपचार छेद्य वस्तु के विकार में किया जाता है उसी प्रकार 'उपलब्धि' शब्द से उपचरित हुए धात्वर्थ रूप बौद्ध प्रत्यय का फल भी यदि आत्मा के उपलब्धि रूप विकार में ही है तो आत्मा की कूटस्थता का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

गुरु ने कहा — यदि (उपलब्धि और उपलब्धा में भेद होता तब तो तुम्हारा यह कथन ठीक हो सकता था। यह उपलब्ध तो नित्योपलब्धि मात्र ही है। नैयायिक के मत के अनुसार (हमारे सिद्धान्त में) उपलब्धि अन्य हो और उपलब्धा अन्य हो— ऐसी बात नहीं है।

शिष्य— तो फिर उपलब्धि शब्द का धात्वर्थ उपलब्धि रूप फल पर्यन्त है – यह किस प्रकार संगत होगा?

गुरु — बतलाते हैं, सुन! क्या तूने यह नहीं सुना कि उपलब्धि के आभासरूप फल पर्यन्त ही इसका धात्वर्थ है — ऐसा मैने कहा था? आत्मा विकारोत्पत्ति रूप फल पर्यन्त है — ऐसा मैने नहीं कहा।

शिष्य बोला — तो फिर आपने ऐसा क्यों कहा था कि मुझे कूटस्थ में अपने चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का उपलब्धृत्व (उपलंभ कर्तृत्व) है?

उससे गुरु ने कहा — मैंने ठीक कहा था, इसी से मैंने तेरी कूटस्थता भी तो बतलायी थी।

शिष्य — भगवन्! यदि ऐसी बात है तो कूटस्थ नित्योपलब्धि-स्वरूप मुझमें मेरी स्वरूपभूता उपलब्धि के आभास-रूप फल में पर्यवसित होने वाले शब्दादि रूप बौद्ध ज्ञानों के उत्पन्न होने में मेरा क्या अपराध है?

गुरु — ठीक है, तेरा अपराध नहीं है, किन्तु अविद्यामात्र तो अपराध है ही— ऐसा मैं पहले ही कह चुका हूँ।

शिष्य— किन्तु भगवन्! यदि सुषुप्तावस्था के समान मुझमें विकार है ही नहीं तो मुझे स्वप्न और जागरित अवस्थायें कैसी होती हैं?

तब उससे गुरु ने कहा — किन्तु तुम इन अवस्थाओं का निरंतर अनुभव तो करते हो?

शिष्य— हाँ, अनुभव तो करता हूँ, परंतु व्यवधान से अनुभव करता हूँ, निरंतर नहीं।

उससे गुरु ने कहा — तब तो ये आगन्तुक ही हैं, तेरी स्वरूपभूता नहीं है। यदि चैतन्य स्वरूप के समान ये तेरी स्वरूपभूता और स्वत:सिद्धा ही होती तो निरन्तर ही रहती। किन्तु वस्त्रादि के समान व्यभिचारिणी (आगमापायिनी) होने के कारण स्वप्न और जाग्रत अवस्थाएँ तेरी स्वरूपभूता नहीं हैं, क्योंकि जो जिसका स्वरूप होता है वह उससे व्यभिचारी (अलग रहने वाला) नहीं देखा जाता। किन्तु स्वप्न और जाग्रत का तो चैतन्य स्वभाव आत्मा से व्यभिचार (विच्छेद) होता है। यदि सुषुप्तावस्था में भी स्वरूप का व्यभिचार माना जाये तो वह या तो नष्ट हो जाता है या नहीं है इसलिए उसका बाध ही हो जाता है, क्योंकि वस्तु में न रहने वाले आगन्तुक धर्म ऐसे दो ही प्रकार के देखे जाते हैं, जैसे धन और वस्त्रादि का तो नाश देखा जाता है और स्वप्न एवं भ्रान्ति से प्राप्त हुए पदार्थों का सर्वथा अभाव देखा गया है।

शिष्य— किन्तु भगवन्! इस प्रकार तो चैतन्य-स्वरूप भी आगन्तुक सिद्ध होता है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत के समान सुषुप्ति में उसकी उपलब्धि नहीं होती। अथवा मुझमें अचैतन्य-स्वरूपता की आपत्ति भी हो सकती है।

गुरु — नहीं, देख, ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। यदि तू चैतन्य-स्वरूप को आगन्तुक देखता है तो देख, हम तो युक्ति द्वारा सौ वर्ष में भी ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, और न कोई अन्य मूढ़ पुरुष भी ऐसा समझ सकता है। तथा [उस अवस्था में] संहत होने के कारण इसकी परार्थता, अनेकता, तथा नाशशीलता को भी कोई युक्ति के द्वारा निवृत्त नहीं कर सकता, क्योकि जो स्वार्थ नहीं है उसकी स्वतः सिद्धि नहीं हो सकती — ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं। किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा स्वतः सिद्ध है, इसलिए उसके अन्य की अपेक्षा से रहित होने को कोई नहीं रोक सकता, क्योंकि वह अव्यभिचारी है।

[गुरु] ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस कथन में व्याघात (विरोध) है। किस प्रकार व्याघात है? — क्योंकि देखते हुए भी 'मैं नहीं देखता' इस प्रकार तेरा कथन व्याहत हो जाता है। [तू जो कहता है कि] 'भगवन्! मैंने सुषुप्ति में चैतन्य अथवा कोई और

वस्तु कभी नहीं देखी' इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि सुषुप्ति में भी तू देखता रहता है, क्योंकि तू देखे हुए का ही निषेध करता है, देखने का तो नहीं करता। और जो तेरी दृष्टि है वही चैतन्य है — ऐसा मैं कह चुका हूं। जिसके विद्यमान रहते हुए तू 'मैंने कुछ नहीं देखा' इस प्रकार निषेध करता है वह दृष्टि तेरा चैतन्य ही है। तब तो सर्वत्र अव्यभिचार होने के कारण तेरा कूटस्थ नित्यत्व स्वयं ही सिद्ध है, उसे किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। स्वतःसिद्ध प्रमाता को ही अपने से भिन्न प्रमेय की परिच्छित्ति (संवित्) की अन्य अचेतन रूप पदार्थों के प्रकाशन के लिए अपेक्षा होती है वह नित्या, कूटस्था और स्वयं प्रकाशरूपा ही है। आत्मा के प्रमाणत्व अथवा प्रमातृत्व में उस संवित् को किसी प्रमाण की अपेक्षा नही है, क्योंकि उसके स्वभाव ही है, जिस प्रकार कि लोहे और जल आदि में प्रकाशन अथवा उष्णत्व की अन्य अग्नि एवं आदित्यादि से अपेक्षा होती है, क्योंकि वे उनके स्वभाव नहीं है, किन्तु अग्नि या सूर्य को [उनके लिए] किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वे उनके स्वभाव ही हैं।

शिष्य— किन्तु प्रमा तो अनित्य ज्ञान होने पर ही होती है, नित्यज्ञान होने पर तो नहीं होती।

गुरु– ऐसी बात नहीं है, ज्ञान के नित्य अथवा अनित्य होने से उसके प्रमात्व में कोई विशेषता नहीं होती; क्योंकि किसी ज्ञान के प्रमा होने में जो अनित्य ज्ञान है वही प्रमा है, नित्यज्ञान प्रमा नहीं है — ऐसी कोई विशेषता नहीं देखी जाती।

शिष्य— नित्य ज्ञान में प्रमाता की अपेक्षा नहीं, किन्तु अनित्य ज्ञान प्रमाता के यत्न से साध्य है, इसलिए उसमें अवगति (प्रतीति) की अपेक्षा है — यह विशेषता बतलाई जाती तो?

गुरु — तब तो प्रमाण की निरपेक्षता से ही प्रमाता आत्मा की स्वतःसिद्धि सिद्ध हो जाती है।

शिष्य— प्रमा का अभाव होने पर भी नित्य होने के कारण उसे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है — ऐसा मानें तो।

गुरु – नहीं, स्वयं अवगति ही आत्मा में रहती है — ऐसा कह कर हम पहले ही इस शङ्का का निवारण कर चुके हैं। यदि प्रमाता की सिद्धि प्रमाण के अधीन हो तो प्रमाण की अपेक्षा किसको होगी? जिसको प्रमाण की अपेक्षा होती है उसे ही प्रमाता माना जाता है। और उसकी प्रमाणेच्छा प्रमेय-विषयिणी ही होती है। प्रमातृ-विषयिणी नहीं होती। यदि उसे प्रमातृ-विषयिणी मानेंगे तो प्रमाता और उसकी इच्छा पर कोई दूसरा प्रमाता मानना होगा और उसका कोई दूसरा — इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा। इसी प्रकार इच्छा को यदि प्रमातृ-विषयिणी मानें तो प्रमाता अव्यवहित होने के कारण प्रमेय नहीं हो सकता, और लोक में प्रमेय प्रमाता से इच्छा, स्मृति, प्रयत्न और प्रमाण के जन्म द्वारा व्यवहित ही सिद्ध होता है, अन्य प्रकार से नहीं। अवगति भी प्रमेय-विषयिणी ही देखी गयी है, स्वयं प्रमाता अपनी इच्छा आदि में से किसी के द्वारा व्यवहित कल्पित नहीं हो सकता। स्मृति भी स्मरण की जाने वाली वस्तु को ही विषय

करने वाली होती है, स्वयं स्मरण करने वाले को नहीं। इसी प्रकार इच्छा भी इष्ट वस्तु विषयिणी ही होती है, इच्छा करने वाले को विषय नहीं करती। यदि स्मृति स्मरणकर्ता को और इच्छा करने वाले को विषय करने वाली हो तो पूर्ववत् उन दोनों की अनवस्था भी अनिवार्य होगी।

शिष्य — किन्तु इस प्रकार प्रमाता को विषय करने वाला ज्ञान संभव न होने पर तो प्रमाता अज्ञात ही रहेगा।

गुरु — नहीं, क्योंकि ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेय-विषयक होता है, यदि उसे ज्ञाता को विषय करने वाला मानें तो पूर्ववत् अनवस्था हो जायेगी, और यह तो हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि अग्नि और आदित्यादि के उष्णत्व एवं प्रकाश के समान आत्मा में दूसरे की अपेक्षा से रहित कूटस्थ, नित्य, स्वयंप्रकाश ज्ञान स्वतः सिद्ध है। यदि आत्मा में चैतन्यात्म प्रकाश ज्ञान अनित्य हो तो आत्मा का स्वार्थत्व उत्पन्न नहीं हो सकता और ऐसी अवस्था में देहेन्द्रिय-संघात के समान संहत होने के कारण हमने उसका परार्थ्य तथा दोषयुक्त होना भी बतलाया ही है। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं —] यदि आत्मा में चैतन्य-रूप ज्ञान अनित्य है तो उसमें स्मृति आदि के व्यवधान रहने के कारण वह अन्तरयुक्त होगा। तब तो उस चैतन्यरूप ज्ञान का अपनी उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पश्चात् आत्मा में ही अभाव होने के कारण चक्षु आदि के समान संहत होने से आत्मा का पारार्थ्य सिद्ध होगा। यदि वह चैतन्यरूप ज्ञान उत्पन्न होकर आत्मा में रहता है तो आत्मा का स्वार्थत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस संहतत्व के न होने से ही आत्मा के स्वार्थत्व और उसके होने से ही अनात्मा के परार्थत्व की सिद्धि होती है। अतः आत्मा का दूसरे की अपेक्षा से रहित ही नित्य चैतन्यप्रकाश-स्वरूप होना सिद्ध होता है।

शिष्य — ऐसी बात है तो प्रमा का आश्रय न होने पर प्रमाता चेतन का प्रमातृत्व कैसे सम्भव हो सकता है?

गुरू — बतलाते हैं — प्रमा के नित्य अथवा अनित्य होने में तो कोई स्वरूप का भेद है नहीं, क्योंकि ज्ञान का ही नाम प्रमा है। वह स्मृति एवं इच्छादिपूर्वक अनित्य हो अथवा कूटस्थ नित्य उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार 'स्था' आदि धातु के अर्थ (गति, निवृत्ति आदि) में उसके गत्यादि पूर्व अनित्य होने पर अथवा पूर्व गत्यादि से रहित नित्य होने पर कोई विशेष रूप नहीं होता, इसी से 'मनुष्य स्थित है', 'पर्वत स्थित है' इस प्रकार समान व्यपदेश ही देखा गया है, उसी प्रकार प्रमाता चेतन के नित्य ज्ञानस्वरूप होने पर भी उसे प्रमाता कहने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि [नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के ज्ञानों के] फल तो समान ही है।

इस प्रकार शिष्य बोला — जिस प्रकार बसूले आदि औजारों से युक्त हुए बिना बढ़ई आदि का कर्तृत्व संभव नहीं है उसी प्रकार नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा का देह और इन्द्रियों से संबंध हुए बिना कर्ता होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अविकारी है। किन्तु

असंहत स्वरूप आत्मा के शरीर और इन्द्रिय ग्रहण करने में अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होता है, बढ़ई आदि का तो देह और इन्द्रियों से सदा ही संहतत्व है, इसलिए उनके बसूले आदि के ग्रहण करने में अनवस्था नहीं हो सकती।

गुरू — यहाँ करण को ग्रहण किए बिना असंहत स्वभाव आत्मा का कर्तृत्व उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उसे करण-ग्रहण करना ही चाहिए। किन्तु उसे ग्रहण करना भी विकार ही है, अतः उसके कर्तृत्व के लिए भी उसे दूसरे कारण को ग्रहण करने की आवश्यकता है तथा उसे ग्रहण करने के लिए एक दूसरे कारण को ग्रहण करना चाहिए — इस प्रकार प्रमाता का स्वतन्त्र कर्तृत्व सिद्ध होने में अनवस्था बिना निष्पन्न हुई क्रिया का कोई स्वरूप नहीं होता। यदि कहो कि कोई और वस्तु आत्मा के समीप जाकर उससे कर्म करा लेती है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा के सिवा किसी अन्य वस्तु का स्वतः सिद्धत्व एवं अविषयत्व आदि संभव नहीं है। आत्मा से भिन्न कोई दूसरी जड़वस्तु स्वतः सिद्ध नहीं देखी गयी, शब्दादि सम्पूर्ण विषय अवगति फलावसान प्रत्यय से ही प्रमित होकर सिद्ध होते हैं। यदि अवगति आत्मा के सिवा किसी अन्य की हो तो वह भी असंहत और स्वार्थ आत्मा ही होगा, परार्थ नहीं होगा। किन्तु देह या इन्द्रियों की स्वार्थता हम समझ नहीं सकते, क्योंकि वे भी अवगति फलावसान प्रत्यय से सिद्ध होने वाले देखे जाते हैं।

शिष्य — किन्तु देह का ज्ञान होने के लिए तो किसी प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती?

गुरू — ठीक है, जाग्रत अवस्था में तो ऐसा ही प्रतीत होता है, किन्तु मृत्यु और सुषुप्ति के समय तो भी देह की सिद्धि भी प्रत्यक्षादि प्रमाण की अपेक्षा रखती ही है। इसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धि भी प्रमाणाधीन ही है। देह और इन्द्रियों के आकार में परिणत हुए शब्दादि विषय बाह्य ही है, अतः उनकी सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाण की अपेक्षा वाली ही है। प्रमाण की फलभूता अवगति का ही नाम 'सिद्धि' है — ऐसा हम पहले कह चुके हैं, और वह अवगति कूटस्थ, स्वयं-सिद्ध एवं प्रकाशरूप है।

इस पर प्रश्नकर्ता कहता है — अवगति प्रमाणों का फल है और वह कूटस्था नित्या एवं स्वयंप्रकाशरूपा है — यह कथन तो परस्पर विरुद्ध है।

इस पर कहते हुए शिष्य से गुरु कहता है — इसमें विरोध नहीं है।

शिष्य— तो फिर वह अवगति का फल किस प्रकार है?

गुरु — कूटस्था और नित्या होने पर भी वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रत्यक्षादि ज्ञान के फलरूप से लक्षित होती है और प्रत्यक्षादि ज्ञन अनित्य होने के कारण वह भी अनित्या-सी हो जाती है। इसी से वह उपचार से प्रमाणों का फल कहीं जाती है।

शिष्य— भगवन्! यदि ऐसी बात है तो कूटस्थनित्य ज्ञान स्वयंप्रकाश स्वरूप और स्वयंसिद्ध है, क्योंकि आत्मा में किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, उससे जो भिन्न है वह अचेतन और मिलकर कार्य करने वाला होने के कारण परार्थ है, और

जिस सुख-दुःख एवं मोह (सत्वरजस्तमो) रूप प्रत्यावगति-रूप से अनात्म वस्तु की परामर्थता है उसी स्वरूप से उसकी सत्ता भी है, किसी अन्यरूप से नहीं। अतः परामर्थतः उसकी सत्ता नहीं है। जिस प्रकार लोक में रज्जु, सर्प एवं मरीचिकाजलादि का उनकी प्रतीति के अतिरिक्त अभाव ही देखा गया है उसी प्रकार हे भगवन्! जाग्रत और स्वप्नावस्था के द्वैत का भी उसकी प्रतीति से अतिरिक्त परमार्थतः अभाव ही युक्तियुक्त है। किन्तु स्वयंप्रकाश अवगति निरन्तर वर्तमान रहती है, इसलिए वह कूटस्थ नित्या और अद्वैत है, क्योंकि समस्त प्रत्यय भेदों में उसका अव्यभिचार दोष अनिवार्य है। क्रिया ही आत्मा से करा लेती हो- ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि है, जबकि प्रत्यय-भेदों का अपनी अवगति में व्यभिचार रहता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में नील पीताद्याकर भेद रूप प्रत्ययों का [परस्पर] अपनी अवगति में व्यभिचार होने के कारण 'वे परमार्थतः नहीं है' ऐसा उनके विषय में कहा जाता है उसी प्रकार जाग्रदवस्था में नील पीतादि प्रत्यय भेदों का उस अवगति में व्यभिचार होने के कारण वे असत्य-रूप ही होने चाहिए। तथा उस अवगति का कोई अन्य ज्ञाता नहीं है, इसलिए अन्य वस्तु का अभाव होने के कारण अपने स्वरूप से उसका न तो ग्रहण ही किया जा सकता है और न त्याग ही।

गुरु — ऐसी ही बात है। जिसके कारण जाग्रत-स्वप्न रूप संसार की प्रतीति होती है वह तो अज्ञान है। उस अज्ञान की निवृत्ति करने वाला ज्ञान ही है। अतः अब तूने अभय प्राप्त कर लिया है। अब से आगे तू जाग्रत-स्वप्न-जनित दुःख का अनुभव नहीं करेगा, तू संसार-रूप दुःख से मुक्त हो गया है।

शिष्य — सत्य है।

तृतीय भाग : श्रुतिप्रस्थान

श्रुतिप्रस्थान

1. उपासना (विद्या) और नम्र (अविद्या)

ईशावास्योपनिषद्-भाष्य

[ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो अविद्या की उपसना करते हैं वे अन्धकार को जाते हैं और जो विद्या की उपासना करते हुए वे उससे भी अधिक अंधेरे को जाते हैं। यहाँ शंकराचार्य ने विद्या का अर्थ पंचाग्निविद्या आदि सगुण विद्या किया है और अविद्या का अर्थ कर्म किया है।]

अविद्या (कर्म) से मृत्यु को पार कर विद्या (देवता-ज्ञान) से अमृत प्राप्त करता है, विनाश (कार्यब्रह्म की उपासना) से मृत्यु को पार कर असम्भूति (अव्यक्त की उपासना) से अमृत लाभ करता है, ऐसा सुनकर कुछ लोगों को संशय हो जाता है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए हम संक्षेप से विचार करते हैं।

अच्छा तो, यहाँ किस निमित्त को लेकर संशय होता है? इस पर कहते हैं-

पूर्व — यहाँ 'विद्या' शब्द से मुख्य परमार्थ विद्या तथा 'अमृत' शब्द से अमृतत्व ही क्यों नहीं लिया जाता?

सिद्धान्ती– ऊपर बतलाई हुई परमार्थविद्या और कर्म का परस्पर विरोध होने के कारण उनका समुच्चय नहीं हो सकता।

पूर्व — ठीक है, परन्तु इनका विरोध या अविरोध तो शास्त्र-प्रमाण से ही सिद्ध हो सकता है: अतः (यहाँ शास्त्र-विधि होने के कारण) इनका विरोध नहीं जान पड़ता। जिस प्रकार अविद्या का अनुष्ठान और विद्या की उपासना शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है। उसी प्रकार उनके विरोध और अविरोध भी हैं। जैसे 'सभी प्राणियों की हिंसा न करें' यह बात शास्त्रों से जानी जाती है और फिर 'यज्ञ में पशु की हिंसा करें' इस शास्त्र-विधि से बाधित भी हो जाती है, वैसे ही विद्या और अविद्या के संबंध में भी हो सकता है। और इस प्रकार विद्या तथा कर्म का समुच्चय हो जायेगा।

सिद्धान्ती— नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि "जिनकी गति भिन्न-भिन्न है वे विद्या और कर्म सर्वथा विपरीत हैं।"

पूर्व — 'विद्यां चाविद्यां च' इस वाक्य के अनुसार इन दोनों का अविरोध है न?

सिद्धान्ती— नहीं, क्योंकि उनके हेतु स्वरूप और फलों में विरोध है।

पूर्व — विद्या और अविद्या तथा विरोध-अविरोध इनमें विकल्प तो हो नहीं सकता तथा इनके समुच्चय का विधान किया गया है, इसलिए इनका अविरोध ही है – ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती— नहीं, क्योंकि इन दोनों का साथ रहना संभव नहीं है।

पूर्व — यदि ऐसा मानें कि विद्या और अविद्या क्रम से एक आश्रय में रहने वाली हैं, तो?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि विद्या के उत्पन्न हो जाने पर अविद्या का नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रय में अविद्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'अग्नि उष्ण और प्रकाश स्वरूप है' इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर जिस [चित्त-रूप] आश्रय में यह उत्पन्न हुआ है उसी में अग्नि शीतल और अप्रकाशमय है— ऐसा अज्ञान नहीं हो सकता। अधिक क्या इस विषय में उस प्ररूप को कोई सन्देह अथवा भ्रम भी नहीं हो सकता। ज्ञानी के लिए शोक मोहादि को असम्भव बतलाने वाली "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः, कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार अविद्या के असम्भव हो जाने पर उसके आश्रय से होने वाले कर्म भी नहीं हो सकते– यह बात हम पहले ही कह चुके हैं।

यहाँ जो कहा गया है कि अमृत को प्राप्त होता है सो आपेक्षिक अमृत समझना चाहिए। यदि 'विद्या' शब्द से परमात्मविद्या ली जाये तो 'हिरण्मयेन' इत्यादि मन्त्रों से मार्गादि की याचना नही बन सकती। इसलिए यहाँ उपासना के साथ ही [कर्म का] समुच्चय किया गया है, परमात्मज्ञान के साथ नहीं। इस प्रकार इन मंत्रों का वही अर्थ है जैसा कि हमने व्याख्यान किया है। ऐसा कहकर हम विराम लेते हैं।

2. आत्मज्ञान की विधि

केनोपनिषद् भाष्य

ब्रह्म (आत्मा) प्रतिबोध-विदित है।

'प्रतिबोध-विदितम्' यानी जो बोध-बोध के प्रति विदित होता है। यहाँ 'बोध' शब्द से बुद्धि से होने वाली प्रतीतियों (ज्ञानों) का कथन हुआ है। अतः समस्त प्रतीतियाँ जिसकी विषय होती हैं वह आत्मा समस्त बोधों के समय जाना जाता है। सम्पूर्ण प्रतीतियों का साक्षी और चिच्छक्ति स्वरूप मात्र होने के कारण वह प्रतीतियों द्वारा सामान्य रूप से प्रतीतियों में ही लक्षित होता है। उस अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई और मार्ग नहीं है।

अतः जिस समय ब्रह्म को प्रतीतियों के अन्तःसाक्षी स्वरूप से जाना जाता है उसी समय वह ज्ञान होता है, अर्थात् यही उसका सम्यक् ज्ञान है। सम्पूर्ण प्रतीतियों का साक्षी होने पर ही उसका वृद्धिक्षयशून्य साक्षित्व, नित्यत्व-विशुद्ध स्वरूपत्व, आत्मत्व, निर्विशेषत्व और सम्पूर्ण भूतों में (अनुस्यूत) एकत्व सिद्ध हो सकता है, जिस प्रकार कि लक्षणों में भेद न होने के कारण घट, पर्वत, गुहादि में आकाश का अभेद है। इस प्रकार "ब्रह्म विदित और अविदित दोनों ही से भिन्न है" इस शास्त्रवचन के अर्थ का ही भली प्रकार शोधन करके यहाँ उपसंहार किया गया है। इसके सिवा "वह दृष्टि का द्रष्टा है, श्रवण का श्रोता है, मति का मनन करने वाला

है और विज्ञाप्ति का विज्ञाता है'', ऐसी एक दूसरी श्रुति भी है। [उससे भी यही सिद्ध होता है]।

जिस प्रकार, जो वृक्ष की शाखाओं को चलायमान करता है उसे वायु कहते हैं उसी प्रकार — जिस समय प्रतिबोध 'विदितम्' इसका ऐसा अर्थ किया जाता है कि आत्मा बोध-क्रिया का कर्ता है; अतः बोध-क्रिया रूप लिङ्ग से कर्ता को जानता है, इसलिए बोध-रूप से विदित होने के कारण वह ''प्रतिबोध विदितम्'' कहलाता है। उस समय आत्मा बोध क्रिया-रूप शक्ति से युक्त एक द्रव्य सिद्ध होता है, साक्षात् बोध स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। बोध (बुद्धिगत प्रतीति) तो उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है। अतः जिस समय बोध उत्पन्न होता है उस समय तो वह बोधक्रिया विशेषण से युक्त होता है और जब उसका नाश हो जाता है तो वह निर्विशेष द्रव्य मात्र रह जाता है। ऐसा मानने से तो वह विकारी, सावयव, अनित्य और अशुद्ध निश्चित होता है, और उसके इन दोषों का किसी प्रकार परिहार नहीं किया जा सकता।

फिर वैशेषिक मतावलम्बियों का जो मत है कि आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होने वाला बोध आत्मा में समवाय-संबंध से रहता है, इसी से आत्मा में बोद्धृत्व है, वस्तुतः आत्मा विकारी नहीं है, वह तो नील पीतादि वर्णों के समवायी घट के समान केवल द्रव्य मात्र है — सो इस पक्ष में भी ब्रह्म अचेतन द्रव्यमात्र सिद्ध होता है और ''ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्द स्वरूप है'', ''प्रज्ञान ब्रह्म है'' इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जाती है। निरवयव होने के कारण आत्मा में कोई देश-विशेष नहीं है; और उससे मन का नित्य संयोग है; इस कारण उसमें स्मृति की उत्पत्ति के नियम की अनुपपत्ति अनिवार्य हो जाती है तथा श्रुति, स्मृति और युक्ति से विरुद्ध आत्मा के संसर्ग-धर्मी होने की कल्पना भी होती है। ''असङ्ग [आत्मा] का किसी से संग नहीं होता,'' ''संग-रहित सबका पालन करने वाला है'', ऐसी श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध है। युक्ति से भी जो वस्तु सगुण होती है उसी का गुणवान् से संसर्ग होता है, विजातीय वस्तुओं का संयोग कभी नहीं होता। अतः निर्गुण निर्विशेष और सब से विलक्षण आत्मा का किसी भी विजातीय वस्तु से संयोग होता है — ऐसा मानना न्याय-विरुद्ध होगा। अतः नित्य अविनाशी ज्ञान-स्वरूप प्रकाशमय आत्मा ही ब्रह्म है— यह अर्थ आत्मा के सम्पूर्ण बोधों के बोद्धा होने पर ही सिद्ध हो सकता है और किसी प्रकार नहीं। इसलिए 'प्रतिबोधविदितम्' इसकी हमने जैसी व्याख्या की है — वही अर्थ है।

इसके सिवा 'प्रतिबोधविदितम्' इस वाक्य का जो स्वप्रकाशता अर्थ बतलाया जाता है वहाँ आत्मा को सोपाधिक मानकर उसमें बुद्धि आदि उपाधि के रूप से भेद की कल्पना कर आत्मा से आत्मा को जानता है, ऐसा व्यवहार हुआ करता है, जैसा कि ''आत्मा में ही आत्मा को देखता है।'' ''हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयं अपने से ही अपने को जानते हो'' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है। किन्तु निरुपाधिक आत्मा के तो एकरूप होने के कारण उसमें स्वसंवेद्यता अथवा परसंवेद्यता सम्भव ही नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश को किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा होना सम्भव

नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप होने के कारण उसे [अपने ज्ञान के लिए] किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं। पुनः बौद्धमतानुसार तो विज्ञान की स्वसंवेद्यता स्वीकार करने पर भी उसकी क्षणभंगुरता और निरात्मकता सिद्ध होने लगेगी। [ऐसा होने पर] "अविनाशी होने के कारण विज्ञाता की विज्ञाति का लोप नहीं होता", "नित्य विभु और सर्वगत है", "वह महान् अज आत्मा, अजर, अमर, अमृत और अभय रूप है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जाएंगी।

इसके सिवा जो लोग प्रतिबोध शब्द से, जैसा कि सुषुप्त पुरुष को होता है वह निमित्त बोध ही प्रतिबोध है— ऐसे अर्थ की कल्पना करते हैं अथवा जो दूसरे लोग [मुक्ति के कारणभूत] एक बार होने वाले विज्ञान को ही प्रतिबोध समझते हैं– [वे कुछ भी माना करें] बिना निमित्त से हो अथवा निमित्त से तथा एक बार हो अथवा अनेक बार वह सब-का-सब प्रतिबोध ही है [इसका विशेष विवेचन करने से हमें कोई प्रयोजन नहीं है] क्योंकि मुमुक्षुगण उपर्युक्त प्रतिबोध से अर्थात् प्रत्येक बौद्ध प्रत्यय में होने वाले आत्म-ज्ञान से ही अमृतत्व — अमरण-भाव अर्थात् अपने आत्मा में स्थित होना रूप मोक्ष प्राप्त करते हैं। अतः वह (ब्रह्म) प्रत्येक बोध में अनुभव होने वाला ही माना गया है — ऐसा इसका अभिप्राय है। क्योंकि बोध का प्रत्यगात्म-विषयक होना ही अमरत्व में कारण माना गया है। आत्मा की अनात्मरूपता उसके अमरत्व का कारण नहीं हो सकती। आत्मा का अमरत्व उसका स्वरूपभूत होने के कारण अहेतुक ही है। उसी प्रकार आत्मा की मृत्यु भी अविद्या वश उसमें अनात्मत्व की उपलब्धि ही है।

तो फिर उपर्युक्त आत्म-ज्ञान से किस प्रकार अमरत्व-लाभ कर लेता है? इस पर कहते हैं — मुमुक्षु पुरुष आत्मा अर्थात् अपने स्वरूप के ज्ञान से वीर्य-बल यानी अमरत्व-प्राप्ति का सामर्थ्य प्राप्त करता है। धन, सहाय, मंत्र, औषधि, तप और योग से प्राप्त होने वाला वीर्य अनित्य वस्तु का किया हुआ होने से मृत्यु का पराभव करने में समर्थ नहीं है; किन्तु आत्मविद्या से होने वाला वीर्य तो आत्मा द्वारा ही प्राप्त किया जाता है—अन्य किसी से नहीं। इसलिए आत्मविद्या-जनित वीर्य किसी अन्य साधन से प्राप्त होने वाला नहीं है, अतः वही वीर्य मृत्यु का पराभव कर सकता है। क्योंकि मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार आत्मविद्या-जनित वीर्य को आत्मा द्वारा ही प्राप्त करता है, इसलिए आत्म-संबंधित विद्या से ही अमरत्व प्राप्त करता है। अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है — "यह आत्मा बलहीन पुरुष को प्राप्त होने योग्य नहीं है।" अतः यह आत्मविद्या-रूप हेतु [मृत्यु का निवारण करने में] समर्थ है क्योंकि इससे अमरत्व प्राप्त होता है।

3. स्वप्नदर्शन का मूल्यांकन

प्रश्नोपनिषद्-भाष्य

इस अवस्था में यानी श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरत हो जाने पर और प्राणादि वायुओं के जागते रहने पर सुषुप्ति की प्राप्ति से पूर्व इस जाग्रत-सुषुप्ति के मध्य की

अवस्था में यह देव, जिसने सूर्य की किरणों के समान श्रोत्रादि इन्द्रियों को अपने में लीन कर लिया है, स्वप्नावस्था में अपनी महिमा यानी विभूति को अनुभव करता है अर्थात् विषय-विषयि रूप अनेकात्मत्व को प्राप्त हो जाता है।

पूर्व — मन तो विभूति का अनुभव करने में अनुभव करने वाले पुरुष का करण है; फिर यह कैसे कहा जाता है कि वह स्वतंत्रता से अनुभव करता है, क्योंकि स्वतंत्र तो क्षेत्रज्ञ ही है।

सिद्धान्ती — इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ की स्वतंत्रता मनरूप उपाधि के कारण है, वास्तव में क्षेत्रज्ञ तो स्वयं न सोता है न जागता ही है। उसका जागना और सोना तो मनरूप उपाधि के ही कारण है— ऐसा वृहदारण्यकश्रुति में कहा है— "वह बुद्धि से तादात्म्य प्राप्त कर स्वप्नरूप होता है और मानो ध्यान करता तथा चेष्टा करता है" इत्यादि। अतः विभूति के अनुभव में मन की स्वतंत्रता बतलाना न्याययुक्त ही है।

किन्हीं-किन्हीं का कथन है कि स्वप्न-काल में मनरूप उपाधि के सहित मानने में क्षेत्रज्ञ की स्वयंप्रकाशता में बाधा आवेगी, सो ऐसी बात नहीं है। उनकी यह भ्रान्ति श्रुत्यर्थ को न जानने के ही कारण है, क्योंकि मन आदि उपाधि से प्राप्त हुआ स्वयंप्रकाशत्व आदि व्यवहार भी मोक्ष-पर्यन्त सब-का-सब अविद्या के कारण ही है। जैसा कि "जहाँ कोई अन्य-सा हो वहीं अन्य को अन्य देख सकता है," "इस आत्मा को विषय का संसर्ग ही नहीं होता", "जहाँ इसके लिए सब आत्मा ही हो गया वहाँ किसे किसके द्वारा देखें?"इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित होता है। अतः यह शङ्का मन्त्र ब्रह्म-ज्ञानियों की ही है, एकात्म-वेत्ताओं की नहीं।

पूर्व — ऐसा मानने पर तो "इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष [स्वयं ज्योति] है" इस वाक्य से बतलाया हुआ आत्मा का [स्वयं ज्योति] विशेषण व्यर्थ हो जाएगा।

सिद्धान्ती — इस पर हमें यह कहना है कि आपका यह कथन तो बहुत थोड़ा है। "यह जो हृदय के भीतर का आकाश है उसमें वह (आत्मा) शयन करता है।" इस वाक्य से आत्मा का अन्तर्हृदय रूप परिच्छेद सिद्ध होने से तो उसका स्वयं प्रकाशत्व और भी बाधित हो जाता है।

पूर्व — यद्यपि यह दोष तो ठीक ही है; तथापि स्वप्न में केवलता (मन का अभाव हो जाने) के कारण आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व से उसका आधा भार तो हल्का हो ही जाता है।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है; उस अवस्था में भी "पुरीतत् नाड़ी में शयन करता है" इस श्रुति के अनुसार जीव का पुरीतत् नाडी से संबंध रहने के कारण यह अभिप्राय मिथ्या ही है कि उसका आधा भार निवृत्त हो जाता है।

पूर्व—तो फिर यह कैसे कहा गया है कि "इस अवस्था में पुरुष स्वयंप्रकाश होता है?"

मध्यस्थ — यदि ऐसा मानें कि अन्य शाखा की श्रुति होने के कारण यहाँ उसकी कोई अपेक्षा नहीं है तो?

पूर्व — ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि हमें श्रुतियों के अर्थ की एकता ही इष्ट है। सम्पूर्ण वेदान्तों का तात्पर्य एक आत्मा ही है; वही उन्हें बतलाना इष्ट है और वही

जिज्ञासुओं को ज्ञातव्य है। इसलिए स्वप्न में आत्मा की स्वयंप्रकाशता की उपपत्ति बतलाना उचित है, क्योंकि श्रुति यथार्थ तत्त्व को ही प्रकाशित करने वाली है।

सिद्धान्ती — अच्छा तो अब सब प्रकार का अभिमान त्याग कर श्रुति का अर्थ श्रवण कर, क्योंकि अपने को पण्डित मानने वाले सभी पुरुषों को सौ वर्ष में भी श्रुति का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। जिस प्रकार [स्वप्नावस्था में] हृदयाकाश में और पुरीतत् नाडी में शयन करने वाले आत्म का स्वयंप्रकाशत्व बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि वह उससे संबंध न रहने के कारण उससे पृथक् करके दिखलाया जा सकता है उसी प्रकार अविद्या, कामना और कर्म आदि के कारण उद्भूत हुई वासनाओं से युक्त होने पर भी मन में अविद्यावश प्राप्त हुई कर्म-निमित्तक वासना को अन्य वस्तु के समान देखने वाले तथा सम्पूर्ण कार्य-कारणों से पृथग्भूत द्रष्टा आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व बड़े गर्वीले तार्किकों द्वारा भी निवृत्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह दृश्यरूप वासनाओं से भिन्न रूप से स्थित है। इसलिए यह कहना बहुत ठीक है कि इन्द्रियों के मन में लीन हो जाने पर तथा मन के लीन न होने पर आत्मा मन-रूप होकर 'स्वप्न देखा करता है।' वह अपनी विभूति का किस प्रकार अनुभव करता है? सो अब बतलाते हैं— जो मित्र या पुत्रादि उसका पहले देखा हुआ होता है उसी की वासना से युक्त हो वह पुत्र मित्रादि की वासना से प्रकट हुए पुत्र या मित्र को मानो अविद्या से देखता है — ऐसा समझता है। इसी प्रकार सुने हुए विषय को मानों उसी की वासना से सुनता है तथा दिग्देशान्तरों में यानी भिन्न-भिन्न दिशा और देशों में अनुभव किये हुए पदार्थों को अविद्या से पुनः-पुनः अनुभव-सा करता है। इसी प्रकार दृष्ट — इसी जन्म में देखे हुए एवं अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तर में देखे हुए, क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट पदार्थों में वासना का होना संभव नहीं है, तथा श्रुत, अश्रुत, अनुभूत — जिसका इसी जन्म में केवल मन से अनुभव किया हो, अननुभूत – जिसका मन से ही जन्मान्तर में अनुभव किया हो, सत् – जल आदि वास्तविक पदार्थ और असत्— मृगजल आदि, अधिक क्या कहा जाये – ऊपर कहे हुए अथवा नहीं कहे हुए सभी पदार्थों को वह सर्व रूप से मनोवासना-रूप उपाधि वाला होकर देखता है। इसी प्रकार यह सर्वेन्द्रिय रूप मनोदेव स्वप्नों को देखा करता है।

4. आत्मा का स्वरूप

प्रश्नोपनिषद् भाष्य

उससे उस (पिप्पलादाचार्य) ने कहा — हे सोम्य! उस पुरुष को यहीं — इस शरीर के भीतर हृदय पुण्डरीकाकाश में ही जानना चाहिए — किसी अन्य देश (स्थान) में नहीं, जिस (पुरुष) में कि इन आगे कही जाने वाली प्राण आदि सोलह कलाओं का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् जिससे ये उत्पन्न होती हैं। इन उपाधिभूत सोलह कलाओं के कारण वह पुरुष कलाहीन होकर भी अविद्यावश कलावान् सा दिखलाई देता है। उन औपाधिक कलाओं के अध्यारोप की विद्या से निवृत्ति करके उस पुरुष को शुद्ध दिखलाना है इसलिए प्राणादि कलाओं को उसी से उत्पन्न होने

वाली कहा है, क्योंकि अत्यन्त निर्विशेष, अद्वय और विशुद्ध तत्त्व में अध्यारोप के बिना प्रतिपद्य— प्रतिपादन आदि कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसलिए उसमें कलाओं के अविद्या-विषयक उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का आरोप किया जाता है, क्योंकि ये कलायें चैतन्य से अभिन्न रहकर ही सर्वदा उत्पन्न, स्थित तथा लीन होती देखी जाती है। इसी से कुछ भ्रान्त पुरुषों का मत है कि 'अग्नि के संयोग से घृत के समान चैतन्य ही प्रत्येक क्षण में घट आदि आकारों में उत्पन्न और नष्ट हो रहा है।' इससे भिन्न दूसरों (शून्यवादियों) का मत है कि 'इनका निरोध हो जाने पर सब कुछ शून्यमय हो जाता है।' तथा अन्य (नैयायिक) कहते हैं कि चेतयिता नित्य आत्मा की घटादि को विषय करने वाली अनित्य चेतनता उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, तथा लोकायतिकों (देहात्मवादियों) का कथन है कि 'चेतनता भूतों का धर्म है।' परन्तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "विज्ञानघन एव" इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति-नाश रूप धर्म से रहित चेतन ही आत्मा है, वहीं नाम-रूप आदि औपाधिक धर्मों से युक्त भास रहा है। अपने स्वरूप से व्यभिचारी (बदलने वाले) पदार्थों में चैतन्य का व्यभिचार (परिवर्तन) न होने के कारण जो पदार्थ जिस-जिस प्रकार जाना जाता है उसके उस-उस प्रकार जानने के कारण ही उस-उस पदार्थ के चैतन्य का अव्यभिचार सिद्ध होता है।

'कोई वस्तु तत्त्व है तो सही किन्तु जाना नहीं जाता' ऐसा कहना तो 'रूप तो दिखलाई देता है परंतु नेत्र नहीं है" इस कथन के समान अयुक्त ही है। ज्ञेय का तो ज्ञान में व्यभिचार होता है किन्तु ज्ञान का ज्ञेय में कभी व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि एक ज्ञेय का अभाव होने पर भी ज्ञेयान्तर में ज्ञान का सद्भाव रहता ही है; ज्ञान के अभाव में तो ज्ञेय किसी के लिए रहता ही नहीं, जैसा कि सुषुप्ति में उनका अभाव देखा जाता है।

मध्यस्थ— सुषुप्ति में तो ज्ञान का भी अभाव है; अतः उस समय ज्ञेय के समान ज्ञान के स्वरूप का भी व्यभिचार होता है?

सिद्धान्ती — ऐसा कहना ठीक नहीं। ज्ञेय का अवभासक ज्ञान प्रकाश के समान ज्ञेय की अभिव्यक्ति का कारण है; अतः प्रकाश्य वस्तुओं के अभाव में जिस प्रकार प्रकाश का अभाव नहीं माना जाता उसी प्रकार सुषुप्ति में वस्तुओं की प्रतीति न होने से विज्ञान का अभाव मानना ठीक नहीं। अन्धकार में रूप की उपलब्धि न होने पर वैनाशिक [क्षणिक विज्ञानवादी] भी नेत्र के अभाव की कल्पना नहीं कर सकता।

मध्यस्थ — परंतु वैनाशिक तो ज्ञेय के अभाव में ज्ञान के अभाव की कल्पना करता ही है।

सिद्धान्ती — उस वैनाशिक को यह बतलाना चाहिए कि जिस (ज्ञान) से ज्ञेय के अभाव की कल्पना की जाती है उसका अभाव किससे कल्पित किया जाता है? क्योंकि उस [ज्ञान] का अभाव भी ज्ञेय-रूप होने के कारण बिना ज्ञान के सिद्ध नहीं हो सकता।

मध्यस्थ — ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न है, इसलिए ज्ञेय के अभाव में ज्ञान का भी अभाव हो जाता है – ऐसा माने तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अभाव भी ज्ञेय-रूप माना गया है। वैनाशिकों ने अभाव को भी ज्ञेय और नित्य स्वीकार किया है। यदि ज्ञान उससे [ज्ञेय से] अभिन्न है तो वह [उनके मत में भी] नित्य मान लिया जाता है। तथा उसका अभाव भी ज्ञान-स्वरूप होने के कारण उसका अभावत्व नाममात्र को ही रहता है, वास्तव में ज्ञान का अभाव एवं अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता। नित्य ज्ञान का केवल 'अभाव' नाम रख देने से ही हमारा कुछ बिगड़ नहीं जाता।

मध्यस्थ — किन्तु यदि अभाव ज्ञेय होने पर भी ज्ञान से भिन्न माना जाये तो?

सिद्धान्ती — तब तो ज्ञेय का अभाव होने पर ज्ञान का अभाव हो ही नहीं सकता।

मध्यस्थ — परन्तु ज्ञेय ही ज्ञान से भिन्न माना जाये, ज्ञान ज्ञेय से भिन्न न माना जाये तो?

सिद्धान्ती — ऐसा मत कहो, क्योंकि यह कथन केवल शब्द मात्र होने से इसमें कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम ज्ञान और ज्ञेय की अभिन्नता मानते हो तो ज्ञेय ज्ञात से भिन्न है किन्तु ज्ञान 'ज्ञेय से भिन्न नहीं है।' अतः यह कथन इसी प्रकार केवल शब्द मात्र है जैसे यह मानना कि 'वह्नि अग्नि से भिन्न है, परन्तु अग्नि वह्नि से भिन्न नहीं है।' अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ज्ञेय से व्यतिरिक्त होने के कारण ज्ञेय का अभाव होने पर ज्ञान का अभाव नहीं माना जा सकता।

मध्यस्थ — परन्तु ज्ञेय का अभाव हो जाने पर तो प्रतीति न होने के कारण ज्ञान का भी अभाव हो जाता है?

सिद्धान्ती —ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञप्ति का अस्तित्व माना गया है — वैनाशिकों ने सुषुप्ति में भी विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया ही है।

मध्यस्थ — परन्तु उस अवस्था में भी ज्ञान का ज्ञेयत्व स्वयं अपने से [ज्ञान से] ही माना जाता है।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन (ज्ञान और ज्ञेय) का भेद सिद्ध हो ही चुका है। अभाव-रूप विज्ञेय विषयक ज्ञान अभाव-रूप ज्ञेय से भिन्न होने के कारण ज्ञेय और ज्ञान की भिन्नता पहले सिद्ध हो ही चुकी है। उस सिद्ध हुई बात को, मृतक को पुनः जीवित करने के समान, सैकड़ों वैनाशिक भी अन्यथा नहीं कर सकते।

पूर्व — ज्ञात को किसी अन्य ज्ञेय की अपेक्षा है — यदि ऐसा माने तो तेरे पक्ष में 'वह ज्ञान किसी अन्य का ज्ञेय है और वह किसी अन्य का' ऐसा मानने से अनवस्था दोष होगा।

सिद्धान्ती — ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुओं का (ज्ञान ज्ञेय रूप से) विभाग किया जा सकता है। जब कि सब वस्तुएं किसी एक ही की ज्ञेय हैं तो उनसे भिन्न [उनका प्रकाशक] ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है। यह वैनाशिकों से

इतर मतावलम्बियों ने दूसरा ही विभाग माना है। इस विषय में कोई तीसरा विभाग नहीं माना गया। अतः उनके मत में अनवस्था नहीं आ सकती।

पूर्व — यदि ज्ञान को अपने से ही ज्ञेय न माना जाएगा तो उसके सर्वज्ञत्व की हानि होगी।

सिद्धान्ती — यह दोष भी उस [वैनाशिक] का ही हो सकता है। हमें उसे रोकने की क्या आवश्यकता है? अनवस्था दोष भी ज्ञान का ज्ञेयत्व मानने से ही है। वैनाशिकों के मन में ज्ञेय-ज्ञान तो अवश्य ही है; अतः अपना ही ज्ञेय न हो सकने के कारण उसकी अनवस्था भी अनिवार्य ही है।

पूर्व — यह दोष तो तुम्हारे पक्ष में भी ऐसा ही है।

सिद्धान्ती — नहीं, ज्ञान का एकत्व सिद्ध हो जाने के कारण [हमारे मत में ऐसा कोई दोष नहीं आ सकता, हम तो मानते हैं कि] सम्पूर्ण देश, काल और पुरुष आदि अवस्थाओं में जलादि में प्रतिबिम्बित हुए सूर्य आदि के समान एक ही ज्ञान अनेक प्रकार से भासित हो रहा है। अतः [हमारे मन में] यह दोष नहीं है। इसी से यहाँ यह [कलाओं के प्रादुर्भाव की] बात कही गयी है।

पूर्व — परन्तु इस श्रुति के अनुसार तो पुरुष, कूड़े में बेर के समान इस शरीर में ही परिच्छिन्न है।

सिद्धान्ती — ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पुरुष प्राणादि कलाओं का कारण है, और जो शरीर मात्र से परिच्छिन्न होगा उसे प्राण एवं श्रद्धादि कलाओं के कारण रूप से कोई नहीं जान सकता, क्योंकि शरीर तो उन कलाओं का ही कार्य है। पुरुष की कार्यरूप कलाओं का कार्य होकर शरीर अपने कारण के कारण पुरुष को, कूड़े में बेर के समान, अपने भीतर नहीं कर सकता।

पूर्व — यदि बीज और वृक्षादि के समान ऐसा हो सकता हो तो? जिस प्रकार बीज का कार्य वृक्ष है और उसका कार्य आम्रादि फल अपने कारण के कारण बीज को अपने भीतर कर लेता है, उसी प्रकार अपने कारण का कारण होने पर भी शरीर पुरुष को अपने भीतर कर लेगा — ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती — [पूर्व बीज से] अन्य और सावयव होने के कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। दृष्टान्त में कारण-रूप बीज से वृक्ष के फल से ढ़के हुए बीज भिन्न ही है, किन्तु दार्ष्टान्ति में तो अपने कारण का कारण-रूप वहीं पुरुष शरीर के भीतर हुआ सुना जाता है। इसके सिवा सावयव होने के कारण भी बीज और वृक्षादि में परस्पर आधार-आधेयभाव हो सकता है। किन्तु इधर पुरुष तो निरवयव है तथा कलाएँ और शरीर सावयव हैं। इससे तो शरीर आकाश का भी आधार नहीं बन सकता, फिर आकाश के भी कारण-स्वरूप पुरुष की तो बात ही क्या है। इसलिए यह दृष्टान्त विषम है।

मध्यस्थ — दृष्टान्त से क्या है? श्रुति के वचन से तो ऐसा ही होना चाहिए?

सिद्धान्ती — ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वचन कुछ करने वाला नहीं है। किसी वस्तु को कुछ-का-कुछ कर देने के लिए वचन प्रवृत्त हुआ नहीं करता। तो

फिर वह क्या करता है? वह तो ज्यों की त्यों वस्तु दिखलाने में ही प्रवृत्त होता है। अतः 'अन्तः शरीर' इस वचन को 'अण्डे के भीतर आकाश' इस कथन के समान ही समझना चाहिए।

इसके सिवा उपलब्धि क कारण होने से भी ऐसा कहा गया है। दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान [जानना] आदि लिङ्गो से पुरुष शरीर के भीतर परिछिन्न-सा दिखलाई देता है, तथा इस (शरीर) में ही उसकी उपलब्धि भी होती है। इसलिए यह कहा गया है कि 'हे सौम्य, वह पुरुष इस शरीर के भीतर है।'' नहीं तो, आकाश का भी कारण होकर वह कूड़े में बेर के समान शरीर में परिच्छिन्न है— ऐसी बात कहने की तो कोई मूढ़ पुरुष भी अपने मन से भी इच्छा नहीं कर सकता, फिर प्रमाणभूता श्रुति की तो बात ही क्या है?

5. अभेदवाद

ऐतरेयउपनिषद्-भाष्य

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले असंसारी सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ने अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु को ग्रहण किए बिना ही इस सम्पूर्ण जगत् की आकाशादि क्रम से रचना कर अपने को स्वयं ही जानने के लिए सम्पूर्ण प्राणादि-युक्त शरीर में स्वयं ही प्रवेश किया। और प्रवेश करके 'मैं यह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात् बोध प्राप्त किया। अतः समस्त शरीर में एकमात्र वही आत्मा है, उससे भिन्न नहीं। [इसके सिवा "[सम्पूर्ण भूतों में] जो सम आत्मा ब्रह्म है वह मैं हूँ— ऐसा जानो", "निश्चय पहले एक आत्मा ही था तथा [उसने] ब्रह्म को [आकाश के समान] अतिशय व्याप्त जाना।" ऐसा भी कहा है और [ऐसा ही] अन्य उपनिषदों में भी कहा है।

पूर्व — उस सर्वगत सर्वात्मा के लिए तो बाल का अग्रभाग भी अप्रविष्ट नहीं है, फिर वह चींटी के बिल-प्रवेश के समान मूर्ध सीमा को विदीर्ण कर किस प्रकार मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट हुआ?

सिद्धान्ती — तुम्हारा यह प्रश्न तो अल्प है। अभी तो उपर्युक्त कथन में बहुत कुछ पूछने योग्य बातें हैं। उसने इन्द्रियहीन होकर भी ईक्षण किया। किसी उपादान के बिना ही लोकों की रचना की। जल में से पुरुष निकाल कर उसे अवयव-योजना द्वारा पुष्ट किया। अभिध्यान के द्वारा उसका मुख प्रकट हुआ तथा मुखादि से अग्नि आदि लोकपाल प्रकट हुए। उनका क्षुधा-पिपासादि से संयोग कराना, उनके आयतन के लिए प्रार्थना करना, उनके लिए गौ आदि दिखलाना, उन देवताओं का अपने-अपने अनुकूल आयतनों में प्रवेश करना, उत्पन्न हुए अन्न का भागना और उसे वाक् आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की इच्छा करना ये सब बातें भी सीमा विदीर्ण करने और शरीर में प्रवेश करने के समान ही आश्चर्यजनक है।

पूर्व — अच्छा तो, इन सभी बातों को अनुपपन्न (असम्भव) मान लो।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि श्रुति को यहाँ केवल आत्मावबोध- मात्र कहना अभीष्ट होने से यह सब अर्थवाद है; अतः इसमें कोई दोष नहीं है। अथवा मायावी के समान महामायावी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु ने इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है, और रहस्य का सरलता से ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही लौकिक रूप से यह आख्यायिका आदि की रचना की गयी है — इस प्रकार भी यह पक्ष युक्ति-युक्त जान पड़ता है, क्योंकि केवल सृष्टि-रचना की आख्यायिका आदि के परिज्ञान से कुछ भी फल नहीं मिलता। परंतु आत्मा के एकत्व और यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से अमरत्व-रूप फल प्राप्त होता है — यह सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध है। तथा "सम्पूर्ण भूतों में समान भाव से स्थित परमेश्वर को" इत्यादि वाक्यों द्वारा गीता आदि स्मृतियों में भी यही बात कही गयी है।

पूर्व — आत्मा तो तीन है, उनमें एक तो सम्पूर्ण लोक और शास्त्र से प्रसिद्ध कर्ता भोक्ता संसारी जीव है। नगर और प्रासादादि के निर्माण के लिङ्ग से जिस प्रकार तत्संबंधी कौशल के ज्ञान वाले उनके रचयिता तथा कारीगर आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार अनेक प्राणियों के कर्मफल के उपभोगयोग्य अनेकों अधिष्ठानों वाले लोक और देह की रचना के शास्त्र प्रदर्शित लिङ्ग से दूसरे चेतन आत्माजगत्कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान होता है। तथा तीसरा आत्मा "जहाँ से वाणी लौट आती है", "एवं यह नहीं, यह नहीं" इत्यादि शास्त्र से प्रसिद्ध औपनिषद पुरुष है। इस प्रकार ये तीनों आत्मा एक दूसरे से विलक्षण है, अतः यह कैसे जाना जा सकता है कि आत्मा एक अद्वितीय और असंसारी ही है।

सिद्धान्ती — इन तीनों में पहले जीव का ही ज्ञान कैसे होता है।

पूर्व — इस प्रकार ज्ञान होता है कि 'वह श्रवण करने वाला, मनन करने वाला। द्रष्टा, आज्ञा करने वाला, शब्द उच्चारण करने वाला, विज्ञाता और प्रज्ञाता है।

सिद्धान्ती — परन्तु जिसका श्रवणादि के कर्तारूप से ज्ञान होता है उसे 'अमत और मनन करने वाला, अविज्ञात और विशेष रूप से जानने वाला' इस प्रकार कहना तथा "मति के मनन करने वाला का मनन न करो, विज्ञप्ति के विज्ञाता को न जानो" इत्यादि वचन भी विरुद्ध होगा।

पूर्व — यदि उसे सुखादि के समान प्रत्यक्ष रूप से जाना जाये तो अवश्य विरुद्ध होगा। किन्तु "मति के मनन करने वालों का मनन न करो" इत्यादि वाक्य से उसके प्रत्यक्ष ज्ञान का निवारण किया गया है। उसका ज्ञान तो श्रवणादि लिङ्ग से होता है, फिर इसमें विरोध कहाँ है?

सिद्धान्ती — श्रवणादि लिङ्ग से भी आत्मा का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि जब और जिस समय आत्मा सुनने योग्य शब्द को सुनता है उस समय श्रवण क्रिया के साथ ही वर्तमान रहने के कारण उसके लिए अपने में अथवा अन्यत्र मनन या विज्ञानरूप क्रियायें सम्भव नहीं है। इस प्रकार विजातीय क्रियाओं की समकालीनता का निषेध करके अब सजातीय क्रियाओं का निषेध करते हैं — इसी

प्रकार अन्यत्र मनन आदि क्रियाओं में भी समझना चाहिए। श्रवणादि क्रियायें भी अपने विषयों में ही प्रवृत्त हो सकती है, आश्रय में नहीं। मनन करने वालों की मनन क्रिया मन्तव्य से भिन्न स्थान में सम्भव नहीं है।

पूर्व — मन से तो सभी का मनन किया जाता है।

सिद्धान्ती — यह ठीक है, परन्तु जो कुछ मनन किया जाता है वह सब मनन कर्ता के बिना नहीं किया जा सकता।

पूर्व — यदि ऐसा हो भी तो इससे क्या होगा?

सिद्धान्ती — इससे यहाँ यह होगा कि जो इस सबका मनन करने वाला है वह मनन करने वाला ही रहेगा, मन्तव्य नहीं होगा। तथा उस मनन करने वाले का कोई दूसरा मनन-कर्ता भी नहीं है। यदि उसे आत्मा द्वारा ही मन्तव्य माना जाये तो जिस आत्मा से आत्मा मनन किया जाता है और जिस आत्मा का मनन किया जाता है उनके दो होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अथवा बाँस आदि के समान एक ही आत्मा मन्ता और मन्तव्य रूप से दो भागों में विभक्त माना जायेगा। किन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकार से अनुपपत्ति ही है। जैसे कि समान रूप होने के कारण दो दीपकों का परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशकत्व नहीं बन सकता, उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए।

इसके सिवा मन्ता को अपना मनन करने के लिए मन्तव्य पदार्थों का मनन करने के व्यापार से रहित कोई काल भी नहीं है। जिस समय भी किसी लिङ्ग के द्वारा मन्ता अपना मनन करता है उस समय भी पहले ही के समान लिङ्ग से मन्तव्य आत्मा और जो कोई उसका मनन करने वाला है वे दो सिद्ध होते हैं, अथवा एक ही दो भागों में विभक्त है— इस प्रकार पूर्वोक्त दोष उपस्थित हो जाता है। और यदि वह न प्रत्यक्ष से जाना जाता है और न अनुमान से तो ऐसा क्यों कहते हैं कि "वह मेरा आत्मा है— ऐसा जानें" और क्यों उसे श्रोता मन्ता इत्यादि बतलाते है?

पूर्व — आत्मा तो श्रोतृत्वादि धर्म वाला है और आत्मा के अश्रोतृत्व आदि धर्म भी [श्रुति में] प्रसिद्ध है। फिर इसमें तुम्हें विषमता क्या दिखलाई देती है?

सिद्धान्ती — यद्यपि तुझे कोई विषमता ज्ञात नहीं होती, तथापि मुझे तो होती ही है। किस प्रकार कि जिस समय यह श्रोता होता है उस समय मन्ता नहीं होता और जब मन्ता होता है तब श्रोता नहीं होता। ऐसा होने के कारण वह एक पक्ष में श्रोता और मन्ता है तो दूसरे पक्ष में न श्रोता है और न मन्ता ही है। ऐसा ही अन्यत्र [विज्ञाता आदि से संबंध में] भी समझना चाहिए।

यदि ऐसी बात है तो आत्मा श्रोतृत्वादि धर्म वाला है अथवा अश्रोतृत्वादि धर्म वाला? इस प्रकार संशय-स्थान उपस्थित होने पर तुझे विषमता क्यों नहीं दिखाई देती? जिस समय देवदत्त चलता है उस समय वह चलने वाला ही होता है, ठहरने वाला नहीं होता, तथा जिस समय वह ठहरता है उस समय वह ठहरने वाला ही होता है, चलने वाला नहीं होता। ऐसी अवस्था में इसका गन्तृत्व और

स्थातृत्व पाक्षिक ही होता है, नित्य गन्तृत्व अथवा नित्य स्थातृत्व नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा का श्रोतृत्वादि भी पाक्षिक ही सिद्ध होगा, नित्य नहीं।

कणाद आदि अन्य मतावलम्बी भी इस विषय में ऐसा ही समझते हैं, क्योंकि इस विषय में उनका कथन है कि पक्ष में प्राप्त होने वाले श्रोतृत्वादि के कारण ही आत्मा श्रोता, मन्ता इत्यादि कहा जाता है। वे ज्ञान का संयोगजत्व (इन्द्रिय और मन के संयोग से उत्पन्न होना) और अयौगपद्य (एक साथ न होना) प्रतिपादन करते हैं। और मन को एक साथ ज्ञान उत्पन्न न होने में वे 'मैं अन्यमनस्क था, इसलिए न देख सका।' इत्यादि लिङ्ग प्रदर्शित करते है और यह युक्तिसंगत भी है।

पूर्व — ऐसा सिद्धान्त भले ही रहे, किन्तु यदि ऐसा ही भी तो तुम्हारी क्या हानि है?

सिद्धान्ती — यदि तुम्हें अभिमत हो तो तुम्हारे लिए ऐसा भले ही हो, परंतु यह श्रुति का तात्पर्य तो हो नहीं सकता।

पूर्व — क्या श्रोता, मन्ता इत्यादि श्रुति का अर्थ नहीं है?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि [श्रुति में तो] 'न श्रोता है न मन्ता है' इत्यादि भी कहा है।

पूर्व – परन्तु इस विरोध को तो तुमने पाक्षिक बतलाकर खण्डित कर दिया है।

सिद्धान्ती – नहीं, क्योंकि आत्मा का श्रोतृत्व आदि तो नित्य ही माना गया है, जैसा कि "श्रोता की श्रुति का लोप कभी नहीं होता" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है।

पूर्व — ऐसी दशा में तो आत्मा का नित्य श्रोतृत्वादि मानने पर प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनेक ज्ञानों का एक साथ उत्पन्न होना और आत्मा में अज्ञान का अभाव ये दो बातें माननी पड़ेंगी। किन्तु यह किसी को अभीष्ट नही हैं।

सिद्धान्ती — इन दोनों दोषों की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि श्रुति के कथनानुसार आत्मा श्रुति के श्रोतृत्वादि धर्म वाला है, जिस प्रकार अग्नि का प्रज्वलित होना, तृष्णादि के संयोग से होने के कारण, अनित्य है। उसी प्रकार संयोग-वियोग, धर्मी, मूर्त एवं अनित्य चक्षु आदि के धर्म दृष्टि आदि अनित्य ही हैं। किन्तु जो नित्य, अमूर्त और संयोग-वियोग धर्म से रहित है उस (आत्मा) का संयोग-जनित दृष्टि का लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति भी है। इस प्रकार दो दृष्टि सिद्ध होती हैं— (1) नेत्रों की अनित्य दृष्टि और (2) आत्मा की नित्य दृष्टि। इसी प्रकार दो श्रुति हैं — श्रोत की अनित्य श्रुति और आत्मा की नित्य श्रुति। तथा इसी प्रकार बाह्य और अबाह्य रूप दो मार्त और दो विज्ञाति हैं। ऐसी अवस्था में ही "दृष्टि का द्रष्टा है, श्रुति का श्रोता है" इत्यादि श्रुति सार्थक हो सकती है।

लोक में भी तिमिर रोग की उत्पत्ति और विनाश से 'दृष्टि नष्ट हो गई, दृष्टि उत्पन्न हो गई' इस प्रकार नेत्र की दृष्टि का अनित्यत्व प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार श्रुति-मति इत्यादि का [अनित्यत्व माना गया है;] और आत्मा की दृष्टि आदि का

नित्यत्व तो लोक में प्रसिद्ध ही है। जिसके नेत्र निकाल लिये गये हैं वह पुरुष भी ऐसा कहता है कि 'आज स्वप्न में मैंने अपने भाई को देखा था।' तथा जिसका बहिरापन सब को ज्ञात है वह भी 'मैंने स्वप्न में मन्त्र सुना' इत्यादि कहता ही है। यदि आत्मा की नित्य दृष्टि नेत्रेन्द्रिय के संयोग से ही उत्पन्न होने वाली हो तो वह उसका नाश होने पर नष्ट हो जाये। उस अवस्था में जिसके नेत्र निकाल लिये गये हैं वह पुरुष स्वप्न में नीला-पीला आदि नहीं देख सकेगा और तब "द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति और "वह नैत्र है, जिसके द्वारा पुरुष स्वप्न देखता है" इत्यादि श्रुति भी निरर्थक हो जायेगी।

आत्मा की नित्य दृष्टि बाह्य अनित्य दृष्टि को ग्रहण करने वाली है। बाह्य दृष्टि उत्पत्ति-विनाशादि अनित्य धर्मों वाली है, अतः लोगों को जो उसे ग्रहण करने वाली आत्म-दृष्टि का उसी के समान भासित होना और अनित्य होना आदि प्रतीत होता है वह भ्रान्ति के कारण है— ऐसा मानना ठीक ही है। जिस प्रकार भ्रमण आदि धर्म वाली अलात चक्र आदि वस्तुओं से संबंधित दृष्टि भी भ्रमती सी जान पड़ती है, उसी प्रकार [इसे समझना चाहिए]। ऐसा ही "ध्यायतीव लेलायतीव" आदि श्रुति भी कहती है। अतः नित्य होने के कारण आत्मदृष्टि का यौगपद्य (अनेक दृष्टियों का एक साथ होना) अथवा अयौगपद्य नहीं है।

बाह्य अनित्य दृष्टिरूप उपाधि के कारण लोक को और तार्किक पुरुषों को वैदिक सम्प्रदाय से रहित होने के कारण ऐसी भ्रान्ति होना उचित ही है कि आत्मा की दृष्टि अनित्य ही है। जीव, ईश्वर और परमात्मा के भेद की कल्पना भी इसी निमित्त से है। इसी प्रकार अस्ति (है) नास्ति (नहीं है) आदि जितने भी वाणी और मन के भेद है वे सब जहाँ एक हो जाते है उसे विषय करने वाली नित्य निर्विशेष दृष्टि के सम्पूर्ण वाक्प्रतीतियों के अविषय स्वरूप में जो है— नहीं है, एक-अनेक, सगुण-निर्गुण जानता है, नहीं जानता, सक्रिय-निष्क्रिय, सफल-निष्फल, सबीज-निर्बीज सुख-दुःख, मध्य-अमध्य, शून्य-अशून्य अथवा पर-अहं एवं अन्य की कल्पना करना चाहता है वह निश्चय ही आकाश को भी चमड़े के समान लेपटना चाहता है और अपने पैरों से उस पर सीढ़ियों के समान आरूढ़ होने को उद्यत है। वह मानों जल और आकाश में मछली तथा पक्षियों के चरण-चिह्न देखने को उत्सुक है, जैसा कि "नेति नेति", "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि श्रुतियों और "को अद्धा वेद" इत्यादि मन्त्रवर्ण से सिद्ध होता है।

पूर्व — तो फिर उसे 'वह मेरा आत्मा है' इस प्रकार कैसे जाना जाता है? बतलाओ उसे मैं किस प्रकार से 'वह मेरा आत्मा है' इस प्रकार जानूँगा?

सिद्धान्ती -- इस विषय में एक आख्यायिका कहते हैं। किसी मूढ़ मनुष्य से किसी ने, उससे कोई अपराध बन जाने पर, कहा— 'तुझे धिक्कार है, तू मनुष्य नहीं है।' उसने मूढ़तावश अपना मनुष्यत्व निश्चित कराने के लिए किसी के पास जाकर कहा – 'आप बतलाइये, मैं कौन हूँ? वह उसकी मुर्खता समझ कर उससे बोला — 'धीरे-धीरे बतलाऊँगा।' और फिर स्थावरादि में उसके आत्मत्व का निषेध

बतलाकर 'तू अमनुष्य नहीं है', ऐसा कहकर चुप हो गया। तब उस मूर्ख ने उससे कहा 'आप मुझे समझाने के लिए प्रवृत्त होकर अब चुप हो गये, समझाते क्यों नहीं हैं? उसी के समान आपके ये वचन हैं। जो पुरुष 'तू अमनुष्य नहीं है' ऐसा कहने पर अपना मनुष्यत्व नहीं समझता वह 'तू मनुष्य है' ऐसा कहने पर भी अपना मनुष्यत्व कैसे समझ सकेगा?

अतः जैसा शास्त्र का उपदेश है उसके अनुसार ही आत्म-साक्षात्कार की विधि है, उससे भिन्न नहीं। अग्नि से दग्ध होने वाले तृण आदि किसी अन्य वस्तु से नहीं जलाये जा सकते। अतएव शास्त्र आत्म-स्वरूप का बोध कराने के लिए प्रवृत्त होकर मनुष्यत्व के प्रतिषेध के समान "नेति नेति" ऐसा कहकर चुप हो गया है। इसी तरह "अन्तर्बाह्य-भाव से रहित" "यह आत्मा सब का अनुभव करने वाला ब्रह्म है" इत्यादि भी शास्त्र का उपदेश है। तथा "वह तू है" "जहाँ इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो जाता है वहाँ किससे किसे देखें?" इत्यादि ऐसे ही और भी वाक्य यही बतलाते हैं।

जब तक यह जीव उपर्युक्त आत्मा को 'यह ऐसा है' इस प्रकार नहीं जानता तब तक यह बाह्य अनित्य दृष्टिरूप उपाधि को आत्मभाव से प्राप्त होकर अविद्यावश उपाधि के धर्मों को आत्मा के धर्म मानता हुआ ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त देवता, पशु-पक्षी और मनुष्यों की योनियों में पुनः-पुनः चक्कर लगाता हुआ अविद्या, कामना और कर्म के अधीन हो [जन्म-मरणरूप] संसार को प्राप्त होता रहता है। वह इस संसार को प्राप्त होता हुआ प्राप्त हुए देह और इन्द्रिय के संघात को त्याग देता है और एक को त्याग कर दूसरे को ग्रहण कर लेता है। वह इसी प्रकार नदी के स्रोत के समान जन्म-मरण की परंपरा विच्छेद न होते हुए किन अवस्थाओं में रहता है इसी बात को [मनुष्यों के मन में] वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए दिखलाती हुई श्रुति मनुष्य के जन्म का वर्णन करती है।

5. कठोपनिषद्-भाष्य

(1) आत्मदर्शन का स्थान — जिस प्रकार लोक दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए अपने आपको अत्यन्त स्पष्टतया देखता है उसी प्रकार दर्पण के समान निर्मल हुई अपनी बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है — ऐसा इसका अभिप्राय है।

जिस प्रकार स्वप्न में जाग्रद्वासनाओं से प्रकट हुआ दर्शन अस्पष्ट होता है उसी प्रकार पितृ-लोक में भी अस्पष्ट आत्म-दर्शन होता है, क्योंकि वहाँ जीव कर्मफल के उपभोग में आसक्त रहता है। तथा जिस प्रकार जल में अपना स्वरूप ऐसा दिखलाई देता है, मानो उसके अवयव विभक्त न हों उसी प्रकार गन्धर्व-लोक में भी अस्पष्ट रूप से ही आत्मा का दर्शन होता है। अन्य लोकों में भी शास्त्र-प्रमाण से ऐसा ही (अर्थात् अस्पष्ट आत्म-दर्शन ही) माना जाता है। एक मात्र ब्रह्म-लोक में ही छाया और प्रकाश के समान वह आत्म-दर्शन अत्यन्त स्पष्टतया होता है। किन्तु अत्यन्त विशिष्ट कर्म और ज्ञान से साध्य होने के कारण वह ब्रह्मलोक तो

बड़ा दुष्प्राप्य है। अतः अभिप्राय यह है कि इस मनुष्यलोक में ही आत्म-दर्शन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

(2) **आत्मोपलब्धि का साधन सद्बुद्धि है—** तात्पर्य यह कि वह ब्रह्म न तो वाणी से, न मन से, न नेत्र से, और न अन्य इन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है। तथापि सर्व विशेष रहित होने पर भी 'वह जगत् का मूल है' इस प्रकार ज्ञात होने के कारण वह है ही, क्योंकि कार्य का विलय किसी अस्तित्व के आश्रय से ही हो सकता है। इसी प्रकार सूक्ष्मता की तारतम्य-परंपरा से अनुगत होने वाला यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग भी सद्बुद्धि-निष्ठा को ही सूचित करता है। जिस समय विषय का विलय करते हुए बुद्धि का विलय किया जाता है उस समय भी वह सद्वृत्तिगभिता हुई ही लीन होती है। तथा सत् और असत् का यथार्थ स्वरूप जानने में तो हमारे लिए बुद्धि ही प्रमाण है।

यदि जगत् का कोई मूल न होता तो यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग असन्मय ही होने के कारण 'असत्' है इस प्रकार गृहीत होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है, यह जगत् तो 'है–है' इस प्रकार ही गृहीत होता है, जिस प्रकार कि मृत्तिका आदि के कार्य घट आदि [अपने कारण] मृत्तिका आदि से समन्वित ही गृहीत होते हैं। अतः जगत् का मूल 'आत्मा' है इस प्रकार उपलब्ध किया जाना चाहिए। क्यों? क्योंकि आत्मा 'है' इस प्रकार कहने वाले शास्त्रार्थानुसारी श्रद्धालु आस्तिक पुरुषों से भिन्न नास्तिकवादियों का ऐसा मानना है कि 'जगत् का मूल आत्मा नहीं है, जिसका अभाव ही अन्तिम परिणाम है ऐसा यह कार्यवर्ग कारण से अनन्वित हुआ ही लीन हो जाता है' — ऐसे उन विपरीत दर्शियों को वह ब्रह्म किस प्रकार तत्त्वतः उपलब्ध हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नही हो सकता।

बुद्धि आदि जिसकी उपाधि हैं तथा जिसका सत्व उसके कार्यवर्ग में अनुगत है उस आत्मा को 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिए। जिस समय आत्मा उस बुद्धि आदि उपाधि से रहित और निर्विकार जाना जाता है तथा कार्यवर्ग "विकार वाणी का विलास और नाम मात्र है, केवल मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुति के अनुसार अपने कारण से भिन्न नहीं है— ऐसा निश्चित होता है उस समय जिस निरुपाधिक अलिंङ्ग और सत्-असत् आदि प्रतीति के विषयत्व से रहित आत्मा का तत्त्वभाव होता है उस तत्त्व स्वरूप से ही आत्मा को उपलब्ध करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ 'उपलब्धव्य' पद की अनुवृत्ति की जाती है।

सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्व भाव इन दोनों में से— यहाँ 'उभयोः' इस पद में षष्ठी निर्धारण के लिए है — पहले तो 'है' इस प्रकार उपलब्ध हुए आत्मा का अर्थात् सत् कार्य रूप उपाधि के लिए हुए अस्तित्व-प्रत्यय से उपलब्ध हुए आत्मा का और फिर जिसकी सम्पूर्ण उपाधि निवृत्त हो गई है और जो ज्ञात एवं अज्ञात से भिन्न अद्वितीय स्वरूप है, उस "नेति-नेति", "अस्थूल मनण्वह्रस्वम्" "अदृश्येऽऽ आत्मे अनिरुक्तऽनिलयने" इत्यादि श्रुतियों से निर्दिष्ट आत्मा का तत्त्वभाव

'प्रसीदति' — अभिमुख होता है अर्थात् जिसे पहले 'है' इस प्रकार आत्मा की उपलब्धि हो गयी है उसे अपना स्वरूप प्रकट करने के लिए [वह तत्वभाव अभिमुख प्रकाशित होता है]।

6. मुण्डकोपनिषद् भाष्य

(1) परा और अपरा विद्या— शौनक से अंङ्गिरा ने कहा। क्या कहा? सो बतलाते हैं– दो विद्याएं वेदितव्य अर्थात् जानने योग्य हैं ऐसा जो ब्रह्मविद् — वेद के अर्थ को जानने वाले परमार्थदर्शी हैं वे कहते हैं। वे दो विद्याएं कौन-सी हैं? इस पर कहते हैं – परा अर्थात् परमात्मविद्या और अपरा— धर्म, अधर्म के साधन और उनके फल से संबंध रखने वाली विद्या।

शङ्का — शौनक ने तो यह पूछा था कि 'किसकी जान लेने पर पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है।' उसके उत्तर में जो कहना चाहिए था उसकी जगह 'दो विद्याएं हैं' आदि बातें तो अङ्गिरा ने बिना पूछे ही कही है।

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्तर तो क्रम की अपेक्षा रखता है। अपरा विद्या तो अविद्या ही है, अतः उसका निराकरण किया जाना चाहिए। इसके विषय में जान लेने से तो तत्त्वतः कुछ भी नहीं जाना जाता, क्योंकि यह नियम है कि 'पहले पूर्वपक्ष का खण्डन कर पीछे सिद्धान्त कहा जाता है।'

उनमें अपरा विद्या कौन-सी है, सो बतलाते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद– ये चार वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष— ये छः वेदाङ्ग अपरा विद्या कहे जाते हैं।

अब यह परा विद्या बतलाई जाती है, जिससे आगे (छठे मन्त्र में) कहे जाने वाले विशेषणों से युक्त उस अक्षर का अधिगम अर्थात् प्राप्ति होती है, क्योंकि 'अधि' पूर्वक 'गम' धातु प्रायः 'प्राप्ति' अर्थ में प्रयुक्त होती है, तथा परमात्मा की प्राप्ति और उसके ज्ञान के अर्थ में कोई भेद नहीं है, क्योंकि अविद्या की निवृत्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है, इससे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं।

शङ्का— तब तो वह (ब्रह्मविद्या) ऋग्वेदादि से बाह्य है, अतः वह पराविद्या अथवा मोक्ष की साधनभूत किस प्रकार हो सकती है? स्मृतियाँ तो कहती है कि, ''जो वेद बाह्य स्मृतियाँ और जो कोई कुदृष्टियाँ (कुविचार) हैं वे परलोक में निष्फल और नरक की साधन मानी गई हैं'' अतः कुदृष्टि होने से निष्फल होने के कारण वह ग्राह्य नहीं हो सकती। तथा इससे उपनिषद् भी ऋग्वेदादि से बाह्य माने जायेंगे और यदि इन्हे ऋग्वेदादि में ही माना जायेगा तो 'अथ परा' आदि वाक्य से जो परा विद्या को पृथक् बतलाया गया है वह व्यर्थ हो जायेगा।

समाधान — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि परा विद्या से वेद्य-विषयक ज्ञान बतलाना अभीष्ट है। यहाँ प्रधानता से यही बतलाना इष्ट है कि उपनिषद्वेद्य अक्षर विषयक विज्ञान ही परा विद्या है, उपनिषद् की सर्वराशि नहीं। और 'वेद' शब्द से

सर्वत्र शब्दराशि ही कही जाती है। शब्दसमूह का ज्ञान हो जाने पर भी गुरुपसत्ति आदि रूप प्रयत्नान्तर तथा वैराग्य के बिना अक्षर ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, इसीलिए ब्रह्मविद्या का पृथक्करण और 'वह परा विद्या है' ऐसा कहा गया है।5।

जिस प्रकार विधि (कर्मकाण्ड) के संबंध में [उसका प्रतिपादन करने वाले] वाक्यों का अर्थ जानने के समय से भिन्न कर्ता आदि अनेक कारकों (क्रिया निष्पत्ति के साधनों) के उपसंहार द्वारा अग्निहोत्र आदि अनुष्ठेय अर्थ रह जाता है, उस प्रकार परा विद्या के संबंध में नहीं होता। इसका कार्य तो वाक्यार्थ ज्ञान के समकाल में ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि केवल शब्दों के योग से प्रकाशित होने वाले अर्थ ज्ञान में स्थित कर देने से भिन्न इसका और कोई प्रयोजन नहीं है। अतः यहाँ 'यत्तद द्रेष्यम्' इत्यादि विशेषणों से विशेषित अक्षर ब्रह्म का निर्देश करते हुए उस परा विद्या को विशेषित करते हैं। आगे जो कुछ कहना है उसे अपनी बुद्धि में बिठाकर 'यत्तद्' इत्यादि वाक्य से उसका सिद्ध वस्तु के समान उल्लेख करते हैं –

वह जो अद्रेश्य— अदृश्य अर्थात् समस्त ज्ञानेंद्रियों का अविषय है, क्योंकि बाहर को प्रवृत्त हुई दृक्शक्ति पंच-ज्ञानेन्द्रिय रूप द्वार बाली है, अग्राह्य अर्थात् कर्मेन्द्रियों का अविषय है, अगोत्र — गोत्र अन्वय अथवा मूल — ये किसी अन्य अर्थ के वाचक नहीं है [अर्थात् इनका एक ही अर्थ है] अतः अगोत्र यानी अनन्वय हैं, क्योंकि उस अक्षर (अक्षर ब्रह्म) का कोई मूल नहीं है जिससे वह अन्वित हो; जिनका वर्णन किया जाये वे स्थूलत्वादि या शुक्लत्वादि द्रव्य के धर्म ही वर्ण हैं— वे वर्ण जिसमें विद्यमान नहीं है वह अक्षर अवर्ण है: अचक्षुःश्रोत, चक्षु (नेत्रेन्द्रिय) और श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) ये सम्पूर्ण प्राणियों की रूप और शब्द को गृहीत करने वाली इन्द्रियाँ हैं, वे जिसमें नहीं है उसे ही 'अचक्षुः श्रोत्र' कहते हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुति में पुरुष के लिए चेतनावत्व विशेषण दिया गया है अतः अन्य संसारी जीवों के समान उसके लिए भी चक्षुः श्रोत्रादि इन्द्रियों से अर्थ-साधकत्व प्राप्त होता है, यहाँ 'अचक्षुः श्रोत्रम्' कह कर उसी का निषेध किया जाता है, जैसा कि उसके विषय में बिना नेत्र वाला होकर भी देखता है, बिना कान वाला होकर भी सुनता है" इत्यादि कथन देखा गया है।

यही नहीं वह अपाणिपाद अर्थात् कर्मेद्रियों से भी रहित है, क्योंकि इस प्रकार वह अग्राह्य और अग्राहक भी है, इसलिए वह नित्य— अविनाशी है। तथा विभु— ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त प्राणि-भेद से वह विविध (अनेक प्रकार का) हो जाता है, इसलिए विभु है, सर्वगत— व्यापक है और शब्दादि स्थूलता के कारणों से रहित होने के कारण आकाश के समान अत्यन्त सूक्ष्म है, शब्दादि गुण ही आकाश वायु आदि की उत्तरोत्तर स्थूलता के कारण हैं, उनसे रहित होने के कारण वह (अक्षर ब्रह्म) सुसूक्ष्म है तथा उपर्युक्त धर्मवाला होने से ही कभी उसका व्यय (ह्रास) नहीं होता इसलिए वह अव्यय है, क्योंकि अङ्गहीन वस्तु का शरीर के समान अपने अङ्गों का व्यय-रूप क्षय नहीं हो सकता, न राजा के समान कोश-क्षय रूप-व्यय ही सम्भव

है और न निर्गुण तथा सर्वात्मक होने के कारण उसका गुण-क्षय द्वारा ही व्यय हो सकता है।

पृथिवी जैसे स्थावर-जंगम जगत् का कारण है, उसी प्रकार जिस ऐसे लक्षणों वाले भूतयोनि— भूतों के कारण सबके आत्मभूत अक्षर ब्रह्म को धीर-बुद्धिमान-विवेकी पुरुष सब ओर देखते हैं, ऐसा अक्षर जिस विद्या से जाना जाता है वही परा विद्या है – यह इस सम्पूर्ण मन्त्र का तात्पर्य है।6।

7. माण्डूक्य उपनिषद्-भाष्य (माण्डूक्य-कारिका भाष्य)

(1) ओम् का वर्णन — ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थसमूह है वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकार से अभिन्न होने के कारण वह सब कुछ ओंकार ही है। परब्रह्म भी अभिधान— अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है, इसलिए वह भी ओंकार ही है।

यह जो परापरब्रह्मरूप अक्षर ॐ है उसका उपव्याख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपव्याख्यान है — वही यहाँ प्रस्तुत जानना चाहिए। इस वाक्य में 'प्रस्तुतं वेदितव्यम् (प्रस्तुत जानना चाहिए)' यह वाक्यशेष है।

भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों से जो कुछ परिच्छेद्य है वह भी उपर्युक्त न्याय से ओंकार ही है। इसके सिवा जो तीनों कालों से परे, अपने कार्य से ही विदित होने वाला और काल से अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि है वह भी ओंकार ही है।1।

वाचक और वाच्य का अभेद होने पर भी वाचक की प्रधानता से ही ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है इत्यादि रूप से निर्देश किया गया है। वाचक की प्रधानता से निर्दिष्ट वस्तु का फिर वाच्य की प्रधानता से किया हुआ निर्देश वाचक और वाच्य की एकता प्रतिपादन करने के लिए है, अथवा वाच्य की प्रतिपत्ति वाचक के अधीन होने के कारण वाच्य का वाचक रूप होना गौण ही होगा— ऐसी आशंका हो सकती है। किन्तु वाच्य (ब्रह्म) और वाचक (ओंकार) की एकत्व-प्रतिपत्ति का तो यही प्रयोजन है कि उन दोनों को एक ही प्रयत्न से एक साथ लीन करके उनसे विलक्षण ब्रह्म को प्राप्त किया जाये। ऐसा ही "पाद ही मात्र ही और मात्रा ही पाद है" इस श्रुति से कहेंगे भी। अब वही बात कहते हैं —

यह सब ब्रह्म ही है। अर्थात् यह सब जो ओंकार मात्र कहा गया है, ब्रह्म है। अब तक परोक्ष रूप से बतलाये हुए उस ब्रह्म को विसेष रूप से प्रत्यक्षतया 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा कह कर निर्देश करते हैं। यहां 'अयम्' शब्द द्वारा चतुष्पाद रूप से विभक्त किये जाने वाले आत्मा को अपने अन्तरात्म स्वरूप से अभिनय (अंगुलिनिर्देश) पूर्वक 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा कहकर बतलाते हैं। ओंकार नाम से

कहा जाने वाला तथा पर और अपर रूप से व्यवस्थित वह यह आत्मा कार्षापण के समान चार पाद (अंश) वाला है, गौ के समान नहीं। विश्व आदि तीन पादों में से क्रमशः पूर्व-पूर्व का लय करते हुए अन्त में तुरीय ब्रह्म की उपलब्धि होती है। अतः पहले तीन पादों में 'पाद' शब्द कारण वाच्य है और तुरीय में 'जो प्राप्त किया जाये, इस प्रकार कर्मवाच्य है।

(2) बौद्ध विज्ञानवाद और अद्वैतवाद का अन्तर — तापी- जिसका ताप यानी (विस्तार) हो उसे तापी कहते हैं। क्योंकि तापी-सन्तानवान्-निरन्तर अर्थात् आकाश-सदृश् पूजावान् अथवा प्रज्ञावान बुद्ध — परमार्थदर्शी का ज्ञान धर्मों में — विषयान्तरों में संक्रमित नहीं होता अपितु सूर्य में प्रकाश की भाँति आत्मनिष्ठ रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण धर्म अर्थात् आत्मा भी ज्ञान के समान ही आकाश-सदृश होने के कारण कभी अर्थान्तर में संक्रमित नहीं होते अर्थात् नहीं जाते।

इस प्रकरण के आरम्भ में जिसका 'ज्ञानेनाकाशकल्पेन' इत्यादि श्लोक द्वारा उपन्यास किया गया है, आकाश-सदृश निरन्तर बोधवान् का— उससे अभिन्न होने के कारण — वही यह आकाश सदृश ज्ञान कभी अर्थान्तर में संक्रमित नहीं होता; और ऐसे ही धर्म भी है अर्थात् वे भी आकाश के समान अचल, अविक्रिय, निरवयव, नित्य, अद्वितीय, असङ्ग, अदृश्य, अग्राह्य और क्षुधा पिपासादि से रहित ब्रह्मत्व-तत्व ही है, जैसा कि "द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता" इस श्रुति से सिद्ध होता है।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित इस अद्वय परमार्थ तत्व का बुद्ध ने निरूपण नहीं किया, यद्यपि उसने बाह्य वस्तु का निराकरण और केवल ज्ञान की ही कल्पना — ये अद्वय वस्तु के समीपवर्ती ही विषय कहे हैं; तात्पर्य यह है कि इस अद्वैत परमार्थ-तत्व को तो वेदान्त का ही विषय जानना चाहिए।

जिसका कठिनता से दर्शन हो सकता है ऐसे दुर्दश अर्थात् अस्ति, नास्ति आदि चारों कोटियों से रहित होने के कारण दुर्विज्ञेय, अतएव अति गंभीर, मन्द बुद्धियों के लिए महा-समुद्र के समान दुष्प्रवेश्य तथा अजन्मा, साम्यरूप (निर्विशेष) और विशुद्ध ऐसे पद को भेदरहित जानकर तद्रूप हो और उस अव्यवहार्य पद को भी व्यवहार का विषय बनाकर हम उसको यथाबल— यथाशक्ति नमस्कार करते हैं।

8. तैत्तिरीय उपनिषद्भाष्य

ब्रह्म का लक्षण

(1) ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है — 'सत्यं, ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्म का लक्षण करने के लिए है। 'सत्य' आदि तीन पद विशेष्य ब्रह्म के विशेषण बतलाने के लिए है। वेद्यरूप से विवक्षित (बतलाये जाने को इष्ट) होने के कारण ब्रह्म विशेष्य है। क्योंकि ब्रह्म प्रधानतया वेद्य रूप से (ज्ञान के विषयरूप से) विवक्षित है, इसलिए उसे विशेष्य समझना चाहिए। अतः इस विशेषण-विशेष्य भाव के कारण एक ही विभक्ति वाले 'सत्य' आदि तीनों पद समानाधिकरण है। सत्य आदि तीन विशेषणों से विशेषित

होने वाल ब्रह्म अन्य विशेष्यों से पृथग्रूप से निश्चय किया जाता है। जिसका अन्य पदार्थों से पृथग्रूप से निश्चय किया गया है उसका इसी प्रकार ज्ञान हुआ करता है, जैसे लोक में 'नील', विशाल और सुगन्धित कमल — ऐसा कह कर ऐसे कमल का अन्य कमलों से पृथग्रूप से निश्चय किया जाता है।

शंका— अन्य विशेषणों का व्यावर्तन करने पर ही कोई विशेष विशेषित हुआ करता है, जैसे नीला अथवा लाल कमल। जिस समय अनेक द्रव्य एक ही जाति के और अनेक विशेषणों की योग्यता वाले होते हैं तभी विशेषणों की सार्थकता होती है। एक ही वस्तु में किसी अन्य विशेषण का सम्बन्ध न हो सकने के कारण, विशेषण की सार्थकता नहीं होती। जिस प्रकार यह सूर्य एक है उसी प्रकार ब्रह्म भी एक ही है, उसके सिवा अन्य ब्रह्म है ही नहीं जिनसे कि नील कमल के समान उसकी विशेषता बतलायी जाये।

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ये विशेषण लक्षण के लिए हैं। (अब इस सूत्ररूप वाक्य की ही व्याख्या करते हैं—) यह दोष नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि ये विशेषण लक्षणार्थ-प्रधान हैं, केवल विशेषण-प्रधान ही नहीं है। किन्तु लक्षण-लक्ष्य तथा विशेषण-विशेष्य में विशेषता (अन्तर) क्या हैं? सो बतलाते हैं — विशेषण तो अपने विशेष्य उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन करने वाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है, जिस प्रकार आकाश देने वाला 'आकाश' होता है — इस वाक्य में यह हम पहले ही कह चुके हैं कि यह वाक्य (आत्मा का) लक्षण करने के लिए है।

सत्यादि शब्द परार्थ (दूसरे के लिए) होने के कारण परस्पर संबंधित नहीं है। वे तो विशेष्यों के ही लिए हैं। अतः उनमें से प्रत्येक विशेषण शब्द परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर ही 'सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म', इस प्रकार ब्रह्म शब्द से संबंधित है।

सत्यम्– जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया गया है उससे व्यभिचारित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है। जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया गया है उस रूप से व्यभिचरित होने पर मिथ्या कहा जाता है। इसलिए विकार मिथ्या है। "विकार केवल वाणी से आरंभ होने वाला और नाम मात्र है, बस मृत्तिका ही सत्य है" इस प्रकार निश्चय किया जाने के कारण सत् ही सत्य है। अतः 'सत्यं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्म को विकार मात्र से निवृत्त करता है।

इससे ब्रह्म का कारणत्व प्राप्त होता है और वस्तु-रूप से होने से कारण में कारकत्व रहा करता है। अतः मृत्तिका के समान उसकी जड़-रूपता का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसी से 'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहा है। 'ज्ञान' ज्ञप्ति यानी अवबोध को कहते हैं। ज्ञान शब्द भाववाचक है, 'सत्य' और 'अनन्त' के साथ ब्रह्म का विशेषण होने के कारण उसका अर्थ 'ज्ञान-कर्त्ता' नहीं हो सकता। उसका ज्ञान कर्तृत्व

स्वीकार करने पर ब्रह्म की सत्यता और अनन्तता संभव नहीं है। ज्ञान कर्ता रूप से विकार को प्राप्त होने वाला होकर ब्रह्म सत्य और अनन्त कैसे हो सकता है? जो किसी से भी विभक्त नहीं होता वही अनन्त हो सकता है। ज्ञानकर्ता होने पर तो वह ज्ञेय और ज्ञान से विभक्त होगा, इसलिए उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकेगी। ''जहाँ किसी दूसरे को नहीं जानता वह भूमा है और जहाँ किसी दूसरे को जानता है वह अल्प है'' एक दूसरी श्रुति से यही सिद्ध होता है।

इस श्रुति में 'दूसरे को नहीं जानता' इस प्रकार विशेषण का प्रतिषेध होने के कारण वह स्वयं अपने को ही जानता है— ऐसी यदि कोई शंका करें तो ठीक नहीं, क्योंकि यह वाक्य भूमा के लक्षण का विधान करने में तत्पर है। अन्य अन्य को देखता है — इस लोक-प्रसिद्ध वस्तु-स्थिति को स्वीकार कर 'जहाँ ऐसा नहीं है वह भूमा है' — इस प्रकार उसके द्वारा भूमा के स्वरूप का बोध कराया जाता है। 'अन्य' शब्द का ग्रहण तो यथा प्राप्त द्वैत का प्रतिषेध करने के लिए है, अतः यह वाक्य अपने में क्रिया का अस्तित्व प्रतिपादन करने के लिए नहीं है। और स्वात्मा में तो भेद का अभाव होने के कारण उसका विज्ञान होना संभव ही नहीं है। आत्मा का विज्ञेयत्व स्वीकार करने पर तो ज्ञाता के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है, क्योंकि वह तो विज्ञेय-रूप से ही विनियुक्त (प्रयुक्त) हो चुका है। (अब उसे ज्ञाता कैसे माना जाये?)

शंका — एक ही आत्मा ज्ञेय और ज्ञाता दोनों प्रकार से हो सकता है — ऐसा मानें तो?

समाधान — नहीं, वह अंश-रहित होने के कारण एकसाथ उभय-रूप नहीं हो सकता। निरवयव ब्रह्म का एकसाथ ज्ञेय और ज्ञाता होना सम्भव नहीं है। इसके सिवा यदि आत्मा घटादि के समान विज्ञेय हो तो ज्ञान के उपदेश की व्यर्थता हो जायेगी। जो वस्तु घटादि के समान प्रसिद्ध है उसके ज्ञान का उपदेश सार्थक नहीं हो सकता। अतः उसका ज्ञातृत्व मानने पर उसकी अनन्तता नहीं रह सकती। ज्ञान कर्तृत्वादि विशेष से युक्त होने पर उसका सन्मात्रत्व भी सम्भव नहीं है। और ''वह सत्य है'' इस एक अन्य श्रुति से उसका सत्व रूप होना ही सन्मात्रत्व है। अतः 'सत्य' और 'अनंत' शब्दों के साथ विशेषण रूप से 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग किया जाने के कारण वह भाववाचक है। अतः 'ज्ञानं ब्रह्म' इस विशेषण का उसके कर्तृत्वादि कारकों की निवृत्ति के लिए तथा मृत्तिका आदि के समान उसकी जड़रूपता की निवृत्ति के लिए प्रयोग किया जाता है। 'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहने से ब्रह्म का अन्तवत्व प्राप्त होता है, क्योंकि लौकिक ज्ञान अन्तवान् ही देखा गया है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए 'अनन्तम्' ऐसा कहा है।

शंका— सत्यादि शब्द तो अनृतादि धर्मों की निवृत्ति के लिए हैं और उनका विशेष्य ब्रह्म कमल आदि के समान प्रसिद्ध नहीं है, अतः मृगतृष्णा के जल में स्नान करके सिर पर आकाश-कुसुम का मुकुट धारण किये तथा हाथ में शशशृङ्ग का

धनुष लिए यह वन्ध्या का पुत्र जा रहा है'' इस उक्ति के समान इस 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य की शून्यार्थता ही प्राप्त होती है।

समाधान — नहीं, क्योंकि वे (सत्यादि) लक्षण करने के लिए हैं। सत्यादि शब्द विशेषण होने पर उनका प्रधान प्रयोजन लक्षण के लिए होना ही है— यह हम पहले ही कह चुके हैं। यदि लक्ष्य शून्य हो तब तो उसका लक्षण बतलाना भी व्यर्थ ही होगा। अतः लक्षणार्थ होने के कारण उनकी शून्यार्थता नहीं है — ऐसा हम मानते हैं। विशेषण के लिए होने पर भी सत्यादि शब्द के अपने अर्थ का त्याग तो होता ही नहीं है। यदि सत्यादि शब्दों की शून्यार्थता हो तो वे अपने विशेष्य के नियन्ता है — ऐसा नहीं माना जा सकता। सत्यादि अर्थों से अर्थवान् होने पर ही उनके द्वारा अपने से विपरीत धर्मवाले विशेष्यों से अपने विशेष्य ब्रह्म का नियन्तृत्व बन सकता है। ब्रह्म 'शब्द' भी अपने अर्थ से अर्थवान् ही है। उन (सत्यादि तीन शब्दों) में 'अनन्त' शब्द उसके अन्तवत्व का प्रतिषेध करने के द्वारा उसका विशेषण होता है तथा 'सत्य' और 'ज्ञान' शब्द तो अपने अर्थों के समर्पण द्वारा ही उसके विशेषण होते हैं।

शंका— इस प्रकार आत्मा होने से तो उसका ज्ञान-कर्तृत्व सिद्ध होता है। 'आत्मा ज्ञाता है' यह बात तो प्रसिद्ध ही है। ''उसने कामना की'' इस श्रुति से कामना करने वाले के ज्ञान-कर्तृत्व की सिद्धि होती है। अतः ब्रह्म का ज्ञान-कर्तृत्व निश्चित होने के कारण 'ब्रह्म ज्ञप्तिमात्र है' ऐसा कहना अनुचित है।

इसके सिवा ऐसा मानने से अनित्यत्व का प्रसंङ्ग भी उपस्थित होता है। यदि ज्ञान 'ज्ञप्ति को कहते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म की भाव-रूपता मानी जाये तो भी उसके अनित्यत्व और पारतन्त्र्य का प्रसंङ्ग उपस्थिति हो जाता है, क्योंकि धातुओं के अर्थ कारकों की अपेक्षा वाले हुआ करते हैं। ज्ञान भी धातु का अर्थ है, अतः इसकी भी अनित्यता और परतंत्रता सिद्ध होती है।

समाधान — ऐसी बात नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न है, इस कारण उसका कार्यत्व केवल उपचार से है। आत्मा का स्वरूप जो 'ज्ञप्ति' है वह उससे व्यतिरिक्त नहीं है। अतः वह (ज्ञप्ति) नित्य ही है। तथापि चक्षु आदि के द्वारा विषय-रूप में परिणत होने वाली उपाधिरूप बुद्धि की जो शब्दादिरूप प्रतीतियाँ हैं वे आत्म-विज्ञान की विषयभूत होकर उत्पन्न होती हुई आत्म-विज्ञान से व्याप्त ही उत्पन्न होती है [अर्थात् अपनी उत्पत्ति के समय उन प्रतीतियों में तो आत्म-विज्ञान से प्रकाशित होने की योग्यता रहती है और आत्म-विज्ञान उन्हें प्रकाशित करता रहता है]। अतः वे धातुओं की अर्थभूत एवं 'विज्ञान' शब्द-वाच्य आत्म-विज्ञान की प्रतीतियां आत्मा का ही विकार-रूप धर्म है— ऐसी अविवेकियों द्वारा कल्पना की जाती है।

किन्तु उस ब्रह्म का जो विज्ञान है वह सूर्य के प्रकाश तथा अग्नि की उष्णता के समान ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप ही है; उसे किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वह नित्य स्वरूप है। तथा उस ब्रह्म से सम्पूर्ण भावपदार्थों के देश-काल अभिन्न हैं, और वह काल तथा आकाशादि का भी कारण

एवं निरतिशय सूक्ष्म है, अतः ऐसी कोई सूक्ष्म, व्यवहित (व्यवधान वाली), विप्रकृष्ट (दूर) तथा भूत, भविष्यत् या वर्तमान वस्तु नहीं है जो उसके द्वारा जानी न जाती हो, इसलिए वह ब्रह्म सर्वज्ञ है।

"वह बिना हाथ-पांव के ही वेग से चलने और ग्रहण करने वाला है, बिना नेत्र के ही देखता है और बिना कान के ही सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद्य मात्र को जानता है, उसे जानने वाला और कोई नहीं है, उसे सर्व प्रथम परम पुरुष कहा गया है।" इस मन्त्रवर्ण से तथा "अविनाशी होने के कारण विज्ञाता के ज्ञान का कभी लोप नहीं होता और उससे भिन्न कोई दूसरा भी नहीं है [जो उसे देखे]" श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है। अपने विज्ञातृ-स्वरूप से अभिन्न तथा इन्द्रियादि साधनों की अपेक्षा से रहित होने के कारण ज्ञान-स्वरूप होने पर भी ब्रह्म का नित्यत्व भली प्रकार सिद्ध ही है। अतः क्रिया रूप न होने के कारण वह (ज्ञान) धातु का अर्थ भी नहीं है।

इसलिए वह ज्ञान-कर्ता भी नहीं है और इसी से वह ब्रह्म 'ज्ञान' शब्द का वाच्य भी नहीं है। तो भी ज्ञानाभास के वाचक तथा बुद्धि के धर्म-विषयक 'ज्ञान' शब्द से वह लक्षित होता कहा नहीं जाता, क्योंकि वह शब्द के प्रवृत्ति-हेतु-भूत जाति आदि धर्मों से रहित है। इसी प्रकार 'सत्य' शब्द से भी [उसको लक्षित ही किया जा सकता है]। ब्रह्म का स्वरूप सम्पूर्ण विशेषणों से शून्य है, अतः वह सामान्यतः सत्ता ही जिसका विषय — अर्थ है ऐसे 'सत्य' शब्द से 'सत्यं ब्रह्म' इस प्रकार केवल लक्षित होता है— ब्रह्म 'सत्य' शब्द का वाच्य नहीं है।

इस प्रकार ये सत्यादि शब्द एक-दूसरे की सन्निधि से एक-दूसरे के नियम्य और नियामक होकर सत्यादि शब्दों के वाच्यार्थ से ब्रह्म को अलग रखने वाले और उसका लक्षण करने में उपयोगी होते हैं। अतः "जहाँ से मन के सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है," "न कहने योग्य और अनाश्रित में" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ब्रह्म का सत्यादि शब्दों का अवाच्यत्व और नील कमल के समान अवाक्यार्थत्व सिद्ध होता है।

2. मोक्ष साधन की मीमांसा

अब विद्या और कर्म का विवेक [अर्थात् इन दोनों का फल भिन्न-भिन्न है — इसका निश्चय] करने के लिए यह विचार किया जाता है कि (1) क्या परम श्रेय की प्राप्ति केवल कर्म से होती है, (2) अथवा विद्या की अपेक्षायुक्तत कर्म से (3) किंवा परस्पर मिले हुए विद्या और कर्म दोनों से (4) अथवा कर्म की अपेक्षा रखने वाली विद्या से (5) या केवल विद्या से ही?

उनमें [पहला पक्ष यह है कि] केवल कर्मों से ही परम श्रेय की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि "द्विजाति को रहस्य के सहित सम्पूर्ण वेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए" ऐसी स्मृति होने से सम्पूर्ण वेद का ज्ञान रखने वाले को ही कर्म का अधिकार है और वेद का ज्ञान उपनिषद् के अर्थभूत आत्म-ज्ञानादि के सहित ही हो सकता है। "विद्वान्

यज्ञ करता है", "विद्वान् यज्ञ कराता है" इत्यादि वाक्यों से सर्वत्र विद्वान् का ही कर्म में अधिकार दिखलाया गया है; तथा "जानकर कर्मानुष्ठान करे" ऐसा भी कहा है। कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद कर्म के ही लिए हैं, और यदि कर्मों से ही परम श्रेय की प्राप्ति न हुई तो वेद भी व्यर्थ हो जायेगा।

सिद्धान्ती — ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष का नित्यत्व है — मोक्ष नित्य ही माना गया है। और जो वस्तु कर्म का कार्य है उसकी अनित्यता लोक में प्रसिद्ध है। यदि नित्य श्रेय कर्मों से होता है ऐसा मानें तो इष्ट नहीं है, क्योंकि इसका "जिस प्रकार यह कर्मोपार्जित लोक क्षीण होता है उसी प्रकार पुण्यार्जित परलोक भी क्षीण हो जाता है" इस न्याययुक्ता श्रुति से विरोध है।

पूर्व. — काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों का आरम्भ न करने से, प्रारब्ध कर्मों का भोग से ही क्षय हो जाने से तथा नित्य कर्मों के अनुष्ठान के कारण प्रत्यवाय की उत्पत्ति न होने से मोक्ष ज्ञान की अपेक्षा से रहित ही है — यदि ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात भी नहीं है, शेष (संचित) कर्मों के रह जाने से उनके कारण अन्य शरीर की उत्पत्ति सिद्ध होती है— इस प्रकार हम इसका पहले खंडन कर चुके हैं, तथा नित्य कर्मों के अनुष्ठान से संचित कर्मों का विरोध न होने के कारण उनका क्षय होने संभव नहीं है।

और यह जो कहा कि समस्त वेद के अर्थ को जानने वाले को ही कर्म का अधिकार होने के कारण [केवल कर्म से ही निश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है] सो भी ठीक नहीं क्योंकि उपासना श्रुत ज्ञान (गुरुकुल में किए हुए वाक्यविचार) से भिन्न ही है। मनुष्य श्रुत ज्ञान मात्र से ही कर्म का अधिकारी हो जाता है, इसके लिए वह उपासना की अपेक्षा नहीं रखता। उपासना तो श्रुत ज्ञान से भिन्न वस्तु ही बतलाई गयी है। यह उपासना मोक्षरूप फल वाली और अर्थान्तर रूप से प्रसिद्ध है; क्योंकि 'श्रोतव्यः' ऐसा कहकर [मनन और निदिध्यासन के लिए] 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' — इस प्रकार पृथक् यत्नान्तर का विधान किया है। लोक में भी श्रवण-ज्ञान से मनन और निदिध्यासन का अर्थान्तरत्व प्रसिद्ध ही है।

पूर्व. — इस प्रकार तब तो विद्या की अपेक्षा से युक्त कर्मों द्वारा ही मोक्ष हो सकता है। जो कर्म-ज्ञान के सहित होते हैं उनमें कार्यान्तर के आरम्भ का सामार्थ्य हो सकता है, जिस प्रकार की स्वयं मरण और ज्वरादि कार्यों के आरम्भ में समर्थ होने पर भी विष एवं दधि आदि में मंत्र और शर्करादि से युक्त होने पर कार्यान्तर के आरम्भ का सामर्थ्य हो जाता है, इसी प्रकार विद्या-सहित कर्मों से मोक्ष का आरम्भ हो सकता है— यदि ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती — नहीं, जो वस्तु आरम्भ होने वाली होती है वह अनित्य हुआ करती है — इस प्रकार इस पक्ष का दोष बतलाया जा चुका है।

पूर्व. — किन्तु ['न स पुनरावर्तते' इत्यादि] वचन से तो आरम्भ होने वाला मोक्ष भी नित्य ही होता है?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि वचन तो केवल ज्ञापक है, यथार्थ अर्थ को बतलाने वाले का ही नाम 'वचन' है। वह किसी अविद्यमान पदार्थ को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। सैकड़ों वचन होने पर भी नित्य वस्तु का आरम्भ नहीं किया जा सकता और न आरम्भ होने वाली वस्तु अविनाशी ही हो सकती है। इससे समुचित विद्या और कर्म के मोक्षारम्भकत्व का प्रतिषेध कर दिया गया।

विद्या और कर्म — ये दोनों मोक्ष के प्रतिबन्धक हेतुओं को निवृत्त करने वाले हैं [मोक्ष के स्वरूप को उत्पन्न करने वाले नहीं है; अतः जिस प्रकार प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है उसी प्रकार उन प्रतिबंधों की निवृत्ति भी नित्य ही होगी] — यदि ऐसा कहो तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्मों का तो अन्य ही फल देखा गया है। उत्पत्ति, संस्कार, विकार और आप्ति — ये कर्म के फल देखे गये हैं। किन्तु मोक्ष उत्पत्ति आदि फल से विपरीत है।

पूर्व. — गति-प्रतिपादिका श्रुतियों से मोक्ष आप्य सिद्ध होता है — "सूर्य द्वार से", "उस सुषुम्ना नाडी द्वारा उर्ध्व लोकों को जाने वाला" आदि गति प्रतिपादिका श्रुतियों से जाना जाता है कि मोक्ष प्राप्य है।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत, गमन करने वालों से अभिन्न और आकाशादि का भी कारण होने से सर्वगत है तथा सम्पूर्ण विज्ञानात्मा से अभिन्न है, इसलिए मोक्ष आप्य नहीं है। गमन करने वाले से पृथक् अन्य देश में ही गमन करने योग्य हुआ करता है। जो जिसमें अभिन्न होता है उसी से वह गन्तव्य नहीं होता। और उसकी अनन्यता तो "उसे रचकर वह उसी में प्रविष्ट हो गया" सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको ही जान" इत्यादि सैकड़ों श्रुति स्मृतियों से सिद्ध होती है।

पूर्व. — [ऐसा मानने से तो] गति और ऐश्वर्य का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरोध होगा। — अच्छा, यदि मोक्ष अप्राप्य ही हो तो भी गति-श्रुति तथा "वह एकरूप होता है", "वह यदि पितृ-लोक की इच्छा वाला होता है", वह स्त्री और यानों के साथ रमण करता है" इत्यादि श्रुतियों का (बोध) हो जाता है।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि वे तो कार्य-ब्रह्म से संबंध रखने वाली है। स्त्री आदि तो कार्य-ब्रह्म में ही हो सकती है, कारण ब्रह्म में नहीं, जैसा कि "एक ही अद्वितीय ब्रह्म", "जहाँ कोई और नहीं देखता, "तब किसके द्वारा किसे देखें" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

इसके सिवा विद्या और कर्म का विरोध होने के कारण भी उनका समुचय नहीं हो सकता। जिसमें कर्ता— कारण आदि विशेषों का पूर्णतया लय होता है उस तत्व को (ब्रह्म को) विषय करने वाली विद्या अपने से विपरीत साधन-साध्य कर्म से विरुद्ध है। एक ही वस्तु परमार्थतः कर्ता आदि विशेष से युक्त और उससे रहित-दोनों ही प्रकार से नहीं देखी जा सकती। उनमें से एक-एक पक्ष अवश्य मिथ्या होना चाहिए। इस प्रकार किसी एक के मिथ्यात्व का प्रसंग उपस्थित होने पर जो स्वभाव से ही अज्ञान का विषय

है उस द्वैत का ही मिथ्या होना उचित है, जैसा कि "जहाँ द्वैत के समान होता है", "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" जहाँ अन्य देखता है वह अल्प है", "यह अन्य है, मैं अन्य हूँ" जो थोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे भय प्राप्त होता है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से प्रमाणित होता है।

तथा "एकरूप से ही देखना चाहिए", "एक ही अद्वितीय", "यह्न सब ब्रह्म ही है", "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियों से एकत्व की सिद्धि होती है। सम्प्रदान आदि कारक-भेद के दिखाई न देने पर कर्म होना संभव भी नहीं है। ज्ञान के प्रसंग में भेद-दृष्टि के अपवाद तो सहस्त्रों सुनने में आते हैं। अतः विद्या और कर्म का विरोध है, इसलिए भी उनका समुच्चय होना असम्भव है। ऐसी दशा में पूर्व में तुमने जो कहा था कि परस्पर मिले हुए विद्या और कर्म दोनों से मोक्ष होता है वह सिद्ध नहीं होता।

पूर्व. — कर्म भी श्रुति विहित है, अतः ऐसा मानने पर श्रुति से विरोध उपस्थित होता है। यदि सर्पादि भ्रान्तिजनित ज्ञान का बाध करने वाले रज्जु आदि विषयक ज्ञान के समान कर्ता आदि कारक विशेष का बाध करके ही आत्मैकत्व के ज्ञान का विधान किया जाता है तो कोई विषय न रहने के कारण कर्म का विधान करने वाली श्रुतियों का उन (विद्या का विधान करने वाली श्रुतियों) से विरोध उपस्थित होता है, और कर्मों का विधान किया भी गया है तथा सभी श्रुतियाँ प्रमाण भूत है इसलिए पूर्वोक्त विरोध का होना उचित नही है — यदि ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि श्रुतियाँ परम पुरुषार्थ का उपदेश करने में प्रवृत्त हैं। श्रुति ज्ञान का उपदेश करने में तत्पर है। उसे संसार से पुरुष का मोक्ष कराना है, इसके लिए संसार की हेतुभूत अविद्या की विद्या के द्वारा निवृत्ति करना आवश्यक है, अतः वह विद्या का प्रकाश करने वाली होकर प्रवृत्त हुई है। इसलिए ऐसा मानने के कोई विरोध नहीं आता।

पूर्व. — किन्तु ऐसा मानने पर भी तो कर्तादि कारक की सत्ता का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का तो उससे विरोध होता ही है?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है। स्वभावतः प्राप्त कारकों के अस्तित्व को स्वीकार कर सञ्चित पापों के क्षय के लिए कर्मों का विधान करने वाला शास्त्र मुमुक्षुओं और फल की इच्छा वालों को [उनके इष्ट] फल की प्राप्ति कराने का साधन है; वह कारकों का अस्तित्व सिद्ध करने में प्रवृत्त नहीं है। जिस पुरुष का सञ्चित पापरूप प्रतिबन्ध विद्यमान रहता है उसे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसका क्षय हो जाने पर ही ज्ञान होता है और तभी अविद्या की निवृत्ति होती है तथा उसके अनन्तर ही संसार की आत्यन्तिक उपरति होती है।

इसके सिवा जो पुरुष अनात्मदर्शी है उसे ही अनात्मवस्तु-संबंधिनी कामना हो सकती है,कामना वाला ही कर्म करता है और उसी से उनका फल भोगने के लिए उसे शरीरादि ग्रहण-रूप संसार की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जो

आत्मैकत्वदर्शी है उसकी दृष्टि में विषयों का अभाव होने के कारण उसे उनकी कामना भी नहीं हो सकती। आत्मा तो अपने से अभिन्न है इसलिए उसकी कामना भी असम्भव होने के कारण उसे स्वात्मस्वरूप में स्थित होना रूप मोक्ष सिद्ध ही है। इसलिए भी ज्ञान और कर्म का विरोध है और विरोध होने के कारण ज्ञान मोक्ष के प्रति कर्म की अपेक्षा नहीं रखता है।

हां, आत्मलाभ में पूर्व संचित पापरूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति द्वारा नित्य कर्म ज्ञान-प्राप्ति के हेतु अवश्य होते हैं। इसलिए इस प्रकरण में कर्मो का उल्लेख किया गया है — यह हम पहले ही कह चुके हैं। इस प्रकार भी कर्म का विधान करने वाली श्रुतियों का [विद्या-विधायिनी श्रुतियों से] विरोध नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि केवल विद्या से ही परम श्रेय की प्राप्ति होती है।

पूर्व. — यदि ऐसी बात है तब तो [गृहस्थाश्रम के सिवा] अन्य आश्रमों का होना भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि विद्या की उत्पत्ति तो कर्म के निमित्त से होती है और कर्मों का विधान केवल गृहस्थ के ही लिए किया गया है। अतः इससे एकाश्रमत्व की ही सिद्ध होती है। और इसलिए 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करें' इत्यादि श्रुतियां और भी अनुकूल ठहरती है।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कर्म तो अनेक हैं। केवल अग्निहोत्र आदि ही कर्म नहीं है। ब्रह्मचर्य, तप, सत्य, भाषम, शम, दम और अहिंसा आदि अन्य कर्म भी इतर आश्रमों के लिए प्रसिद्ध ही है। वे तथा ध्यान-धारणादि रूप कर्म [हिंसा आदि दोषों से] असंकीर्ण होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति में सर्वोत्तम साधन हैं। आगे (भृगु वल्ली2/5 से) यह कहेंगे भी कि "तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा कर"।

जन्मान्तर में किए हुए कर्मों से तो गृहस्थाश्रम स्वीकार करने के पूर्व भी ज्ञान की उत्पत्ति होना संभव है। तथा गृहस्थाश्रम की स्वीकृति केवल कर्मों के ही लिए की जाती है। अतः कर्म-साध्य ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर तो गृहस्थाश्रम की स्वीकृति भी व्यर्थ ही है।

इसके सिवा पुत्रादि साधनों से सिद्ध होने वाले उन इहलोक, पितृलोक एवं देवलोक आदि से जिसकी कामना निवृत्ति हो गयी है, नित्य सिद्ध आत्मा का साक्षात्कार करने वाले एवं कर्मों में कोई प्रयोजन न देखने वाले उस ब्रह्मवेत्ता की कर्मों में कैसे प्रवृत्ति हो सकती है? जिसने गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया है उसे भी, जब ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान के परिपाक से विषयों में वैराग्य होता है तो कर्मों में अपना कोई प्रयोजन न देख कर उनसे निवृत्ति ही होगी। इस विषय में "अरी मैत्रेपि! अब मैं इस स्थान से संन्यास करना चाहता हूँ" इत्यादि श्रुतिरूप लिङ्ग भी देखा जाता है।

पूर्व. — किन्तु कर्म के प्रति श्रुति का अधिक प्रयत्न देखने से तो यह बात ठीक नहीं जान पड़ती? अग्निहोत्रादि कर्म के प्रति श्रुति का विशेष प्रयत्न है;

कर्मानुष्ठान में आयास भी अधिक है; क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म अनेक साधनों से सिद्ध होने वाले हैं। अन्य आश्रमों के कर्म तप और ब्रह्मचर्यादि तो गृहस्थाश्रम में भी उन्हीं के समान कर्तव्य तथा अल्प साधन की अपेक्षा वाले हैं, अतः अन्य आश्रमियों के साथ गृहस्थाश्रम को समान-सा मानना तो उचित नहीं है?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि उन पर जन्मांतर का अनुग्रह होता है। तुमने जो कहा कि 'कर्म पर श्रुति का विशेष प्रयत्न है इत्यादि' सो यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जन्मान्तर में किया हुआ भी अग्निहोत्रादि तथा ब्रह्मचर्यादि रूप कर्म ज्ञान की उत्पत्ति में उपयोगी होता है, जिससे कि कोई लोग जन्म से ही विरक्त देखे जाते हैं और कोई कर्म में तत्पर, वैराग्य-शून्य एवं ज्ञान को विरोधी दीख पड़ते हैं। अतः जन्मान्तर के संस्कारों के कारण जो विरक्त हैं उन्हें तो [गृहस्थाश्रम से भिन्न] अन्य आश्रमों को स्वीकार करना ही इष्ट होता है।

कर्मफलों की अधिकता होने के कारण भी [श्रुति में उनका विशेष विस्तार है]। पुत्र, स्वर्ग एवं ब्रह्म-तेज आदि कर्म-फल असंख्ये होने के कारण और उनके लिए पुरुषों की कामनाओं की अधिकता होने से भी कर्मों के प्रति श्रुति का अधिक यत्न होना उचित ही है, क्योंकि "मुझे यह मिले" इस प्रकार कामनाओं की बहुलता भी देखी ही जाती है।

उपायरूप होने के कारण भी [श्रुति का उनमें विशेष प्रयत्न है]। कर्म ज्ञानोत्पत्ति में उपाय-रूप है — ऐसा हम पहले कह चुके हैं; तथा प्रयत्न उपाय में ही अधिक करना चाहिए, उपेय में नहीं।

पूर्व. — ज्ञान कर्म के निमित्त से होने वाला है, इसलिए भी अन्य प्रयत्न की निरर्थकता सिद्ध होती है। यदि कर्मों के द्वारा ही पूर्व संचित पाप-रूप प्रतिबंध का क्षय होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो कर्मों से भिन्न उपनिषद्-श्रवणादि विषयक प्रयत्न व्यर्थ ही है। ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है। 'ज्ञान की उत्पत्ति' प्रतिबन्ध के क्षय से ही होती है, ईश्वर-कृपा, तप एवं ध्यानादि के अनुष्ठान से नहीं हो सकती, ऐसा कोई नियम नही है; क्योंकि अहिंसा और ब्रह्मचर्यादि भी ज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी हैं तथा श्रवण, मनन निदिध्यासनादि तो उसके साक्षात् कारण ही हैं। अतः अन्य श्रमों का होना सिद्ध ही है तथा ज्ञान में सभी आश्रमियों का अधिकार है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परम श्रेय की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है।

3. ब्रह्म के अस्तित्व में प्रमाण

इससे यह आशंका की जाती है कि ब्रह्म असत् ही है। ऐसा क्यों है? क्योंकि जो वस्तु होती है वह विशेष रूप से उपलब्ध हुआ करती है, जैसे घट आदि। और जो नहीं है उसकी उपलब्धि भी नहीं होती, जैसे शशशृंगादि। इसी प्रकार ब्रह्म की भी उपलब्धि नहीं होती। अतः विशेष रूप से ग्रहण न किया जाने के कारण वह है ही नहीं।

ऐसी बात नही है, क्योंकि ब्रह्म आकाशादि का कारण है। ब्रह्म नहीं है — ऐसी बात नहीं है। क्यों नही है? क्योंकि ब्रह्म से उत्पन्न हुआ आकाशादि सम्पूर्ण कार्यवर्ग देकने में आता है। जिससे किसी वस्तु का जन्म होता है वह पदार्थ होता ही है — ऐसा लोक में देखा गया है; जैसे घट और अंकुरादि के कारण मृत्तिका एवं बीज आदि। अतः आकाशादि का कारण होने से ब्रह्म है ही।

लोक में असत् से उत्पन्न हुआ कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता। यदि नाम रूपादि कार्यवर्ग असत् से उत्पन्न हुआ होता तो वह निराधार होने के कारण ग्रहण ही नहीं किया जा सकता था। किन्तु वह ग्रहण किया जाता है; इसलिए ब्रह्म है ही। यदि यह कार्य वर्ग असत् से उत्पन्न हुआ होता तो ग्रहण किये जाने पर भी असदात्मक ही ग्रहण किया जाता। किन्तु ऐसी बात नही है। इसलिए ब्रह्म है ही। इसी संबंध में "असत् और सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है" ऐसी एक अन्य श्रुति ने युक्तिपूर्वक असत् से सत् का जन्म होना असम्भव बतलाता है। इसलिए ब्रह्म सत् ही है — यही मत ठीक है।

शङ्का — यदि ब्रह्म मृत्तिका और बीज आदि के समान [जगत् का उपादान] कारण है तो उसे अचेतन होना चाहिए।

समाधान— नहीं, क्योंकि वह कामना करने वाला है। लोक में कोई भी कामना करने वाला अचेतन नहीं हुआ करता। ब्रह्म सर्वज्ञ है— यह हम पहले कह चुके हैं। अतः उसका कामना करना युक्त भी है।

शंका— कामना करने वाला होने से तो वह हमारी-तुम्हारी तरह अनाप्त काम (अपूर्ण कामना वाला) सिद्ध होगा।

समाधान — ऐसा बात नहीं है, क्योंकि वह स्वतंत्र है। जिस प्रकार काम आदि दोष अन्य जीवों को विवश करके प्रवृत्त करते हैं उस प्रकार वे ब्रह्म के प्रवर्तक नहीं है। तो वे कैसे हैं? वे सत्य-ज्ञान स्वरूप एवं स्वात्मभूत होने के कारण विशुद्ध हैं। उनके द्वारा ब्रह्म प्रवृत्त नही किया जाता; बल्कि जीवों के प्रारब्ध-कर्मों की अपेक्षा से वह ब्रह्म ही उनका प्रवर्तक है। अतः कामनाओं के करने में ब्रह्म की स्वतंत्रता है। इसलिए ब्रह्म अनाप्तकाम नहीं है।

किन्हीं अन्य साधनों की अपेक्षा वाला न होने से भी कामनाओं के विषय में ब्रह्म की स्वतंत्रता है। जिस प्रकार धर्मादि कारणों की अपेक्षा रखने वाली अन्य जीवों की अनात्मभूत कामनाएं अपने आत्मा से अतिरिक्त देह और इन्द्रिय रूप अन्य साधनों की अपेक्षा वाली होती है उस प्रकार ब्रह्म को निमित्त आदि की अपेक्षा नहीं होत। तो ब्रह्म की कामनाएं कैसी होती हैं? वे स्वात्मा से अभिन्न होती है।

उसी के विषय में श्रुति कहती है — उसने कामना की — उस आत्मा ने, जिससे आकाश उत्पन्न हुआ, कामना की। किस प्रकार कामना की? मैं बहुत अधिक रूप में हो जाऊं। अन्य पदार्थ में प्रवेश किए बिना ही एक वस्तु की बहुलता कैसे हो सकती है? इस पर कहते हैं — 'प्रजायेय' अर्थात् उत्पन्न होऊं। यह ब्रह्म का

होना पुत्र की उत्पत्ति के समान अन्य वस्तु विषयक नहीं है। तो फिर कैसा है? अपने में अव्यक्त रूप से स्थित नाम — रूपों की अभिव्यक्ति के द्वारा ही [यह अनेक रूप होना है]। जिस समय आत्मा में स्थित अव्यक्त नाम और रूपों को व्यक्त किया जाता है उस समय वे अपने स्वरूप का त्याग किो बिना ही समस्त अवस्थाओं में ब्रह्म से अभिन्न देश और काल में ही व्यक्त किये जाते हैं। यह नाम-रूप का व्यक्त करना ही ब्रह्म का बहुत अथवा अल्प होना संभव नहीं है, जिस प्रकार आकाश का अल्पत्व और बहुत्व भी अन्य वस्तु के ही अधीन है [उसी प्रकार ब्रह्म का भी है]। अतः उन (नाम-रूपों के द्वारा ही ब्रह्म बहुत हो जाता है)।

आत्मा से भिन्न अनात्मभूत था उससे भिन्न देश-काल में रहने वाली कोई भी सूक्ष्म, व्यवहित (ओट वाली), दूरस्थ अथवा भूत, वर्तमान या भविष्यकालीन वस्तु नहीं है। अतः सम्पूर्ण अवस्थाओं से संबंधित नाम और रूप ब्रह्म से ही आत्मवान् है, किन्तु ब्रह्म तद्रूप नहीं है। ब्रह्म का निषेध करने पर वे रह ही नहीं सकते, इसी से वे तद्रूप कहे जाते हैं। उपाधियों से ही ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान – इन शब्दों का तथा इनके अर्थ आदि सब प्रकार के व्यवहार का पात्र बनता है।

9. छान्दोग्य-उपनिषद्-भाष्य

(1) उपासना का महत्व — "ओमित्येतदक्षरम्" इत्यादि मंत्र से आरम्भ होने वाला यह आठ अध्यायों का ग्रन्थ छन्दोग्य उपनिषद् है। उसका संक्षेपतः अर्थ जानने की इच्छा वालों के लिए इस छोटे से ग्रन्थ के रूप में उसकी सरल व्याख्या आरम्भ की जाती है।

कर्म काण्ड के साथ इसका संबंध इस प्रकार — [पूर्वकाण्ड में विहित और निषिद्ध रूप से] जाना हुआ समस्त कर्म प्राणादि देवताओं के विज्ञान के सहित अनुष्ठान किए जाने पर अर्चिरादि (देवयान) मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण होता है तथा केवल (उपासना से असमुचित) कर्म धूमादि मार्ग से चंद्रलोक की प्राप्ति का हेतु होता है। इन दोनों मार्गों से पतित जो स्वभावानुसार प्रवृत्त होने वाले होते हैं उनकी कष्टमयी अधोगति बतलाई गयी है।

इन दोनों मार्गों में से किसी भी एक मार्ग पर रहने से आत्यन्तिक पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः संसार की [उपर्युक्त] विविध गतियों के हेतुभूत कर्म का निराकरण करते हुए कर्म की अपेक्षा से रहित अद्वैत-आत्मज्ञान का प्रतिपादन करना है, इसी उद्देश्य से इस उपनिषद् का आरम्भ किया जाता है।

अद्वैतात्मविज्ञान के बिना और किसी प्रकार आत्यन्तिक कल्याण की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जैसा कि आगे कहेंगे भी — "जो लोग इस (अद्वैतात्म ज्ञान) से भिन्न प्रकार से जानते हैं वे अन्य राजा के अधीन होकर [अर्थात् पर ब्रह्म को प्राप्त न होने के कारण परतंत्र होकर] क्षीण होने वाले लोकों को प्राप्त होते हैं।" किन्तु इसके विपरीत होने पर [श्रुति कहती है कि] "वह स्वराट् होता है।"

इसी प्रकार तपे हुए परशु को ग्रहण करने से चोर के जलने और बंधन में पड़ने के समान द्वैत विषय रूप मिथ्या में अभिनिवेश, रखने वाले पुरुष का बंधन होता है तथा उसे सांसारिक दुखों की प्राप्ति होती है — यह बतलाकर [श्रुति] अद्वैत आत्मा-रूप परम सत्य में प्रतीति रखने वाले पुरुष को जो पुरुष चोर नहीं है उसके तप्त परशु ग्रहण करने पर दाह और बंधन न होने के समान, संसार दुख की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति बतलायेगी।

इसी से [अर्थात् कर्म और ज्ञान दोनों विरुद्ध फल वाले हैं — ऐसा निश्चय होने के कारण ही] अद्वैतात्म दर्शन कर्म के साथ होने वाला नही है। क्योंकि क्रिया, कारक और फल रूप भेद का बाध करके सत् [ब्रह्म] एक और अद्वितीय है, "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि प्रकार के वाक्यों से उत्पन्न होने वाले अद्वैत आत्मज्ञान का कोई बाधक प्रत्यय होना संभव नही है। यदि कहो कि कर्मविधि विषयक ज्ञान ही [उसका बाधक है] तो ऐसा होना भी संभव नही है, क्योंकि जो अपने को स्वभाव से ही कर्ता-भोक्ता रूप जानता है और उससे होने वाले कर्म फल में राग-द्वेष रूप दोनों से युक्त है उसी के लिए कर्म का विधान किया गया है।

शङ्का — जो सम्पूर्ण वेदार्थ को जानने वाला है उसी के लिए कर्म का विधान किया गया है, इसलिए अद्वैतात्मज्ञानी को भी तो कर्म करना ही चाहिए?

समाधान — नहीं, क्योंकि कर्म के अधिकारी से संबंध रखने वाला कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि रूप स्वाभाविक विज्ञान "सत् [ब्रह्म] एक और अद्वितीय है," "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि वाक्यों से बाधित हो जाता है। इसलिए कर्मों का विधान अविद्यादि दोषवान् पुरुष के लिए ही किया गया है, अद्वैतात्मज्ञानी के लिए नहीं किया गया। इसीलिए श्रुति आगे कहेंगी– "ये सब [कर्मकाण्डी] पुण्य लोकों को प्राप्त होते हैं तथा ब्रह्मनिष्ठ (परमहंस) अमरत्व को प्राप्त होता है।"

इस अद्वैतविद्या विषयक प्रकरण में अभ्युदय की साधनभूता उपासनाएं बतलायी जाती हैं, जिनका फल कैवल्य मोक्ष का समीपवर्ती है और जो अद्वैत ब्रह्म की अपेक्षा 'मनोमय प्राण शरीर' इत्यादि वाक्यों के अनुसार कुछ विकार प्राप्त हुए ब्रह्म से संबंध रखने वाली है। वे उपासनाएँ कर्माङ्ग से सम्बद्ध हैं और कर्मफल की समृद्धि ही उनका फल है क्योंकि रहस्य में [अर्थात् उपनिषद् शब्द से ज्ञातव्य होने में] तथा मनोवृत्ति रूप होने में उन (आत्मज्ञान और उपासनाओं) में समानता है [इसी से वे उपासनाएँ आत्मविद्या के प्रकरण में रखी गयी हैं]। जिस प्रकार अद्वैत ज्ञान मनोवृत्ति मात्र है उसी प्रकार अन्य उपासनाएँ भी मनोवृत्ति रूप ही है — यही उन दोनों की समानता है। तो फिर अद्वैतज्ञान और उपासनाओं में अन्तर क्या है? सो बतलाया जाता है — अद्वैतात्मज्ञान अक्रिय आत्मा में स्वभाव से ही आरोपित कर्ता आदि कारक, क्रिया और फल के भेदज्ञान की निवृत्ति करने वाला है, जिस प्रकार प्रकाश के कारण होने वाला रज्जु आदि के स्वरूप का निश्चय रज्जु आदि में आरोपित सर्पादि के ज्ञान को निवृत्त कर देता है। किन्तु उपासना तो किसी शास्त्रोक्त

आलम्बन को ग्रहण कर उसमें विजातीय प्रतीति से अव्यवहित सदृश चित्तवृत्ति का प्रवाह करना है — यही इन दोनों में अन्तर है।

ये उपासनाएँ चित्तशुद्धि करने वाली होने से वस्तु तत्व की प्रकाशिका होने के कारण अद्वैत ज्ञान में उपकारिणी हैं तथा आलम्बन युक्त होने के कारण सुगमता से सम्पन्न की जा सकती है — इसलिए इनका पहले निरूपण किया जाता है। यहाँ [साधारण पुरुषों में] कर्माभ्यास की दृढ़ता होने के कारण कर्म का परित्याग करके उपासना में ही चित्त का लगाना अत्यन्त कठिन है। इसी से सबसे पहले कर्माङ्ग-संबंधिनी उपासना का ही उल्लेख किया जाता है।

(2) उपासना का फल — अब उपर्युक्त ब्रह्म-वेत्ता की गति बतलाई जाती है— इस प्रकार जानने वाले इस उपासक के लिए उनकी मृत्यु होने पर ऋत्विग्गण शव कर्म करें अथवा न करें उस शवकर्म के न करने से भी इस प्रकार जानने वाला वह उपासक सर्वथा प्रतिबद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त न होता हो — ऐसा नहीं होता और न उस शवकर्म के करने से इसे कोई ब्रह्म से उत्कृष्ट लोक ही प्राप्त होता है, जैसा "यह कर्म से न तो बढ़ता है और न घटता ही है" इस एक अन्य श्रुति से प्रमाणित होता है।

शवकर्म के प्रति अनादर प्रदर्शित करता हुआ यह मन्त्र केवल विद्या की स्तुति करता है, इस प्रकार जानने वाले का शवकर्म नहीं करना चाहिए — यह नहीं बतलाता। इस विद्वान् के सिवा अन्य किसी के लिए तो शवकर्म न करने पर उसके कर्मफल के आरम्भ में कुछ प्रतिबन्ध होने का अनुमान किया जाता है; क्योंकि यहाँ श्रुति उपासना का फल आरम्भ होने के समय केवल उपासक के लिए ही — उसका शवकर्म किया जाये अथवा न किया जाये — अप्रतिबन्धपूर्वक फल का आरंभ दिखलाती है। जो लोग नेत्र में स्थित संयद्वाम, वामनी और भामनी इत्यादि गुणों से युक्त सुखाकाश की उपासना करते हैं तथा प्राणसहित अग्निविद्या की उपासना करते हैं — उनका अन्य कर्म हो अथवा न हो — वे सर्वथा अर्चिरभिमानी देवता को ही प्राप्त होते हैं — ऐसा इसका तात्पर्य है।

अर्चिः — अर्चिरभिमानी देवात से अहः — अहरभिमानी (दिवसाभिमानी) देवता को, अहरभिमानी देवता से आपूर्यमाण पक्ष-शुक्लपक्ष देवता को, शुक्ल पक्ष से षदुदङ् जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर दिशा में चलता है उन महीनों को अर्थात् उतरायण-देवता को उन उत्तरायण के छः महीनों संवत्सर-संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। फिर संवत्सर से आदित्य हो, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं। वहां स्थित हुए उन उपासकों को कोई अमानव जो मानवी सृष्टि में होता है उसे मानव कहते हैं, जो मानव न हो उसी का नाम 'अमानव' है, ऐसा कोई अमानव पुरुष ब्रह्मलोक से आकर सत्यलोक में स्थित ब्रह्म के पास पहुंचा देता है। गमन करने वाले, गन्तव्य स्थान और गमन कराने वाले का उल्लेख होने के कारण [यहां कार्यब्रह्म ही अभिप्रेत है] क्योंकि सत्ता मात्र ब्रह्म की प्राप्ति में यह कुछ नहीं कहा जा सकता। वहाँ तो यही कहना न्याय्य है कि

"वह ब्रह्म-रूप हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त होता है।' आगे छठे (अध्याय में) श्रुति सम्पूर्ण भेद के बाध द्वारा सन्मात्र ब्रह्म की प्राप्ति का उल्लेख करेगी। तथा बिना देखा हुआ [एकत्व रूप] मार्ग तो मोक्ष में उपयोगी ही नहीं हो सकता। जैसा कि "वह (परमात्मा) विदित न होने पर इस अधिकारी का [मुक्ति प्रदान करके] पालन नहीं करता" इस अन्य श्रुति से प्रमाणित होता है।

यह देवमार्ग है — उपासक को पहुँचाने के लिए अधिकार-प्राप्त देवताओं से उपलक्षित होने के कारम यह मर्ग देवमार्ग कहलाता है, तथा ब्रह्म गन्तव्य (प्राप्तव्य) स्थान है, उससे उपलक्षित होता है, इसलिए यह ब्रह्ममार्ग है। इसके द्वारा ब्रह्म द्वारा ब्रह्मा को प्राप्त हुए अर्थात् जाने वाले उपासक इस मानव-मनु संबंधी अर्थात् मनु की सृष्टि-रूप आवर्त में नहीं लौटते। जिसमें जन्म-मरण के प्रवाह रूप चक्र पर चढ़े हुए प्राणी घटीयंत्र के समान पुनः-पुनः आवर्तन करते हैं उस इस लोक को 'आवर्त' कहते हैं, इसे वे प्राप्त नही होते। 'नावर्तन्ते, नावर्तन्ते' यह द्विरुक्ति फल के सहित विद्या की परिसमाप्ति प्रदर्शित करने के लिए है।

(3) पतितों की दशा — किन्तु जो शुभाचरणशील द्विजाति हैं वे यदि अपने कर्मों से स्थित रहकर इष्टादि कर्म वाले होते हैं तो घटीयन्त्र के समान धूमादि मार्ग से पुनः-पुनः आते-जाते रहते हैं और यदि उन्हें [उपासनात्मक] विद्या की प्राप्ति हो जाती है तो अर्चिरादि मार्ग से जाते हैं और जिस समय वे न तो उपासन करने वाले होते हैं और न इष्टादि कर्मों का ही सेवन करते हैं उस समय —

ये इन पूर्वोक्त अर्चिरादि और धूमादि मार्गों में से किसी भी एक के द्वारा नहीं जाते। वे क्षुद्र प्राणी डाँस, मच्छर और कीड़े आदि बारम्बार आने-जाने वाले जीव होते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि वे इन दोनों ही मार्गों से परिभ्रष्ट होकर बारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं। यह उनके जन्म-मरण-संतति का अनुकरण कहा जाता है, 'जन्म लो और मरो' यह ईश्वर संबंधी चेष्टा बतलाई जाती है। अर्थात् उनका समय जन्म लेने और मरने में ही जाता है, कर्म करने अथवा सुन्दर भोग भोगने के लिए उन्हे अवकाश नहीं मिलता।

जन्म-मरण-परम्परा में पड़े हुए जीवों का पहले दो मार्गों की अपेक्षा यह क्षुद्र जीव रूप तीसरा स्थान है। क्योंकि इस प्रकार दक्षिणमर्ग-गामी भी लौट आते हैं तथा ज्ञान और कर्म के अनधिकारियों का तो दक्षिण मार्ग से वहां जाना भी नहीं होता, इसलिए यह परलोक नहीं भरता।

(4) सदेव का विवेचन — 'सदेव'– 'सत्,' यह अस्तित्व मात्र वस्तु का बोधक है, जो कि सम्पूर्ण वदान्तों से सूक्ष्म, निर्विशेष, सर्वगत, एक, निरञ्जन, निरवयव और विज्ञान स्वरूप जाना जाता है। 'एव' शब्द निश्चयार्थक है। इससे किस वस्तु का निश्चय किया जाता है — सो (आरुणि) बतलाता है — यह जो नाम-रूप एवं क्रियावान् विकारी जगत् दिखाई देता है 'सत् ही था — इस प्रकार 'आसीत् (था) शब्द से 'सत्' शब्द का संबंध है।

शङ्का — यह किस समय सत् ही था— ऐसा कहा जाता है?

समाधान — आगे अर्थात् जगत् की उत्पत्ति के पूर्व।

शङ्का — तो क्या इस समय यह सत् नहीं है जो आरम्भ में था, इस प्रकार विशेषण दिया गया है?

समाधान — नहीं, ऐसी बात नहीं है।

शङ्का — तो फिर यह विशेषण क्यों दिया गया है?

समाधान — इस समय भी यह सत् ही है; किन्तु नाम-रूप विशेषण युक्त तथा इदं शब्द और इदं बुद्धि का विषय होने के कारण 'इदम्' (यह) इस प्रकार भी निर्देश किया जाता है। किन्तु उत्पत्ति के पूर्व आरम्भ में केवल सत् शब्द और सद् बुद्धि का ही विषय होने के कारण 'यह पहले सत् ही था' इस प्रकार निश्चय किया जाता है। सुषुप्ति काल के समान उत्पत्ति से पूर्व यह नाम युक्त अथवा रूप युक्त है इस प्रकार वस्तु का ग्रहण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सोने से उठा हुआ पुरुष वस्तु की सत्ता मात्र का अनुभव करता है अर्थात् केवल इतना जानता है कि सुषुप्ति में केवल सन्मात्र वस्तु थी उसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व जगत् था— ऐसा इसका अभिप्राय है।

जिस प्रकर लोक में घटादि बनाने की इच्छा वाले कुम्हार द्वारा पूर्वाह्न में मृत्तिका के पिण्ड को फैलाया हुआ देखकर कोई पुरुष किसी अन्य ग्राम में जाकर मध्याह्नोत्तर काल में लौटने पर उसी स्थान से घट-शराब आदि अनेकों, भेदों-वाले मृत्तिका के कार्य को देखकर यह कहता है कि पूर्वाह्न में ये घट शराबादि केवल मृत्तिका ही थे उसी प्रकर यहँ भी 'यह आरम्भ में केवल सत् ही था' ऐसा कहा जाता है। यह एक ही था, अर्थात् अपने कार्यवर्ग में पतित कोई दूसरा नहीं था, इसलिए 'एक ही था' ऐसा कहा जाता है। एक अद्वितीय था; मृत्तिका के अतिरिक्त [दूसरी वस्तु नहीं थी] जिस प्रकार मृत्तिका को घटादि आकार में परिणत करने वाला कुलाल आदि निमित्त कारण देखा जाता है उसी प्रकार सत् से भिन्न सत् का सहकारी कारण रूप कोई अन्य पदार्थ प्रप्त होता है, उसका 'अद्वितीय था' ऐसा कहकर प्रतिषेध किया जाता है। अर्थात् इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं थी, इसलिए यह अद्वितीय था।

शङ्का — किन्तु सत् के साथ सत्व का समानाधिकरण तो वैशेषिक मत में भी सम्भव है; क्योंकि द्रव्य एवं गुण आदि सत्-शब्द और सद्-बुद्दि की अनुवृत्ति होती है; जैसा कि 'सद् द्रष्टम्' 'सन् गुणः' एवं 'सत् कर्म' इत्यादि प्रयोगों में देखा जाता है।

समाधान — ठीक है, वर्तमान कल में तो ऐस ही है, किन्तु उत्पत्ति से पूर्व यह कार्य सत् ही था — ऐसा वैशेषिक मतावलम्बियों को मान्य नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व वे कार्य का असत्व स्वीकार करते हैं। उत्पत्ति से पूर्व एक मात्र अद्वितीय सत् ही था — ऐसा मानना उन्हें अभीष्ट नहीं है। अतः मृत्तिका आदि के दृष्टान्तों से यह वैशेषिकों द्वारा परिकल्पित सत् की अपेक्षा अन्य सत् कारण बतलाया जाता है।

इस विषय में अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व वस्तु का निरूपण करने में एक यानी वैशेषिक वैनाशिक (बौद्ध) वस्तु का निरूपण करते हुए कहते हैं — 'उत्पत्ति से पूर्व आरम्भ में यह जगत् एक अद्वितीय असत् अर्थात् सत् के अभाव मात्र को ही सत् मानते हैं। वे सत् की विरोधनी कोई अन्य वस्तु नहीं मानते, जैसा कि नैयायिकों का मत है कि गृहीत होने वाली यथाभूत वस्तु और उससे विपरीत तत्व ये क्रमशः 'सत्' और 'असत्' है।

शङ्का — यदि वैनाशिक उत्पत्ति से पूर्व सत् का अभाव मात्र ही मानते हैं तो उत्पत्ति से पूर्व यह एक मात्र अद्वितीय असत् ही था' ऐसा कह कर वे उसका काल-संबंध, संख्या-संबंध और अद्वितीयत्व कैसे निरूपण करते हैं?

समाधान — ठीक है, सत् को असत्तामात्र मानने वाले उन लोगों का ऐसा कहना उचित नहीं है। इसके सिवा उनका असत्तामात्र मानन भी अनुचित ही है, क्योंकि जो (ऐसा) मानने वाला है उसका न मानना संभव नहीं है। यदि कहो कि इस समय तो मानने वाला मान ही जाता है उत्पत्ति से पूर्व ही नहीं माना जाता; तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार 'उत्पत्ति से पूर्व असत् ही था' ऐसी कल्पना का होना संभव नहीं होता।

मीमांसक — किन्तु शब्द का अर्थ तो वस्तु की आकृति ही होती है; ऐसी अवस्था में 'एक मात्र अद्वितीय असत् ही था' इन पदों का अथवा इस वाक्य का अर्थ कैसे ठीक हो सकता है? और ठीक न हो सकने पर तो यह (श्रुतिका) वाक्य ही अप्रमाणिक सिद्ध होगा।

सिद्धान्ती — यहाँ यह दोष नहीं आता, क्योंकि यह वाक्य केवल सत् को ग्रहण करने की निवृत्ति करने मात्र में ही तात्पर्य रखता है। 'सत्' यह शब्द तो सत् की आकृति का वाचक है ही। 'एकमात्र अद्वितीय' ये दोनों शब्द 'सत्' शब्द के साथ समानाधिकरण रूप से प्रयुक्त है। इसी प्रकार 'इदम्' और 'आसीत्' शब्द समानाधिकरण है। ऐसी अवस्था में सद् वाक्य में प्रयोग किया हुआ 'नञ्' सद्वाक्य को ही आलम्बन करके 'एकमात्र अद्वितीय सत् ही था' ऐसी सद्-वाक्यार्थ संबंधिनी बुद्धि को, जिस प्रकार कि घोड़े पर चढ़ा हुआ पुरुष घोड़े का ही आश्रय लेकर उसे उसके अभिमुख विषयों से फेर देता है, उसी प्रकार, सद्-वाक्य के अर्थ निवृत्त कर देता है। वह सत् के अभाव का ही निरूपण नहीं करता। अतः पुरुष के विपरीत ग्रहण की निवृत्ति के लिए ही 'यह असत् ही था' इत्यादि वाक्य का प्रयोग किया जाता है। विपरीत ग्रहण को दिखला कर ही उससे निवृत्त करना संभव है। इस प्रकार असत् आदि वाक्य सार्थक होने के कारण उसका श्रौतत्व और प्रामाण्य सिद्ध ही है। अतः इसमें कोई दोष नहीं है। उस सर्वाभावा रूप असत् से सत् अर्थात् विद्यमान कार्यजात उत्पन्न हुआ। (मूल में 'सज्जायत' के स्थान में 'सत् अजायत् ऐसा होना चाहिए था, सो 'जायत्, इस क्रिया पद में) अट् का अभाव वैदिक है।

इस प्रकार यह विपरीत ग्रहण-रूप महावैनाशिक का पक्ष दिखलाकर अब [आरुणि] उसका प्रतिषेध करता है —

किन्तु हे सोम्य! ऐसा किस प्रमाण से हो सकता है? अर्थात् असत् से सत् उत्पन्न हो — ऐसा कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि ऐसा होना किसी भी प्रमाण से संभव नहीं है। तथा जो लोग यह मानते हैं कि बीज का नाश होने पर अभाव से ही अंकुर उत्पन्न होता देखा गया है वे भी अपने ही सिद्धान्त के विरुद्ध है। किस प्रकार विरुद्ध हैं? बीज के आकार से युक्त जो बीज के अवयव हैं उनकी अनुवृत्ति अंकुर में भी होती है, अंकुर के उत्पन्न हो जाने पर उनका नाश नहीं हो जाता तथा जो बीजाकार का संस्थान है उसे तो वैनाशिक भी बीज के अवयवों से भिन्न कोई वस्तु नहीं मानते; जिसका अंकुर की उत्पत्ति होने पर नाश हो। यदि कहो कि बीजावयवों से व्यतिरिक्त वह वास्तविक स्वरूप से है तो यह उनकी ही मन्यता के विरुद्ध होगा।

यदि कहो कि संवृत्ति (लौकिक व्यवहार) द्वारा माना गया बीज संस्थान का रूप नष्ट होता है तो यह बतलाओं कि यह संवृत्ति क्या चीज है? यह भाव है या अभवा? यदि अभाव है तो [अभाव से भाव की उत्पत्ति होने में] कोई दृष्टान्त नहीं है। (अतः अभाव रूपा संवृत्ति बीज की सत्ता की साधिका नहीं हो सकती) और यदि भाव है तो भी अभाव से अंकुर की उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अंकुर की उत्पत्ति तो बीज के अवयवों से ही होती है।

और यदि ऐसा मानें कि अवयवों का भी नाश हो जाता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह दोष अवयवी के समान ही उसके अवयवों में भी है, जिस प्रकार वैनाशिकों के मत में बीज-संस्थान रूप अवयवी नहीं है उसी प्रकार अवयव भी नहीं है, अतः उनका नाश होना संभव नहीं है। बीजावयवों के भी सूक्ष्म अवयव होने चाहिए और उन अवयवों के भी दूसरे सूक्ष्मतर अवयव होने चाहिए — इस प्रकार प्रसंग की अनिवृत्ति (अनवस्था दोष) होने के कारण सर्व नाश होना संभव नहीं है। तथा सर्वत्र सद्बुद्धि की अनुवृत्ति होने के कारण सत्य की निवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार सद्वादियों की मानी हुई सत् से सत् की उत्पत्ति ही सिद्ध होगी। असत् से सत् की उत्पत्ति होने में असद्वादियों के पास कोई दृष्टान्त भी नहीं है। सद्वादियों के मत में मृत्तिका के पिण्ड से घट की उत्पत्ति होती देखी गयी है; क्योंकि उसकी सत्ता के रहते हुए घट की भी सत्ता है और उसका अभाव होने पर घट का भी अभाव हो जाता है।

यदि अभाव से ही घट की उत्पत्ति होती तो घट बनाने की इच्छा वाले को मृत्तिका का पिण्ड लेने की आवश्यकता न होती तथा घटादि में 'अभाव' शब्द और अभाव-बुद्धि की अनुवृत्ति का भी प्रसंग उपस्थित होता। किन्तु ऐसा है नहीं। इसलिए असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इसके सिवा वे लोग ऐसा कहते हैं कि 'मृत्तिका-बुद्धि घट-बुद्धि का निमित्त है; अतः मृद्-बुद्धि ही घट-बुद्धि का कारण कही जाती है, वस्तुतः मृत्तिका अथवा

घट कुछ भी नहीं है,' इसके अनुसार भी विद्यमान मृद्-बुद्धि ही विद्यमान घट-बुद्धि का कारण है; अतः असत् से सत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

यदि कहो कि मृद्-बुद्धि तथा घट-बुद्धि का निमित्त और नैमित्तिक रूप से आनन्तर्यमात्र है, कार्य— कारण भाव नहीं है तो ऐस कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि इन बुद्धियों की निरन्तरता का ज्ञान कराने में वैनाशिकों के पास कोई बाह्य दृष्टान्त नहीं है।

'अतः हे सोम्य! ऐसा कैसे हो सकता है?' ऐसा आरुणि ने कहा। अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है। तात्पर्य यह है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होने में कोई भी दृष्टान्त का प्रकार नहीं है। इस प्रकार असद्वादी के पक्ष का उन्मन्थन (निरसन) कर आरुणि 'हे सोम्य! आरम्भ में यह सत् ही था' इस प्रकार अपने पक्ष की सिद्धि का उपसंहार करता है।

शङ्का — किन्तु सद्वादी के मतानुसार सत् से सत् की उत्पत्ति होती है। इसमें भी तो कोई दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि एक घट से दूसरे घट की उत्पत्ति नहीं देखी जाती।

समाधान — यह ठीक है, एक सत् से दूसरे सत् की उत्पत्ति नहीं होती। तो फिर क्या होता है? — सत् ही एक दूसरे आकार में स्थित हो जाता है, जिस प्रकार सर्प ही कुण्डली हो जाता है और जैसे मृत्तिका ही चूर्ण, पिण्ड, घट, कपालादि भेदों से स्थित हो जाती है।

शङ्का — यदि ऐसी बात है तो सम्पूर्ण प्रकारों में स्थित सत् ही है फिर यह क्यों कहा जाता है कि यह उत्पत्ति से पूर्व था?

समाधान — अरे! क्या तूने नहीं सुना कि 'सदेव' यह पद इदं शब्द वाच्य का निश्चय कराने के लिए है।

शङ्का — तब तो यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व असत् ही था, इदं शब्द वाच्य नहीं था, यह अभी उत्पन्न हुआ है।

समाधान — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मृत्तिका ही पिण्ड एवं घटादि शब्द और बुद्दि का विषय होकर स्थित होती है उसी प्रकार सत् ही इदं शब्द और इदं बुद्धि के विषय-रूप से स्थित होता है।

शङ्का — किन्तु जिस प्रकार मृत्तिका वस्तु है उसी प्रकार पिण्ड और घटादि भी है। उन्हीं के समान सत् का कार्य सद्बुद्धि से अन्य बुद्धि का विषय होने के कारण सत् की अपेक्षा कोई अन्य वस्तु होना चाहिए, जिस प्रकार की अश्व से गौ अन्य है।

समाधान — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि पिण्ड और घटादि का परस्पर व्यभिचार होने पर भी उसमें मृत्तिकात्व का व्यभिचार नहीं है। यद्यपि घट पिण्ड से पृथक् रहता है और पिण्ड घट से; तो भी पिण्ड और घट दोनों ही मृत्तिकात्व से कभी पृथक् नहीं होते। अतः पिण्ड और घट आदि तो मृत्तिका मात्र ही है। किन्तु अश्व गौ को और गौ अश्व को पृथक् करते हैं; इसलिए घटादि केवल मृत्तिकादि के संस्थान (आकार) मात्र हैं। इस प्रकार यह सारा जगत् सत् का

संस्थानमात्र है। अतः उत्पत्ति से पूर्व सत् ही था— यह कथन ठीक ही है, क्योंकि विकार-संस्थान तो केवल वाणी के ही आश्रित है।

शङ्का — किन्तु ''पुरुष निष्फल, निष्क्रिय, शन्त, निर्मल, निर्लेप है'' तथा ''दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर वर्तमान और अजन्मा है'' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार निरवयव है। उस निरवयव सत् का विकार-संस्थान होना कैसे संभव है?

समाधान — इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि रज्जु आदि अवयवों से सर्पादि आकार की प्रतीति के समान बुद्धि से कल्पना किए हुए सत् के अवयवों से विकार- संस्थान का प्रतीत होना संभव है, जैसा कि कहा है — ''विकार वाणी के आश्रित केवल नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है।'' इसी प्रकार 'सत् ही सत्य है', इस श्रुति से प्रमाणित होता है। वस्तुतः इदं बुद्दि के समय भी वह एक मात्र अद्वितीय ही है।

(5) इन्द्र का आत्म दर्शन — शङ्का — किन्तु भूमा और प्रिय की एकता होने के कारण वह प्रिय भूमा का वेद्य नहीं हो सकता अथवा उसका स्वरूप होने से नित्य संवेद्य होने के कारण उसमें निर्विशेषता रहेगी, इसलिए वह (निर्विशेषता) इन्द्र को इष्ट नहीं है, क्योंकि उसने ऐसा कहा है कि 'इस अवस्था में तो 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अपने को भी नहीं जानता और न इन अन्य भूतों को ही जानता हूँ। इस समय यह विनाश को ही प्राप्त हो जाता है। मैं इसमे कोई फल नहीं देखता।' इन्द्र को तो वही ज्ञान इष्ट है जिन ज्ञान से आत्मा सम्पूर्ण भूतों को और अपने को भी जानता है, किसी भी अप्रिय का अनुभव नहीं करता तथा सम्पूर्ण लोकों को और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।

समाधान — ठीक है, यह इन्द्र को इष्ट तो अवश्य है कि ये भूत मुझ से भिन्न हैं तथा ये सम्पूर्ण लोक और भोग भी मुझसे भिन्न है और मैं इनका स्वामी हूँ, किन्तु यह इन्द्र के लिए हितकर नहीं है और प्रजापति को तो इन्द्र का हित बतलाना चाहिए। आकाश के समान अशरीर-रूप से जो सम्पूर्ण भूतलोक और काम के आत्मभाव को प्राप्त होकर उन्हें प्राप्त करना है उस हितकर विषय का इन्द्र के प्रति उपदेश करना चाहिए — ऐसा प्रजापति का अभिमत है। राजा की राज्य-प्राप्ति के समान अन्य भाव से लोकादि-प्राप्ति प्रजापति को अभिमत नहीं हैं। तब ऐसी अवस्था में आत्मा के एकत्व होने पर कौन किसके द्वारा यह बात जान सकता है कि वे भूत है और यह मैं हूँ?

शङ्का — किन्तु ऐसा पक्ष होने पर 'स्त्रियों से अथवा यानों से [क्रीड़ा करता है]' यह यदि पितृलोक की कामना करता है, 'वह एकरूप होता है' इत्यादि [पूर्वोक्त] ऐश्वर्य-सूचक श्रुतिथां अनुपपन्न हो जायेगी।

समाधान — यह बात नहीं क्योंकि सर्वात्मा विद्वान् का किसी से विरोध न होने के कारण सम्पूर्ण फलों से सम्बन्ध हो सकता है, जिस प्रकार मृत्तिका की घट, कमण्डलु और कूंडा आदि सम्पूर्ण विकारों में प्राप्ति होती है।

शङ्का — किन्तु सर्वात्मा होने पर तो उससे दुःख का भी संबंध होगा ही?

समाधान — नहीं, क्योंकि दुःख के आत्मत्व को प्राप्त हो जाने के कारण उससे भी उसका कोई विरोध नहीं है। आत्मा में अविद्या के कारण होने वाली कल्पना के निमित्त से होने वाले दुःख रज्जु में सर्पादि कल्पना के कारण होने वाले कम्पादि के समान है। दुःख की निमित्तभूता वह अविद्या आत्मा के अशरीरत्व और एकत्व-दर्शन से उच्छिन्न हो गयी है; इसलिए अब उसे दुःख के संबंध की आशंका होना सम्भव नहीं है।

[यह शंका होती है कि जब विद्या से अविद्या दग्ध हो जाती है तो उसके द्वारा ईश्वर में आरोपित किया हुआ सगुणविद्या का फलभूत पूर्वोक्त ऐश्वर्य भी दग्ध हो जाता है, फिर विद्या की स्तुति के लिए उनका उपदेश कैसे सिद्ध हो सकता है? उत्तर—] शुद्ध सत्वजन्य संकल्प के कारण प्राप्त होने वाले मनोवांछित भोग रूप ऐश्वर्यों का सम्पूर्ण भूतों में [केवल मन के द्वारा मायावस्था में] ईश्वर से संबंध सिद्ध होता है। समस्त सत्वमय उपाधि के द्वारा परमात्मा ही उन ऐश्वर्यों का भोक्ता है, इसलिए सम्पूर्ण अविद्याजन्य व्यवहारों का अधिष्ठान परमात्मा ही है, कोई दूसरा नहीं है — ऐसा वेदान्तशास्त्र का सिद्धान्त है।

यहाँ कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि वाक्य से प्रजापति ने छाया-पुरुष का ही वर्णन किया है, तथा स्वप्न और सुषुप्तावस्था में भी अन्य पुरुष का उल्लेख किया है, अपहतपाप्त्वादि-रूप परमात्मा का निरूपण नहीं किया, क्योंकि इन दोनों के लक्षणों में परस्पर विरोध है। छायात्मादि का उपदेश करने में वे यह प्रयोजन बतलाते हैं कि परात्मा अत्यन्त दुर्विज्ञेय है, अतः जिनका चित्त बाह्य विषयों में अत्यन्त आसक्त है ऐसे लोगों को आरम्भ में ही उसका उपदेश कर देने पर उस अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु का श्रवण करने से कहीं व्यामोह न हो जाये।

[इसी बात को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं —] जिस प्रकार द्वितीया के दिन सूक्ष्म चन्द्रमा को दिखलाने की इच्छा वाला कोई पुरुष पहले सामने वाले वृक्ष को 'देख यह चन्द्रमा है' ऐसा कह कर दिखाता है। फिर किसी अन्य वृक्ष को और उसके पश्चात् चन्द्रमा के समीपवर्ती किसी पर्वत-शिखर को 'यह चन्द्रमा है' ऐसा कहकर दिखलाता है। तदन्तर वह चन्द्रमा को देख लेता है। इसी प्रकार प्रजापति ने 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि तीन पर्यायों से जिसका वर्णन किया है वह पर-आत्मा नहीं है, किन्तु चौथे पर्याय में इस मरणशील देह से उत्थान कर जिस उत्तम पुरुष में वह ज्योतिस्वरूप अशरीरता को प्राप्त होकर स्त्री आदि के साथ वर्तमान रहता हुआ भक्षण क्रीडा और रमण करता रहता है वही उत्तम पुरुष परमात्मा कहा गया है — ऐसा भी उनका कथन है।

सिद्धान्ती — ठीक है, यह व्याख्या सुनने में तो बड़ी सुहावनी है, किन्तु इस ग्रन्थ का अर्थ ऐसा नहीं हो सकता। कैसे नहीं हो सकता? यदि प्रजापति ने 'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते' ऐसा कह कर छायात्मा का ही उपदेश किया होता तो 'अक्षिणि पुरुषो दृश्यते'

ऐसा उल्लेख करके, दोनों शिष्यों द्वारा छायात्मा का ही ग्रहण किये जाने पर फिर उनका वह विपरीत ग्रहण मानकर उसकी निवृत्ति के लिए उद-शराव का उपक्रम, 'क्या देखते हो' ऐसा प्रश्न और सुन्दर अलंकार धारण का उपदेश यह सब व्यर्थ ही सिद्ध होगा। इसके सिवा यदि उन्होंने स्वयं ही उसका उपदेश किया था तो उन्हें उसी प्रकार किए हुए ग्रहण की निवृत्ति का भी कारण बतलाना चाहिए था। इसी प्रकार स्वप्नात्मा और सुषुप्तामा का ग्रहण करने पर उनकी निवृत्ति का कारण भी उन्हें स्वयं बतलाना चाहिए था। किन्तु यह उन्होने बतलाया नहीं है। इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि प्रजापति ने नेत्रान्तर्गत छायात्मा का उपदेश नहीं किया।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है कि यदि 'दृश्यते' इस क्रिया पद से नेत्रान्तर्गत द्रष्टा का ही उपदेश किया गया हो तभी यह कथन युक्त हो सकता है; 'एतं त्येव ते' ऐसा कह कर स्वप्न में भी द्रष्टा का ही उपदेश किया गया है। यदि कहो कि स्वप्न में द्रष्टा का उपदेश नहीं किया गया तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि 'रुदन-सा करता है, अप्रिय वेत्ता-सा है' ऐसा कहा गया है। द्रष्टा के सिवा और कोई भी स्वप्न में पूजित होता हुआ-सा नहीं विचरता; क्योंकि "इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं प्रकाश होता है" ऐसा एक अन्य (वृहदारण्यक) श्रुति में युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है।

यद्यपि स्वप्न में आत्मा 'संधीः' अन्तःकरण सहित रहता है तो भी वह अन्तःकरण स्वप्न-भोगों की उपलब्धि के प्रति करणत्व को प्राप्त नहीं होता। तो फिर क्या रहता है? वह पटचित्र के समान जाग्रत — वासनाओं का आश्रय भूत दृश्य ही रहता है — इसलिए उस अवस्था में द्रष्टा के स्वयंप्रकाशत्व का बाध नहीं हो सकता। इसके सिवा दूसरा हेतु यह भी है कि जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में यह भूतों को और अपने को 'ये भूत हैं और यह मैं हूँ' इस प्रकार जानता है — यह बात प्राप्त होने पर ही (सुषुप्ति में) 'यह अपने को और भूतों को नहीं जानता' ऐसा प्रतिषेध उचित हो सकता है तथा चेतन के ही सशरीरत्व की प्राप्ति होने पर अविद्या प्राप्त होने पर अशरीर हुए उसी के सशरीरावस्था में प्राप्त हुए प्रियाप्रिय का अशरीर होने पर इसे प्रियाप्रिय स्पर्श नहीं करते' इस प्रकार प्रतिषेध करना उचित होगा। स्वप्न और जाग्रत में एक ही आत्मा महामत्स्य के समान असंग रूप से विचरता है — ऐसा एक अन्य (वृहदारण्यक) श्रुति से सिद्ध है।

और ऐसा जो कहा कि सम्प्रसाद (सुषुप्तावस्थापन्न जीव) इस शरीर से सम्यक् प्रकार से उत्थान कर जिसमें स्त्री आदि के साथ रमण करता रहता है वह अधिकरण रूप से निर्दिष्ट उत्तम पुरुष उससे भिन्न है — सो भी ठीक नहीं, क्योंकि चौथे पर्याय में 'एतं त्वेव ते' ऐसा [पूर्वोक्त का परामर्श करने वाला] निर्देश किया गया है। यदि प्रजापति को उससे भिन्न कोई और पुरुष अभिमत होता तो वे पहले ही के समान 'एतं त्वेव ते' ऐसा मिथ्या वचन न कहते।

इसके सिवा दूसरा कारण यह भी है कि [यदि उत्तम पुरुष को पूर्वोक्त पुरुषों से भिन्न मानेंगे तो] तेज, अप् और अन्नादि की रचना करने वाले सत् का अपने विकारभूत

देह में प्रवेश दिखला कर इस प्रकार प्रविष्ट हुए उसको जो 'तू वह है' ऐसा उपदेश किया गया है वह मिथ्या सिद्ध होगा। यदि उत्तम पुरुष सम्प्रसाद से भिन्न होता तो 'उसमे तू स्त्री आदि के साथ रमण करने वाला होगा' ऐसा उपदेश उचित होता है और यदि भूमा जीव से भिन्न होता तो भूमा में 'यह मैं ही हूँ' ऐसा आदेश करके 'यह सब आत्मा ही है' ऐसा उपसंहार न किया जाता। "इससे भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है" इस श्रुत्यन्तर से भी यही सिद्ध होता है। यदि सम्पूर्ण जीवों का प्रत्यागात्मा ही पर-आत्मा न होता तो समस्त श्रुतियों में परमात्मा के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग न किया जाता। अतः एक ही आत्मा इस प्रकरण का विषय सिद्ध होता है।

इसके सिवा आत्मा का संसारित्व है भी नहीं; क्योंकि आत्मा में संसार अविद्या के कारण अध्यस्त है। रज्जू, शुक्ति और आकाशादि में मिथ्या ज्ञान के कारण अध्यस्त हुए सर्प, रजत, मलादि वस्तुतः उनके नहीं हो जाते। इससे 'सशरीर के प्रियाप्रिय का नाश नहीं होता' इस वाक्य की व्याख्या हो जाती है। [इस प्रकार] पहले जो कहा गया था कि स्वप्न-द्रष्टा अप्रिया-वेत्ता-सा होता है। साक्षात् अप्रिय वेत्ता ही नहीं होता सो सिद्ध हो गया। और यह सिद्ध होने पर समस्त पर्यायों में 'यह अमृत और अभय है तथा यही ब्रह्म है' ऐसा प्रजापति का वचन अथवा प्रजापतिच्छाद्मरूपा श्रुति का वचन भी सत्य ही सिद्ध होता है। उसे कुतर्क बुद्धि से मिथ्या प्रमाणित करना उचित नहीं है, क्योंकि उस श्रुति वाक्य से उत्कृष्टतर प्रमाण मिलना असम्भव है।

यदि कहो कि दुःखादि अप्रियवेतृत्व तो निश्चित है और प्रत्यक्ष अनुभव होता है— तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मैं जरादि से रहित हूँ, जराग्रस्त हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ, आयुष्मान् हूँ, गौरा हूँ, श्याम हूँ, मरा हुआ हूँ, इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों के समान वह (अप्रिय-वेतृत्व) भी संभव हो सकता है। यदि कहो कि यह सब तो सत्य ही है तो वस्तुतः यह बात ऐसी ही दुर्गम है, इसी से आत्मा के अविनाश के संबंध में उदक पात्रादि युक्त दिखलाने पर भी देवराज को यह मोह हो रहा है कि इस अवस्था में तो यह विनाश को प्राप्त हो जाता है। तथा परम बुद्धिमान् और प्रजापति का पुत्र होने पर भी विरोचन केवल देह मात्र में आत्मा-बुद्धि करने वाला हुआ। इसी प्रकार वैनाशिक लोग इन्द्र के आत्म-विनाश रूप भय के समुद्र में डूब गये। तथा सांख्यवादी द्रष्टा (आत्मा) को देहादि से भिन्न जानकर भी शास्त्र प्रमाण को छोड़ देने के कारण मृत्यु के विषयभूत भेद-दर्शन में ही पड़े रह गये। एवं अन्य काणादादि मतावलम्बी कषाय के रगे हुए वस्त्र को क्षारादि से शुद्ध करने के समान आत्मा के नौ गुणों से युक्त आत्म-द्रव्य को शुद्ध करने में लग गये। तथा दूसरे कर्मकाण्डी लोग बाह्य विषयों में आसक्त चित्त होने के करण वेद को प्रमाण मानने वाले होने पर भी इन्द्र के समान परमार्थ सत्य आत्मैत्व को अपना विनाश-सा समझकर घटीयन्त्र के समान ऊपर-नीचे जाते-जाते रात-दिन भटकते रहते हैं। फिर जो स्वभाव से ही बाह्य विषयों में आसक्तचित्त हैं उन अन्य विवेकहीन क्षुद्र जीवों की तो बात ही क्या है?

अतः जिन्होंने सम्पूर्ण बाह्य एषणाओं का त्याग कर दिया है, जिनकी कोई और गति नहीं है और जो प्रजापति के सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाले हैं उन वेदान्त-विज्ञान-परायण आत्याश्रमी पूज्यतम परमहंस परिव्राजक के द्वारा ही यह चार प्रकरणों में उपनिबद्ध (प्रतिपादित) आत्मतत्व ज्ञातव्य है; तथा आज भी वे ही उसका उपदेश करते हैं और कोई नहीं।

(6) कर्म का महत्व — धर्मस्कन्ध — धर्म के स्कन्ध यानी धर्म के विभागत्रयः अर्थात् तीन संख्या वाले हैं। वे कौन-से हैं? इस पर कहते हैं, यज्ञ-अग्निहोत्रादि, अध्ययन-नियमपूर्वक ऋग्वेदादि का अभ्यास और दान-बेदी के बाहर भिक्षा माँगने वालों को यथाशक्ति धन देना इस प्रकार यह पहला धर्म-स्कन्ध है। यह धर्म गृहस्थ संबंधी होने के कारण उसका अनुष्ठान करने वाले को गृहस्थ रूप में निर्देश किया जाता है। यहाँ 'प्रथम' शब्द का अर्थ एक है, श्रुति में द्वितीय-तृतीय होने से इसका प्रयोग आद्य अर्थ में नहीं किय गया।

तप ही दूसरा धर्मस्कन्ध है। 'तप' इस शब्द से कृच्छ चान्द्रायणादि समझना चाहिए। उससे युक्त तपस्वी या परिव्राजक, ब्रह्मनिष्ठ नहीं बल्कि केवल आश्रम धर्म में स्थित है; क्योंकि श्रुति ने ब्रह्मनिष्ठ के लिए तो अमृतत्व की प्राप्ति बतलाती है। यह दूसरा धर्मस्कन्ध है।

जिसका स्वभाव आचार्य कुल में निवास करने का है वह आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी, जो अत्यन्त अर्थात् यावत् जीवन अपने को नियमों द्वारा आचार्यकुल में ही अवसन्न करता रहता है यह तीसरा धर्म स्कन्ध है। 'अत्यन्तम्' इत्यादि विशेषणों से यह जाना जाता है कि यहाँ नैष्ठिक ब्रह्मचारी अभिप्रेत है, क्योंकि उपकुर्वाण ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य स्वाध्याय के लिए होने से उसके द्वारा पुण्यलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ये सभी अर्थात् तीनों आश्रमों वाले उपर्युक्त धर्मों के कारण पुण्यलोकों के भागी होते हैं। जिन्हें पुण्यलोक प्राप्त हो ऐसे ये आश्रमी पुण्यलोक कहलाते हैं। इनसे बचा हुआ, जिसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया वह चतुर्थ परिव्राजक ब्रह्मसंस्थ, ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित होकर अमृतत्व को पुण्यलोकों के भिन्न आत्यन्तिक अमरण-भाव को प्राप्त हो जाता है, देवादिकों के अमरत्व के समान उसका अमृतत्व आपेक्षिक नहीं होता, क्योंकि यहाँ पुण्यलोक से अमृतत्व का पृथक् विभाग किया गया है।

यदि पुण्यलोक का अतिशय मात्र (अधिकता) ही अमृतत्व होता तो पुण्य लोक-रूप ही होने के कारण इसका उससे पृथक् वर्णन न किया जाता। अतः पृथक् उपदेश किया जाने के कारण यहाँ आत्यन्तिक अमृतत्व ही अभिप्रेत है — ऐसा जाना जाता है।

यहाँ जो आश्रम-धर्मों के फलों का उल्लेख किया है वह प्रणवोपासना की स्तुति के लिए ही है, उनके फलों का विधान करने के लिए नही है। परन्तु यदि यह कहा जाये कि 'यह वाक्य प्रणव-सेवा की स्तुति के लिए और आश्रम-धर्म के फल का विधान करने के लिए भी है' तो वाक्यभेद हो जायेगा। अतः यह मंत्र

स्मृति-प्रतिपदित आश्रम-फल के अनुवाद द्वारा 'प्रणव का फल अमृतत्व है' यह बतलाता हुआ प्रणवोपसना की ही स्तुति करता है, जिस प्रकार कोई कहे कि पूर्ण वर्मा की सेवा भोजन— वस्त्र मात्र फल देने वाली है और राज वर्मा की सेवा राज्य के समान फल देने वाली है, उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए।

प्रणव ही वह सत्य पर ब्रह्म है, क्योंकि यह उसका प्रतीक है। कठोपनिषद् में "यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है" इत्यादि श्रुति होने से उसकी सेवा द्वारा अमृतत्व की प्राप्त होना उचित ही है।

यहाँ कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि इस मंत्र में 'ये सभी पुण्य लोक के भागी होते हैं' इस वाक्य द्वारा ज्ञानरहित चारों ही आश्रमियों को समान रूप से अपने-अपने धर्मों का पालन करने में पुण्य लोक की प्राप्ति बतलाई गई है। इनमें परिव्राजक को भी छोड़ा नहीं है। परिव्राजक के भी ज्ञान, यम और नियम ये तप ही हैं, अतः 'तप ही दूसरा धर्म स्कन्ध है' इस वाक्य में 'तप' शब्द से परिव्राजक [और वानप्रस्थ दोनों का ग्रहण किया जाता है। अतः उन चारों ही में जो ब्रह्मनिष्ठ प्रणवोपासक होता है वही अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि इन चारों का अधिकार समान है और ब्रह्मनिष्ठ में भी किसी का प्रतिषेध नहीं किया गया, क्योंकि अपने-अपने कर्मों के अनुष्ठान से अवकाश मिलने पर सभी को ब्रह्म में स्थित होने का सामर्थ्य होना संभव है।

इसके सिवा 'यव' और 'वराह' आदि शब्दों के समान 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द परिव्राजक में ही रूढ़ भी नहीं है। क्योंकि यह तो ब्रह्म में स्थिति-रूप निमित्त को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है। रूढ़ शब्द किसी निमित्त को स्वीकार नहीं करते। और ब्रह्म में सभी की स्थिति होनी संभव है। अतः जहाँ-जहाँ भी ब्रह्म में स्थिति-रूप निमित्त है उसी-उसी निमित्तवान् का वाचक होने से ब्रह्मसंस्थ शब्द केवल परिव्राट् का ही वाचक है — ऐसे संकोच का कोई कारण न होने से उसे उसी अर्थ में निरूद्ध करना उचित नही है। इसके सिवा परिव्राज्य (संन्यास) आश्रम धर्म मात्र से ही अमृतत्व का प्राप्त होना संभव नहीं है, क्योंकि इससे ज्ञान की निरर्थकता का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

यदि कहो कि पारिव्राजक धर्मसहित ही ज्ञान अमृतत्व का साधन है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आश्रमधर्मत्व में अन्य आश्रमों के धर्मों से उसमें कोई विशेषता नहीं है। अथवा यदि यों कहे कि ज्ञान-विशिष्ट धर्म ही अमृतत्व का साधन है तो यह नियम भी समस्त आश्रम-धर्मों के लिए एक-सा है। ऐसा कोई शास्त्रवाक्य भी नहीं है कि एकमात्र ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी को ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, औरों को नहीं। ज्ञान से मोक्ष होता है — यह सम्पूर्ण उपनिषदों का सिद्धान्त है। अतः अपने-अपने आश्रम-धर्म का पालन करने वालों में जो कोई भी ब्रह्मनिष्ठ होगा वही अमृतत्व को प्राप्त होगा।

सिद्धान्ती — ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म के निमित्तभूत प्रत्यय और ज्ञानोत्पादक प्रत्ययों में परस्पर विरोध है। कर्ता आदि कारक, क्रिया और फल के भेद

से युक्त होना रूप निमित्त को लेकर ही 'यह करो' और 'यह मत करो' इस प्रकार की कर्मविधियाँ प्रवृत्त होती हैं और वह निमित्त शास्त्र का किया हुआ नहीं है, क्योंकि वह सभी प्राणियों में देखा जाता है। "एक ही अद्वितीय सत् है," "यह सब ब्रह ही है" यह जो शास्त्रजनित विद्यारूप प्रत्यय है वह कर्मविधि-निमित्तिक स्वाभाविक क्रिया-कारक और फल-भेद-रूप प्रयत्य को नष्ट किए बिना उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि भेद और अभेद प्रत्ययों में परस्पर विरोध है। तिमिर-रोग के नष्ट होने पर तिमिर-रोग-जनित द्विचन्द्रदर्शनादि भेद-प्रत्यय का नाश हुए बिना चन्द्रादि के एकत्व की प्रतीति भी नहीं होती, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान की प्रतीतियों में परस्पर विरोध है।

ऐसी अवस्था में, जिस भेद-प्रत्यय को स्वीकार कर कर्म-विधियाँ प्रवृत्त हुई हैं वह भेद-प्रत्यय जिसका "एक ही अद्वितीय सत् है, वही सत्य है", "विकार रूप भेद मिथ्या है" इत्यादि वाक्य-प्रमाण-जनित एकत्व-प्रत्यय के द्वारा नष्ट हो गया है वही कर्म-विधि के निमित्त की निवृत्ति हो जाने से सम्पूर्ण कर्मों से निवृत्ति हो जाता है, वह कर्मों से निवृत्त हुआ पुरुष ही ब्रहासंस्थ कहा जाता है और वह परिव्राजक ही हो सकता है, क्योंकि दूसरे के लिए ऐसा होना असम्भव है।

उससे भिन्न जिसका भेद-प्रत्यय निवृत्त नही हुआ है वह अन्य पदार्थों को देखता, सुनता, मानता और जानता हुआ 'ऐसा करके इसे प्राप्त करूँगा' यह मानता है। ऐसा करने वाले उस पुरुष की ब्रह्मनिष्ठता नहीं हो सकती क्योंकि वह वाचारम्भण मात्र विकार में मिथ्याभिनिवेश रूप प्रतीति करने वाला होता है। यह असत्य है— इस प्रकार भेद-प्रतीति के बाधित हो जाने पर उसमें 'यह सत्य है, इससे मुझे यह कर्तव्य है' ऐसी प्रमाण-प्रमेय रूप बुद्धि होनी संभव नहीं है, जिस प्रकार कि विवेकी पुरुष को आकाश में तलमल-बुद्धि होनी।

यदि भेद-प्रतीति के निरस्त हो जाने पर भी बोधवान् पुरुष भेदज्ञान की निवृत्ति होने से पूर्व के समान कर्मों से निवृत्त नहीं होता तो वह मानो एकत्व-विधायक वाक्यों को अप्रामाणिक सिद्ध करता है। अभक्ष्य-भक्षण का प्रतिषेध करने वाले वाक्यों के प्रामाण्य के समान एकत्व-प्रतिपादक वाक्य की प्रामाणिकता भी उचित ही है क्योंकि सम्पूर्ण उपनिषद् भी उसी का प्रतिपादन करने में तत्पर है।

पूर्व.— इस प्रकार तो कर्म-विधियों की अप्रामाणिकता का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा।

सिद्धान्ती — नहीं, जिन पुरुषो का भेद-ज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है उसके संबंध में उनकी प्रामाणिकता हो सकती है, जिस प्रकार कि जागने से पूर्व स्वप्नादि का ज्ञान प्राणाणिक माना जाता है।

पूर्व. — किन्तु विवेकियों के न करने से तो कर्म-विधि की प्रमाणता का उच्छेद मानना ही होगा।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि काम्य विधि का उच्छेद होता देखा नहीं गया। 'सकामता अच्छी नही है' ऐसा जिन्हें ज्ञान हो गया है उन पुरुषों द्वारा काम्य कर्म

नहीं किये जाते, अतः काम्य कर्मों की विधियों का उच्छेद हो गया हो — ऐसी बात देखने में नहीं आती, बल्कि (उस समय भी) सकाम पुरुषों द्वारा उनका अनुष्ठान किया ही जाता है। इसी प्रकार यदि ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जाता तो इससे उनकी विधि का ही उच्छेद नहीं हो जाता। जो ब्रह्मवेत्ता नहीं है उनके द्वारा उनका अनुष्ठान किया ही जाता है।

पूर्व. — जिस प्रकार संन्यासी लोग भिक्षाटन करते हैं उसी प्रकार जिन्हें एकत्व-ज्ञान उत्पन्न हो गया है उन गृहस्थों के भी अग्निहोत्रादि कर्मों की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए यदि ऐसी शंका हो तो?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि प्रमाणता का विचार करने में पुरुष की प्रवृत्ति दृष्टान्त रूप नहीं हो सकती। 'अभिचार न करे' इस प्रकार प्रतिषिद्ध होने पर भी किसी को अभिचार करना देखा है— इतने ही से जिसका शत्रु के प्रति द्वेषभाव भी नहीं है वह विवेकी पुरुष भी अभिचार करने लगे — यह सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कर्म-विधि के प्रवृत्ति के निमित्तभूत-प्रत्यय का बाध हो जाने पर बोधवान् पुरुष को अग्निहोत्रादि कर्म में प्रवृत्त करने वाला कोई निमित्त नही है, जिस प्रकार कि संन्यासी को भिक्षाटनादि में प्रवृत्त करने वाला क्षुधादि रूप निमित्त है।

पूर्व. — यहाँ भी नित्य कर्म न करने पर प्रत्यवाय होने का भय ही प्रवृत्त करने वाला है — यदि ऐसा माने तो?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि कर्मानुष्ठान का अधिकारी भेदज्ञानी ही है। जिसकी भेद-बुद्धि ज्ञान से नष्ट नहीं हुई है वह भेद-ज्ञानी ही कर्म का अधिकारी है — ऐसा हम पहले कह चुके हैं। इस प्रकार जो कर्म का अधिकारी है उसे ही उसके न करने पर प्रत्यवाय हो सकता है। जो उसके अधिकार से बाहर है उसे प्रत्यवाय नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि ब्रह्मचारी के विशेष धर्म का अनुष्ठान न करने पर गृहस्थ को प्रत्यवाय नहीं हो सकता।

पूर्व. — इस प्रकार तब तो जिस एकत्व का ज्ञान हो गया है वह कोई भी पुरुष अपने आश्रम में रहता हुआ ही परिव्राजक हो सकता है?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि उनकी स्वस्वामित्व रूप भेदबुद्धि निवृत्त नहीं होती, क्योंकि अन्य आश्रम कर्मानुष्ठान के ही लिए है; जैसा कि "[स्त्री पुत्रादि के प्राप्ति के] अनन्तर में कर्म करुँगा" इस श्रुति से सिद्ध होता है। अतः स्वस्वाभिभाव का अभाव हो जाने से एकमात्र भिक्षु ही परिव्राट् हो सकता है, गृहस्थादि अन्य आश्रमावलम्बी नहीं हो सकता।

पूर्व. — एकत्व की प्रतीति कराने वाले विधि-वाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा कर्म-विधि-निमित्तक भेद-ज्ञान के निवृत्त हो जाने से तो संन्यासी को यम-नियमादि का पालन करना भी सम्भव नहीं है [अतः उसका स्वेच्छाचारी हो जाना बहुत संभव है]।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नही है, क्योंकि क्षुधा आदि द्वारा एकत्व-प्रत्यय से च्युत कर दिये जाने पर उसके द्वारा अनुचित कर्मों से निवृत्ति के लिए उनका पालन किया जाना संभव है। इसके सिवा उसके द्वारा प्रतिषिद्ध कर्मों का सेवन किया जाना भी संभव नहीं है, क्योंकि उनका प्रतिषेध तो वह एकत्व-ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ही कर चुकता है। रात्रि के समय कूएँ या काँटों में गिर जाने वाला पुरुष सूर्योदय होने पर भी उन्हीं में नहीं गिर जाता। अतः सिद्ध होता है कि कर्मों से निवृत्त हुआ भिक्षुक ही ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है।

तथा यह जो कहा कि सम्पूर्ण ज्ञान से रहित पुरुषों को पुण्यलोक की प्राप्ति होती है सो ठीक नहीं है; परन्तु ऐसा जो कहा कि 'तपः' शब्द से संन्यासी का भी कथन है सो ठीक नहीं, ऐसा क्यों है? क्योंकि परिव्राजक की ही ब्रह्मनिष्ठता होनी सम्भव है। और वही [पुण्यलोक को प्राप्त करने वालों में से] बच रहा है — ऐसा हम पहले कह चुके हैं; क्योंकि एकत्व-विज्ञानवान् का तो अग्निहोत्रादि के समान तप भी निवृत्त हो ही जाता है। भेद-बुद्धिमान् में ही तप की कर्तव्यता भी रह सकती है। इससे अन्य आश्रम वालों को भी कर्मों से अवकाश मिलने पर ब्रह्म-स्थिति के समर्थ्य का तथा उनके लिए ब्रह्मनिष्ठा के प्रतिषेध का भी निषेध कर दिया गया। तथा ज्ञानी ही निवृत्त कर्मा परिव्राट हो सकता है — इससे ज्ञान की निरर्थकता का भी खंडन कर दिया गया।

तथा ऐसा जो कहा कि 'यव' और 'वराह' आदि शब्दों के समन 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द परिव्राजक में रूढ़ नहीं है उनका भी परिहार कर दिया गया, क्योंकि उसी की ब्रह्मनिष्ठा होनी संभव है, और किसी की नहीं।

इसके सिवा वादी ने जो कहा कि रूढ़ शब्द निमित्त को स्वीकार नहीं करता, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गृहस्थ, तक्षा और परिव्राजकादि शब्द देखे जाते हैं। गृह में रहना, परिव्राज्य सब कुछ त्याग कर चला जाना और तक्षण काष्ठ-छेदन आदि निमित्तों को स्वीकार करते हुए भी 'गृहस्थ' और 'परिव्राजक' शब्द आश्रमी विशेषों में और 'तक्षा' शब्द जाति विशेष में रूढ़ देखे जाते हैं। ये गृहस्थादि शब्द जहाँ-जहाँ निमित्त है वहीं-वहीं वे प्रवृत्त नहीं होते, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी 'ब्रह्म-संस्थ' शब्द की वृत्ति सम्पूर्ण कर्म और उनके साधनों से निवृत्त हुए एकमात्र अत्याश्रमी परमहंस परिव्राजक में ही होनी उचित है, क्योंकि उन्हीं को मुख्य अमृतत्व रूप फल की प्राप्ति सुनी गई है।

अतः एकमात्र यही वेदोक्त पारिव्राज्य है। यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड या कमण्डलु आदि का ग्रहण करना मुख्य पारिव्राज्य नहीं है। इस विषय में "मुण्डित अपारिग्रही" और "असंग" ऐसी श्रुति है, तथा "अत्याश्रमियों को परमपवित्र [ज्ञान का उपदेश किया]" इस श्वेताश्वेतरीय श्रुति से और "निःस्तुति निर्नमस्कारः" इत्यादि स्मृतियों से एवं "अतः पारदर्शी यतिगण कर्म नहीं करते, इसलिए अलिङ्ग, धर्मज्ञ और अव्यक्त लिङ्ग [होकर विचरे]" इत्यादि स्मृतियों से भी यही बात सिद्ध होती है।

क्रिया, कारक और फलरूप भेद-बुद्धि का सत्यत्व स्वीकार करने के कारण सांख्यवादी जो कर्मत्याग को स्वीकार करते हैं, वह ठीक नहीं है। तथा बौद्धों की शून्यता को स्वीकार करने के कारण अकर्तृत्व स्वीकार करने वाले की भी सत्ता माननी होगी [और बौद्ध लोग आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते]। तथा अज्ञानी लोग जो आलस्यवश अकर्तृत्व स्वीकार कर लेते हैं वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण द्वारा उनकी कारक-बुद्धि की निवृत्ति नही होती। अतः वेदान्त-प्रमाण-जनित एकत्व-ज्ञानवान् को ही कर्म-निवृत्ति रूप पारिव्राज्य और ब्रह्मनिष्ठत्व हो सकते हैं— यह सिद्ध होता है। इससे गृहस्थ को भी एकत्व-विज्ञान हो जाने पर पारिव्राज्य अर्थतः सिद्ध हो जाता है।

यदि कहो कि पारिव्राज्य होने से तो वह अग्नि-परित्याग रूप दोष का भागी होगा, जैस कि "जो अग्नि का त्याग करता है वह देवताओं का पुत्रघ्न होता है" इस श्रुति से सिद्ध होता है — तो ऐसा कहना ठीक नही, क्योंक विधाता द्वारा उच्छिन्न कर दिया जाने के कारण वह अग्नि एकत्व-दर्शन होने पर स्वतः ही त्यक्त हो जाता है, जैसा कि "अग्नि निवृत्त हो गया" ऐसी श्रुति से सिद्ध होता है। अतः पारिव्राजक होने से गृहस्थ दोष का भागी नहीं होता।

(7) कर्म का फल — 'इष्टापूर्ते" — अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म को 'इष्ट कहते हैं तथा वापी, कूप, तड़ाग एवं बगीचे आदि लगवाने का नाम 'पूर्त' है, और वेदी से बाहर दानपात्र व्यक्तियों को यथाशक्ति धन देना 'दत्त' कहलाता है। इस प्रकार जो परिचर्चा (गुरुशुश्रुषा) एवं परित्राण (धर्मरक्षा) आदि का तत्परतापूर्वक सेवन करते हैं — क्योंकि यहाँ 'इति' शब्द अनुष्ठान का प्रकार प्रदर्शित करने के लिए है — वे उपासनाशून्य होने के कारण धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं।

उस धूमाभिमानी देवता से अतिवाहित (आगे ले जाये जाते) हुए वे धूम से रात्रि को — रात्रि देवता को, रात्रि से ऊपर पक्ष यानी कृष्ण पक्षाभिमानी देवता को तथा कृष्ण के पक्ष में जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण दिशा की ओर होकर चलता है उन महीनों को अर्थात् दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं — ऐसा इनका तात्पर्य है। ये षण्मासाभिमानी देवता एक संघ में रहने वाले हैं, इसलिए उनके लिए 'मासान्' ऐसा बहुबचन का प्रयोग किया गया है। यहाँ जिनका प्रकरण है, वे कर्मकाण्डी संवत्सर को — संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त नहीं होते।

शङ्का — किन्तु यहाँ संवत्सर-प्राप्ति का प्रसंग ही कहाँ था जो प्रतिषेध किया गया?

समाधान — हाँ प्रसंग है, दक्षिणायन और उत्तारयण — ये एक ही संवत्सर के दो अवयव है, उसमें अचिंरानि मार्ग से जाने वाले पुरुषों की उत्तरायण के महीनों से अपने अवयवी संवत्सर की प्राप्ति बतलाई गई थी। इसलिए यहाँ भी उसके अवयव भूत दक्षिणायन के महीनों की प्राप्ति सुनकर पूर्ववत् उनके अवयवी संवत्सर की भी प्राप्ति हो जाती है, इसी से 'वे संवत्सर को प्राप्त नही होते' ऐसा कहकर उसकी प्राप्ति का प्रतिषेध किया जाता है।

वे दक्षिणायन के महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, और आकाश से चन्द्रामा को प्राप्त होते हैं। उनके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वह यह चंद्रमा कौन है? यह जो आकाश में दिखाई देता है तथा जो सोम ब्राह्मणों का राजा है, वह देवताओं का अन्न है, उस चंद्रमा-रूप अन्न को इन्द्रादि देवता भक्षण करते हैं। अतः धूमादि मार्ग से जाकर चंद्रमा-रूप हुए वे कर्मी देवताओं से भक्षित होते हैं।

शङ्का — यदि वे अन्नरूप होकर देवताओं द्वारा भक्षित होते हैं तो इष्टादि कर्मों का करना अनर्थ के ही लिए है।

समाधान — यह दोष नहीं है, क्योंकि 'अन्न' इस शब्द से केवल उपभोग की सामग्री ही विवक्षित है। वे देवताओं द्वारा ग्रास की तरह उठाकर नहीं खाये जाते। तो फिर क्या होता है? वे स्त्री, पशु एवं सेवकादि के समान देवताओं के केवल उपकरण मात्र होते हैं। 'अन्न' शब्द का उपकरणों में भी प्रयोग देखा ही जाता है; जैसे 'राजाओं के लिए स्त्रियाँ अन्न हैं, पशु अन्न हैं, वैश्य अन्न हैं, इत्यादि। पुरुष के उपभोग्य होने पर भी उन स्त्री आदि को उपभोग प्राप्त न होते हों — ऐसी बात नहीं है। अतः कर्मी लोग देवताओं के उपभोग्य होने पर भी सुखी होकर देवताओं के साथ क्रीड़ा करते हैं। तथा उनका सुखोपभोग-योग्य जलीय शरीर चंद्रमण्डल में आरम्भ होता है। पहले यह बात कही भी जा चुकी है कि 'श्रद्धा' शब्द वाच्य आपका द्युलोक रूप अग्नि में हवन किए जाने पर सोम राज्य की उत्पत्ति होती है।

वे कर्म-संबंधी आप अन्य भूतों से अनुगत हो द्युलोक में पहुँच कर चंद्रभाव को प्राप्त हो इष्टादि कर्मों की उपासना करने वाले पुरुषों के शरीरादि का आरम्भ करने वाले होते हैं। फिर शरीररूप अन्तिम आहुति के हुत होने पर जब अग्नि द्वारा शरीर दग्ध होने लगता है तो उससे उत्पन्न होने वाले आप धूम के साथ यजमान को आच्छादित कर ऊपर चंद्रमण्डल में पहुँचकर कुश एवं मृत्तिका-स्थानीय बाह्य शरीर का आरम्भ करने वाले होते हैं। उनसे आरम्भ हुए शरीर से ही वे इष्टादि कर्मों का फल भोगते हुए वहाँ रहते हैं।

जब तक चंद्रलोक के उपभोगों के निमित्तभूत कर्म का क्षय होता है — जिसके द्वारा संपतन होता है उसे संपात अर्थात् कर्म का क्षय कहते हैं, यावत्संपात अर्थात् जब तक कर्म का क्षय होता है तब तक उस चंद्रमण्डल में निवास कर उसके पश्चात् आगे कहे जाने वाले इस मार्ग में ही फिर लौट आते हैं। 'पुनर्निवर्तन्ते' (फिर लौट आते हैं) ऐसा प्रयोग होने से यह जाना जाता है कि पहले भी कई बार चंद्रमण्डल को प्राप्त होकर लौट चुके हैं; अतः वे इस लोक में इष्टादि कर्म करके चंद्रमण्डल को प्राप्त होते हैं; तथा उनका क्षय होने पर फिर लौट आते हैं। उस समय वहाँ की स्थिति के निमित्तभूत कर्मों का क्षय हो जाने के कारण उस स्थान पर उनका एक क्षण भी ठहरना नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि तैल का क्षय हो जाने पर दीपक नहीं ठहर सकता।

पूर्व. — जिस कर्म के द्वारा यह चंद्रमंडल पर आरूढ़ होता है क्या उस सब का क्षय होने पर वह उससे उतरता है अथवा कुछ शेष रह जाने पर ही उतर आता है।

सिद्धान्ती — इससे तुम्हें क्या लेना है?

पूर्व. — यदि सारे कर्म का क्षय हो जाता है तो चंद्रमण्डल में रहते हुए उसका मोक्ष सिद्ध हो जाता है, और 'वहाँ' रहते हुए ही मोक्ष होता है या नहीं होता' इस विचार को रहने भी दिया जाये तो भी वहाँ से आने पर इस लोक में उसके शरीरोपभोग आदि सम्भव नहीं हो सकते तथा 'ततः शेषेण' [भुक्तावशेष कर्मों से जन्म लेता है] इत्यादि स्मृति से भी विरोध होता है।

सिद्धान्ती — इस मनुष्य लोक में इष्ट, पूर्त्त और दत्त इन कर्मों से भिन्न और भी अनेक शरीरोपभोग के निमित्तभूत कर्म हो सकते हैं। उनका चन्द्रमण्डल में फलोपभोग भी नहीं होता, इसलिए वे अक्षीण ही रहते हैं। जिन कर्मों के कारण वह चन्द्रमण्डल पर आरुढ़ होता है उन्ही का वहाँ क्षय भी होता है— इस प्रकार इसमें कोई विरोध नहीं है। सब कर्मो का कर्मत्व समान होने के कारण [उपर्युक्त स्मृति में] 'शेष' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए वह भी अविरुद्ध ही है।

इसीलिए 'उसका वही मोक्ष हो जाना चाहिए' ऐसा भी दोष नहीं आ सकता, क्योंकि एक-एक जीव के ऐसे कर्मों का आरम्भकत्व सम्भव हो ही सकता है जिनके फल अनेक विरूढ़ योनियों में भोगे जाएँ। एक ही जन्म में समस्त कर्मों का क्षय हो जाना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि स्मृतियों में 'ब्रह्महत्या आदि एक-एक कर्म अनेक जन्मों के आरम्भक हैं' ऐसा बतलाया गया है। तथा जो स्थावरादि योनियों को प्राप्त हुए अत्यन्त मूढ़ जीव हैं उनके उत्कर्ष के हेतूभूत कर्मों का आरम्भकत्व तो असम्भव ही है। [इसके सिवा कोई-कोई ऐसा भी समझने लगेंगे कि] गर्भरूप होकर क्षीण हुए जीवों के कोई कर्म न होने के कारण उन्हें संसार की प्राप्ति होना ही असम्भव है। अतः एक ही जन्म में समस्त कर्मों का उपभोग नहीं हो सकता। कुछ लोगों का जो ऐसा कथन है कि '(संचित) कर्म प्रायः सम्पूर्ण [प्रारब्ध] कर्मों के आश्रय [शरीर] का नाश करके जन्म के आरम्भक होते हैं; उस अवस्था में कुछ कर्म तो जन्म के अनारम्भक-रूप से ही स्थित रहते हैं और कुछ जन्म का आरम्भ करते हैं — यह बात सम्भव नहीं है, क्योंकि मरण तो अपने विषय के अभिव्यंजक दीपक के समान सारे ही कर्मों का अभिव्यंजक है?' — सो उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि (मधु ब्रह्मण में) सबका सर्वात्मकत्व स्वीकार किया गया है। अतः सब का सर्वात्मकत्व होने पर देश, काल और निमित्त से अवरुद्ध होने के कारण किसी पदार्थ का सर्वथा नाश अथवा सर्वथा अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती। ऐसा ही कर्म और उनके आश्रय के विषय में भी होगा (अर्थात् उनका भी सर्वथा नाश अथवा सर्वथा आविर्भाव नहीं हो सकता)।

जिस प्रकार पहले अनुभव किए हुए मनुष्य मयूर एवं वानर आदि जन्मों में संपादित की हुई अनेक विरुद्ध वासनाएँ वनारत्व की प्राप्ति कराने वाले वानर-जन्म

के आरम्भक से कर्म क्षीण नहीं होती उसी प्रकार अन्य जन्मों की प्राप्ति के निमित्तभूत कर्म भी क्षीण नहीं होते— यह ठीक ही है। यदि वानर-जन्म के निमित्त-भूत कर्म से पूर्व जन्मों के अनुभव की समस्त वासनाएं क्षीण हो जाती है तो वानर-जन्म का आरम्भ होने पर तत्काल उत्पन्न हुए वानर को माता के एक शाखा से दूसरी शाखा पर जाते समय उसके पेट से चिपके रहने आदि की कुशलता प्राप्त न होती; क्योंकि इस जन्म में तो उसका अभ्यास हुआ नहीं और ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि इसके पूर्ववर्ती जन्म में भी उसे वानरत्व ही प्राप्त था। "विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं तथा पूर्व जन्म की वासना भी" इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। अतः वासना के समान समस्त कर्मों का भी क्षय नहीं हो सकता, इसलिएँ शेष कर्मों का रहना सम्भव है। क्योंकि ऐसी बात है इसलिए उपयुक्त हुए कर्मों से बचे हुए कर्म द्वारा संसार की प्राप्ति होना उचित ही है — इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता। वह कौन सा मार्ग है जिसके प्रति ये लौटते हैं? इस पर श्रुति यह कहती है कि जिस मार्ग पर गये थे उसी से लौटते हैं।

शङ्का — गमन का क्रम तो इस प्रकार बतलाया गया था कि मासों में पितृलोक को, पितृलोक में आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होता है, किन्तु निवृत्ति इस प्रकार नहीं बतलायी जाती। तो कैसे बतलाई जाती है? — आकाश से वायु को प्राप्त होता है इत्यादि रूप से बतलाई जाती है; फिर 'जिस मार्ग से गये थे उसी से लौटते हैं' — ऐसा कैसे कहा जाता है?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाश की प्रांप्ति और पृथ्वी की प्राप्ति ये दोनों दशाओं में समान हैं। इसके सिवा इसमें ऐसा नियम भी नहीं है कि जिस मार्ग से गये थे उसी से लौटें, किसी अन्य प्रकार भी लौट ही सकते हैं। नियम तो केवल इतना ही है कि वे फिर लौटते हैं। अतः 'जिस मार्ग से गये थे' इत्यादि कथन केवल उपलक्षण मात्र हैं। अतः भौतिक आकाश कों तो वे प्राप्त होते ही हैं।

चन्द्रमण्डल में जो उनके शरीर का आरम्भ करने वाले आप होते हैं वे वहाँ के उपभोग के निमित्तभूत कर्मों का क्षय हो जाने पर विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार कि अग्नि का संयोग होने पर धूत का पिण्ड विलीन हो जाता है। वे अन्तरिक्षस्थ आप विलीन होकर आकाशभूत के समान सूक्ष्म अन्तरिक्ष वायु रूप हो जाते हैं। वे वायु में स्थित होकर वायु-रूप हुए इधर-उधर ले जाये जाते हैं तथा उनके ही साथ, जिसके कर्म क्षीण हो गये हैं वह जीव वायु हो जाता है। वायु होकर वह उन आपों के सहित ही धूम हो जाता है तथा धूम होकर अभ्र — जलमरण मात्र रूप हो जाता है।

अभ्र होकर उसके पश्चात् वह वर्षा करने में समर्थ मेघ होता है। फिर मेघ होकर ऊँचे स्थानों में वृष्टि करता है अर्थात् कर्मों के शेष रहने के कारण वर्षा की धाराओं के रूप में गिर जाता है। वे जीव इस लोक में धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द इत्यादि प्रकार से उत्पन्न होते हैं। क्षीणकर्मा जीवों की अनेकता

होने के करण यहाँ ['ते जायन्ते' इत्यादि रूप से] बहुवचन का निर्देश किया गया है, इससे पहले मेघ आदि में एकरूप होने के कारण एकवचन का निर्देश हुआ है।

क्योंकि वर्षा की धाराओं द्वारा गिरे हुए जीवों के पर्वत तट, दुर्ग, नदी, समुद्र, वन एवं मरुस्थल आदि सहस्त्रों स्थान हैं, अतः इन सब कारणों से उनका यह दुर्निष प्रपतर दुर्निष्क्रमण अर्थात् कष्टमय निःसरण है, क्योंकि जल के प्रवाह द्वारा गिरि तट से ले जाये जाते हुए वे (जीव) नदी को प्राप्त होते हैं और उससे समुद्र को तथा उसके पश्चात् मकरादि से खाये जाते हैं और वे भी दूसरों से भक्षित होते हैं। तथा वहाँ समुद्र में ही यदि साथ मेघों से आकर्षित होकर फिर वर्षा की धाराओं द्वारा मरुभूमि, शिला तट अथवा अगम्य स्थानों में गिरकर पड़े रहते हैं; कभी सर्प एवं मृगादि से पी लिये जाते हैं अथवा अन्य जीवों द्वारा भक्षित होते हैं और वे भी किन्हीं अन्य जीवों द्वारा खा लिये जाते हैं। इस प्रकार वे अनुशयी जीव परिवर्तित होते रहते हैं। कभी अभक्ष्यों में उत्पन्न होने पर वे वहीं सूख जाते हैं। भक्ष्यों में भी स्थावरों में उत्पन्न हुए जीवों को वीर्य-सेचन करने वाले शरीर का सम्बन्ध प्राप्त होना कठिन ही है, क्योंकि स्थावरों की संख्या बहुत है। इसलिए अनुशयी जीव का निष्करण दुःखमय ही है।

अथवा यों समझो कि इस ब्रीहि-यवादि भाव से जीव का छुटकारा होना बहुत कठिन है। 'दुर्निष्प्रपतरम्' इस पद में एक तकार लुप्त समझना चाहिए। अतः तात्पर्य यह है कि ब्रीहि-यवादिभत्व दुर्निष्प्रपत है और उस दुर्निष्प्रपत से भी वीर्य सेचन करने वाले शरीर का संबंध दुर्निष्प्रपततर है, क्योंकि अन्य भक्षण करने वाले अनेकों होने के कारण ऊर्ध्वरिता, बालक, नपुंसक अथवा वृद्ध पुरुषों द्वारा खाये जाने पर वे पेट के भीतर ही नष्ट हो जाते हैं। जिस समय काकतालीय न्याय से वे कभी वीर्य-सेचन करने वाले पुरुषों द्वारा भक्षित किये जाते हैं उसी समय वीर्य-सेचकरूपता को प्राप्त हुए उन जीवों को कर्मों की वृत्ति का लाभ होता है।

किस प्रकार वृत्तिलाभ होता है? — जो-जो वीर्य-सेचक अनुशयी जीवों से युक्त अन्न भक्षण करता है और फिर ऋतुकाल में स्त्री में वीर्य सेचन करता है वह जीव 'तद्भूपः — उसी के आकार का हो जाता है। उसके अवयवों की आकृति की अधिकता होना 'भूयाः' ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार वीर्य रूप से स्त्री के गर्भाशय में प्रविष्ट हुआ जीव 'तद्भूयः हो जाता है क्योंकि वीर्य-वीर्य सेचन करने वाले की आकृति से भावित होता है, जैसा कि "वीर्य पुरुष के सम्पूर्ण अंगों से उत्पन्न हुआ तेज होता है" इस अन्य श्रुति से प्रमाणित होता है। इसलिए तात्पर्य यह है कि वह वीर्य सेचन करने वाले की ही आकृति का हो जाता है। इसी से पुरुष से पुरुष और बैल से बैल के आकार वाला ही प्राणी होता है, अन्य जाति की आकृति वाला नहीं होता। अतः वह 'तद्भूयः' ही होता है — यह कथन ठीक ही है।

किन्तु जो अनुशयी जीवों से भिन्न प्राणी अपने घोर पाप कर्मों के कारण चंद्रमण्डल पर आरूढ़ हुए बिना ही ब्रीहि-यवादि भाव को प्राप्त होते हैं, मनुष्यादि भाव को प्राप्त

नही होते, उनका ब्रीहि-यवादि भाव से निष्क्रमण होना बहुत कष्टप्रद नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि उन्होंने कर्म के कारण ही ब्रीहि-यवादि देह प्राप्त किया है; अतः उस उपभोग के निमित्त का क्षय होने पर ब्रीहि आदि स्तम्भ देह का नाश हो जाने के कारण वे अपने कर्मानुसार उपार्जित अन्य नवीन-नवीन शरीर में जोंक के समान विज्ञानयुक्त रहकर ही संक्रमण करते हैं, जैसे कि "वह संविज्ञान होता है और संविज्ञान रहता हुआ ही अन्य शरीर में संक्रमण करता है"। इन अन्य श्रुति से सिद्ध होता है। यद्यपि जीव इन्द्रियों का उपसंहार (हृदय में लय) हो जाने पर ही देहान्तर में जाते हैं, तथापि इस श्रुति-प्रमाण से वे स्वप्न के समान देहान्तर की प्राप्ति के निमित्तभूत कर्म से उत्पन्न की हुई वासना के विज्ञान से संविज्ञान हुए ही देहान्तर को प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार अर्चिरादि और धूमादि मार्ग से जो गमन होत है वह भी स्वप्न के समान उद्‌भूत विज्ञानरूप से ही होता है, क्योंकि वह गमन लब्ध वृत्ति कर्म के कारण होता है, किन्तु ब्रीहि-यवादि रूप से उत्पन्न हुए अनुशयी जीवों का जो रेतः सेचन करने वाले अथवा स्त्री के देहों से संबंध होता है वह सविज्ञान रूप से ही होना संभव नही है, क्योंकि ब्रीहि आदि के काटने, कूटने अथवा पीसने में सविज्ञान जीवों की स्थिति नहीं होती।

शङ्का — चन्द्रमण्डल से उतरने वाले जीवों का देहान्तर-गमन भी वैसा ही होने के कारण उनकी भी जोंक के समान संविज्ञानता ही माननी उचित है। ऐसा होने पर इष्ट, पूर्त आदि कर्म करने वालों को चन्द्रमण्डल से लेकर जब तक ब्रह्मणादि जन्म की प्राप्ति होगी तब तक घोर नरक अनुभव होना सिद्ध होगा। ऐसी अवस्था में इष्ट, पूर्त आदि उपासना अनर्थ के लिए ही विहित मानी जायेगी और इस प्रकार वैदिक कर्म के अनर्थानु संबंधी होने के कारण श्रुति की अप्रामाणिकता सिद्ध होगी।

समाधान — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वृक्ष पर चढ़ने और उससे गिरने के समान इन अवस्थाओं में अन्तर रहना सम्भव है। एक देह दूसरे देह को प्राप्त कराने की इच्छा वाले कर्म लब्ध-वृत्ति होने के कारण उन कर्मों द्वारा उत्पन्न किए हुए विज्ञान से उस जीव का सविज्ञान रहना उचित है। फल देने की इच्छा से वृक्ष पर चढ़ने वाले मनुष्य को जिस प्रकार सविज्ञानता संभव है, इसी प्रकार अर्चिरादि मार्ग से जाने वाले तथा धूमादि मार्ग से चन्द्रमण्डल पर आरूढ़ होने वाले जीवों की भी सविज्ञानता सम्भव है। किन्तु इसी तरह वृक्षाग्र से गिरने वले पुरुषों के समान चन्द्रमण्डल से गिरने वालों की संचेतना संभव नहीं है।

जिस प्रकार कि मुगद्‌रादि से आहत पुरुषों की, जिनके इन्द्रिय-ग्राम उनके आघातों की वेदना के कारण मूर्छित अथवा प्रतिबद्ध हो गये हैं, अपने देह से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते समय विज्ञानशून्यता देखी गई है, उसी प्रकार स्वर्ग-भोग के निमित्त-भूत कर्मों का क्षय हो जाने से जिनके जलीय शरीर नष्ट हो गये हैं तथा इन्द्रियग्राम अवरुद्ध हो गये हैं उन चन्द्रमण्डल से मनुष्यादि देहान्तरों के प्रति गिरने वाले अनुशयी जीवों की [विज्ञानशून्यता उचित ही है]। अतः देह के

बीजभूत आपों के परित्यक्त न होने से वे उनके सहित ही मूर्छित हुए के समान आकाशादि क्रम से .इस पृथ्वी पर उतर कर अपने कर्मानुसर जाति वाले स्थावर शरीर में मिल जते हैं। और इन्द्रियों के प्रतिबद्ध रहने के कारण अनुद्भूत विज्ञान (अचेत) ही रहते हैं।

इसी प्रकार वे काटने, कूटने, पीसने, पकाने, खाने, रसादि रूप में परिणत होने और वीर्य-सेचन के समय भी मूर्छित-से रहते हैं, क्योंकि उनक देहान्तर का आरम्भ करने वाला कर्म अलब्ध-वृत्ति रहता है। वे समस्त अवस्थाओं में देह में बीज भूत आपका संबंध न छोड़ते हुए ही विद्यमान रहते हैं, अतः जोंक के समान उनके चेतनायुक्त होने में भी कोई विरोध नहीं आता। बीच में जो विज्ञानशून्य दशा रहती है वह मूर्छित के समान हैं, इसलिए उनमें कोई दोष नहीं है।

तत्— वहाँ उन अनुशयी जीवों में जिनक इस लोक में रमणीय (शुभ) चरण (शील) होता है वे शुद्धाचारी जीव — जिनका रमणीय चरण से उपलक्षित शुभ अनुशय यानी पुण्य कर्म होता है — वे रमणीय चरण कहलाते हैं। जो लोग क्रूरता, असत्य और कपट से रहित है उन्हीं में शुभानुशय का सद्भाव उपलक्षित होना सम्भव है। चंद्रमण्डल में भोग से बचे हुए उस पुण्य अनुशय यानी कर्म से वे अभ्यास शीघ्र ही रमणीय क्रूरता आदि से रहित योनि को प्राप्त होते हैं। यहाँ 'यत्' शब्द क्रिया विशेषण है। अपने कर्मों के अनुसार वे ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय योनि अथवा वैश्य योनि को प्राप्त करते हैं।

किन्तु उनसे विपरीत जो कपूय चरण से उपलक्षित कर्म वाले अर्थात् अशुभ अनुशय वाले होते हैं वे शीघ्र ही अपने कर्मानुसार कपूययोनि को प्राप्त होते हैं। वे भी अपने कर्मों के ही अनुसार कुत्ते की योनि, सूकर योनि अथवा चाण्डाल योनि प्राप्त करते हैं।

10. बृहदारण्यक उपनिषद्-भाष्य

(1) सम्बन्ध-भाष्य

ॐ ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक (वंश-ब्रह्मणोक्त) गुरु-परम्परागत ब्रह्मादि वंश-ऋषियों को तथा गुरुदेव को नमस्कार है।

'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि मन्त्र से आरम्भ होने वाली वजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद् है। संसार-बन्धन को दूर करने की इच्छा वाले विरक्त पुरुषों के लिए संसार के कारण (अज्ञान) की निवृत्ति के साधन ब्रह्मात्मैक्यबोध की प्राप्ति के लिए उसकी यह अल्प ग्रन्थ वाली (संक्षिप्त) व्यख्या आरम्भ की जाती है। यह ब्रह्मविद्या अपने में लगे हुए पुरुषों के संसार का कारण सहित अत्यन्त अवसादन (उच्छेद) करती है, इसलिए उपनिषद् शब्द से कही जाती है, क्योंकि 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् धातु का यही (अवसादन ही) अर्थ है। उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति-रूप प्रयोजन वाला होने के कारण यह ग्रन्थ भी उपनिषद् कहा जाता है।

यह छः अध्याय वाली उपनिषद् अरण्य (वन) में कही जाने के कारण आरण्यक है औ [अन्य उपनिषदों की अपेक्षा] परिमाण में वृहद् (बड़ी) होने के कारण बृहदारण्यक कही जाती है। अब इसका कर्मकाण्ड के साथ संबंध बतलाया जाता है। यह सारा ही वेद, जिनका प्रत्यक्ष और अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से ज्ञान नहीं होता, इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के उपायों को प्रकाशित करने वाला है, क्योंकि सभी पुरुषों को स्वभाव से ही इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति इष्ट है। जो विषय प्रत्यक्ष है उनमें इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति के उपायों का ज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से ही सिद्ध है, इसलिए वहाँ आगम प्रमाण ढूँढने की आवश्यकता नहीं होती।

किन्तु जन्मान्तर से संबंध रखने वाले आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होने पर जन्मान्तर-संबंधिनी इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति की इच्छा भी नहीं हो सकती, जैसा कि स्वभाववादियों (चार्वाकादिकों) में देखा जाता है। अतः शास्त्र जन्मान्तर-संबंधी आत्मा के.अस्तित्व और जन्मान्तर की इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-निवृत्ति के उपाय विशेष का निरूपण करने में प्रवृत्त होता है। जैस कि (श्रुति) में "मृत मनुष्य के विषय में जो ऐसी शङ्का होती है कि कोई तो कहते हैं [शरीरादि से अतिरिक्त देहन्तरसंबंधी] आत्मा रहता है और कोई कहते हैं यह नहीं रहता" इस प्रकार उपक्रम करके "आत्मा है — ऐसा ही जानना चाहिए" इत्यादि निर्णय देखा जाता है तथा "ब्रह्म को न जानने से मरण को प्राप्त होने पर आत्मा-जैसा हो जाता है" इस प्रकार आरम्भ करके "जिसने जैसा कर्म किया है तथा जिसने जैस शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया है उसके अनुसार कोई तो देह धारण करने लिए किसी योनि को प्राप्त हो जाते हैं और कोई स्थावर हो जाते हैं" इस प्रकार कहा है। एवं "स्वयं प्रकाश है" इस प्रकार आरम्भ पर "ज्ञान और कर्म उसके जन्मान्तर के आरम्भक होते हैं" तथा "वह पुण्य कर्म से पुण्यवान् और पाप कर्मों से पापमय होता है" इत्यादि कहा गया है। इसी प्रकार "बतलाऊँगा" ऐसा उपक्रम कर "आत्मा विज्ञानमय है" इस प्रकार देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व बतलाया गया है।

यदि कहो कि आत्मा का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष प्रमाण का ही विषय है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इसके संबंध में विभिन्न वादियों का मतभेद देखा जाता है। यदि देहान्तर-संबंधी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष होता तो लोकायतिक और बौद्ध 'आत्मा नहीं है' ऐसा कहते हुए हमारे प्रतिकूल न होते। घटादि जो प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय हैं, 'उनमें घट नहीं है' ऐसा सन्देह किसी को नहीं होता। यदि कहो कि स्थाणु (ठूठ) आदि में पुरुषादि का भ्रम देखा जाने के कारण प्रत्यक्ष वस्तु में संशय का अभाव नहीं बताया जा सकता तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि अच्छी तरह देख लेने पर उस संशय का अभाव हो जाता है। स्थाणु आदि का प्रत्यक्ष निरूपण हो जाने पर उसमें किसी को संदेह नहीं रहता। किन्तु वैनाशिक तो 'अहम्' ऐसी वृत्ति के उदय होने पर भी देहान्तर से भिन्न आत्मा के

न होने का ही निश्चय करते हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय से विलक्षण होने के कारण प्रत्यक्ष से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार अनुमान से भी (आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता)। यदि कहो कि श्रुति ने आत्मा के अस्तित्व में लिङ्ग (बीज) दिखलाया है और लिंग प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है, इसलिए आत्मा (प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण का भी विषय है) केवल आगम का ही विषय नहीं है — तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जन्मान्तर के संबंध का किसी अन्य प्रमाण से ग्रहण नहीं होता। आगम प्रमाण से तथा वेदोक्त लौकिक लिंग विशेषों के द्वारा आत्मा का अस्तित्व जान लेने पर ही उसी का अनुसरण करने वाले मीमांसक और नैयाविक अहं प्रतीति और वैदिक लिंगों को ही 'ये हमारी बुद्धि से निकले हुए तर्क हैं' ऐसी कल्पना करते हुए कहते हैं कि 'आत्मा प्रत्यक्ष और अनुमान का भी विषय है'।

सब प्रकार देहान्तर से संबंध रखने वाला आत्मा है — ऐसा जानने वाला तथा देहान्तरगत इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति के उपाय विशेष को जानने की इच्छा वाले पुरुषों को उस विशेष उपाय का ज्ञान कराने के लिए कर्मकाण्ड आरम्भ किया गया है। जिसमें आत्मा की इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-निवृत्ति की इच्छा के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्याभिमान रूप आत्मविषयक अज्ञान को उससे विपरीत ब्रह्मात्व-स्वरूप ज्ञान के द्वारा दूर नहीं किया गया। जब तक उस (अज्ञान) की निवृत्ति नहीं होती, तब तक यह जीव कर्मफल के राग-द्वेषादि रूप स्वाभाविक दोषों से प्रेरित होने के कारण शास्त्र कथित विधि और निषेध का उल्लंघन करके भी बर्तता हुआ मन, वाणी शरीर से दृष्ट और अदृष्ट अनिष्ट साधनभूत अधर्म-संज्ञक कर्मों को अधिकता से करता रहता है, क्योंकि स्वभाव-जनित दोष बहुत प्रबल होता है। इससे उसे स्थावर पर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है। कभी शास्त्रोक्त संस्कारों की प्रबलता होती है, उस समय यह मन आदि से अधिकतर धर्मसंज्ञक इष्ट साधनों का सम्पादन करता है। वे ज्ञान (उपासना) पूर्वक और केवल भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें केवल धर्म पितृलोकादि की प्राप्ति-रूप फल वाले हैं और ज्ञानपूर्वक धर्म देवलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक की प्राप्ति रूप फल वाले हैं। ऐसा ही शास्त्र भी कहता है — "देवोपासक की अपेक्षा आत्मोपासक श्रेष्ठ है।" तथा "वैदिक कर्म दो प्रकार का है" (प्रवृत्तिप्रधान और निवृत्तिप्रधान) ऐसी स्मृति भी है। धर्म और अधर्म की समान मात्रा होने पर मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्म एवं अधर्म रूप साधक से होने वाली ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त नाम, रूप एवं कर्म के आश्रित स्वाभाविक अविद्यादि दोष वाली सांसारिक गति है। वह साध्य-साधन रूप व्याकृत जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था। आत्मा में क्रिया, कारक एवं फल का आरोप रूप यह अनिद्याकृत संसार बीजांकुरादि के समान (प्रवाह रूप से) अनादि और अनन्त अनर्थरूप है; अतः इससे विरक्त हुए पुरुष की अविद्या की निवृत्ति के लिए इससे विपरीत ब्रह्मविद्या की प्राप्ति रूप-प्रयोजन वाली यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है।

[इस उपनिषद् के आरम्भ में कहे हुए] इस अश्वमेध कर्म संबंधी विज्ञान का तो यही प्रयोजन है कि जिनका [असामर्थ्यवश] अश्वमेध यज्ञ में अधिकार नहीं है उन्हें इन विज्ञान से ही उसके फल की प्राप्ति हो जाये, जैसा कि "ज्ञान (उपासना) से अथवा कर्म से [उसके फल की प्राप्ति होती है]" "यह वह (प्राण दर्शन) लोक-प्राप्ति का साधन है" इत्यदि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

यदि कहो कि अश्वमेध विज्ञान अश्वमेध कर्म से ही संबंध रखता है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि "जो अश्वमेध से यजन करता है अथवा जो इसे इस प्रकार जानत है। [वह सब पापों को पार कर जाता है] इस प्रकार कर्म के ज्ञान का और अनुष्ठान का विकल्प बतलाने वाली श्रुति है। इसके सिवा इसका उल्लेख उपासना प्रकरण में होने से तथा अश्वमेध से भिन्न (नित्याग्नि) कर्म में इसक सम्पादन देखा जाने से भी यह ज्ञात होता है कि अश्वमेध-विज्ञान से भी अश्वमेध का ही फल मिलता है। समष्टि और व्यष्टि हिरण्यगर्भ की प्राप्ति रूप फल वाला होने से समस्त कर्मों में अश्वमेध कर्म उत्कृष्ट है। यहाँ ब्रह्मविद्या के आरम्भ में उसक उल्लेख समस्त कर्मों का संसार-संबंधित्व प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। इसी प्रकार श्रुति हिरण्य गर्भ को क्षुधा-रूप मृत्युभाव की प्राप्ति दिखलायेगी।

यदि कहो कि नित्य कर्म-संसार विषयक फल वाले नहीं हैं तो यह ठीक नहीं, क्योंकि समस्त कर्मफलों का [सांसारिक विषयों में ही] उपसंहार किया जाता है— ऐसी श्रुति है। सारे ही कर्मों का संबंध स्त्री से है। "मुझे स्त्री प्राप्त हो — इतनी ही कामना है" इस प्रकार स्वभाव से ही समस्त कर्मों की सकामता दिखलाकर फिर पुत्र, कर्म और अपरा विद्या के "मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक" इस प्रकार विभिन्न फल दिखाते हुए श्रुति यह जगत् नम, रूप और कर्म — इन तीन अवयवों से युक्त है" ऐसा कहकर अन्त में इसकी तीन अन्नरूपता का उपसंहार करेगी। तात्पर्य यह है कि समस्त कर्मों का फल व्याकृत संसार ही है।

यही भय उत्पत्ति से पूर्व तो अव्याकृत ही था। वही बीज से वृक्ष के समान समस्त प्राणियों के कर्मवश व्याकृत हो जाता है। वह यह व्यक्ताव्यक्त रूप संसार अविद्या का विषय है। अविद्य से ही मूर्त, अमूर्त और उनकी वासना रूप यह संसार क्रिया, कारक और फल रूप होने से आत्मभाव से आरोपित होता है। इससे भिन्न आत्मा नाम, रूप और कर्म से रहित, अद्वितीय तथा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप होने पर भी क्रिया, कारक और फलभेदादि विपरीत भाव से प्रतीत होत है। अतः इस साध्य-साधन रूप एवं क्रिया कारक और फल-भेद रूप संसार से "यह इतना ही है" इस प्रकार विरक्त हुए पुरुष की कामादि दोषमय कर्मों की बीजभूता अविद्या की, रज्जु में सर्प-ज्ञान के बोध के समान, निवृत्ति करने के लिए ब्रह्मविद्या का आरम्भ किया जाता है।

(2) सत्कारणवाद — पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। अर्थात् मन आदि की उत्पत्ति से पूर्व यहाँ — इस संसार-मण्डल में किंचनमात्र — कुछ भी — नाम-रूप में विभक्त हुआ कोई भी पदार्थ विशेष नहीं था।

शून्यवादी — तो क्या उस समय शून्य ही था, क्योंकि "यहाँ कुछ भी नहीं था" ऐसी श्रुति है। अतः कार्य या कारण कुछ भी नहीं था। इसके सिवा उत्पत्ति होने से भी यही सिद्ध होता है। घट उत्पन्न होत है, इसलिए उत्पत्ति से पूर्व घट की सत्ता नहीं होती।

सिद्धान्ती — किन्तु कारण का तो अभाव नहीं होता, क्योंकि [घटोत्पत्ति से पूर्व भी] मृत्पिण्डादि देखे जाते हैं। जो वस्तु उपलब्ध नहीं होती उसी का अभाव होता है। अतः कार्य का अभाव भले ही रहे कारण का तो अभाव नहीं होता, क्योंकि वह तो उपलब्ध होता ही है।

शून्यवादी — नहीं, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व तो सभी की उपलब्धि नहीं होती। यदि अनुपलब्धि ही अभाव का कारण है तो उत्पत्ति से पूर्व तो सारे जगत् का कारण या कार्य उपलब्ध नहीं होता। अतः सभी का अभाव होना चाहिए।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ "यह मृत्यु से ही आवृत्त था" ऐसी श्रुति है। यदि उस समय कुछ भी न होता तो जिससे आवृत्त होता है और जो आवृत्त होता है उसके विषय में श्रुति यह न कहती कि 'यह मृत्यु से ही आवृत्त था।' बन्ध्यापुत्र आकाशकुसुम से आच्छादित होता हो ऐसा कभी नहीं होता। किन्तु श्रुति ऐसा कह रही है कि 'यह मृत्यु से ही वृत्त था', अतः जिस कारण से आवृत्त था और जो कार्य आवृत्त था, उत्पत्ति से पूर्व वे दोनों ही थे, क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण है और ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है।

उत्पत्ति से पूर्व कार्य और कारण के अस्तित्व का अनुमान भी किया जा सकता है; क्योंकि उत्पन्न होने वाले सत्य कार्य की ही सत्य कारण में उत्पत्ति देखी जाती है; असत्य में नहीं देखी जाती। घटादि के कारण की सत्ता के समान उत्पत्ति से पूर्व जगत् के कारण की सत्ता का भी अनुमान किया जा सकता है।

शून्यवादी — किन्तु घटादि के कारण की भी तो सत्ता नहीं है, क्योंकि मृत्पिण्डादि को नष्ट किये बिना घटादि की उत्पत्ति ही नहीं होती — यदि ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कारण तो मृत्तिकादि हैं। घट और रूचक (कण्ठभूषण) आदि के कारण तो मृत्तिका और सुवर्णादि हैं, उनका पिण्डाकार विशेष कारण नहीं है, क्योंकि उसका अभाव होने पर भी उन (मृत्तिकादि) की सत्ता तो रहती ही है। पिण्डाकार विशेष के न रहने पर भी मृत्तिका और सुवर्णादि करण-द्रव्य मात्र से ही घट और रूचकादि कार्य की उत्पत्ति होती देखी जाती है। अतः घट और रूचकादि का कारण पिण्डाकार विशेष नहीं है। मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्य के अभाव में घट और रूचकादि की उत्पत्ति नहीं होती। अतः मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्य ही उनका कारण है, उनका पिण्डाकर विशेष कारण नहीं है।

सारे ही कारण कार्य की उत्पत्ति करते समय अपने पूर्वोत्पन्न कार्य का लय करके ही दूसरे कार्य को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि एक कारण में एक साथ अनेक कार्यों की उत्पत्ति होना विरुद्ध है। किन्तु उस पूर्व कार्य का लय होने से ही कारण

के स्वरूप का लय नहीं होता। अतः पिण्डादि का लय होने पर कार्य की उत्पत्ति दिखाई देना उत्पत्ति से पूर्व कारण की असत्ता का हेतु नहीं है।

शून्यवादी — किन्तु पिण्डादि से भिन्न मृत्तिकादि की कोई सत्ता नहीं है, इसलिए ऐसा कहना अनुचित है। पिण्डादि पूर्व कार्य का लय होने पर मृदादि कारण का लय नहीं होता, वह घटादि कार्यान्तर में भी अनुवृत्त रहता है — ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि पिण्ड और घटादि से पृथक् मृत्तिकादि कारक की उपलब्धि नहीं होती।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि घटादि की उत्पत्ति होने पर पिण्डादि की निवृत्ति हो जाने पर भी मृत्तिकदि कारण द्रव्यों की अनुवृत्ति देखी जाती है। यदि कहो कि समानता के कारण उनमें मृत्तिका का अन्वय देखा जता है, कारण की अनुवृत्ति होने से नहीं — तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पिण्डादिगत मृत्तिकादि अवयवों को ही घटादि में प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए केवल अनुमानाभास से सादृश्यादि की कल्पना करना उचित नहीं है।

इसके सिवा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों की अव्यभिचारिता (समञ्जसता) में विरोध भी नहीं होता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है, इलिए [उनमें विरोध होने पर] सभी जगह अविश्वास का प्रसंग हो जाएगा। यदि 'तदेवेदम्' (यह वही है) इस प्रकार ज्ञात होने वाला सब कुछ क्षणिक है तो उस क्षणिकत्व बुद्धि को प्रमाणित करने के लिए भी तद्विषयक अन्य बुद्धि की अपेक्षा होगी और उसके लिए दूसरी तद्बुद्धि की, इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होने पर [क्षणिकत्व बुद्धि को स्वतः प्रमाण मानना होगा] ऐसी दशा में 'यह उसके समान है' यह बुद्धि भी ['तदिदम्' बुद्धि के ही अन्तर्गत होने से] मिथ्य होने के कारण सर्वत्र अविश्वास ही रहेगा। तथा 'तदिद्म' 'यह' और 'वही' इन बुद्धियों का भी, कोई कर्ता न होने के कारण परस्पर संबंध होना सम्भव नही है।

यदि कहो कि सदृशता के कारण इनका संबंध हो सकत है — तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'तत्', 'इदम्' — इन बुद्धियों का इतरेतर विषयत्व (भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करना) सिद्ध नहीं होता। जब तक इन बुद्धियों के विषय भिन्न-भिन्न न हो तब तक इनकी सदृशता का भी ग्रहण नहीं हो सकता। यदि ऐसा माने कि विषय की सदृशता न होने पर भी 'यह वही है' ऐसी बुद्धि होती है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में सादृश्य बुद्धि के समन तद् और इदं-बुद्धियाँ भी असद् विषयक [अर्थात् क्षणिक या भ्रान्त] सिद्ध होगी। यदि कहो कि सभी बुद्धियों की असद् विषयता (मिथ्यात्व) ही होवे दो, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो बुद्धि-बुद्धि के भी मिथ्या होने का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि कहो, अच्छा ऐसा ही हो, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार जब सभी बुद्धियाँ मिथ्या होगी तो असत्य बुद्धि का होना सम्भव नहीं होगा। अतः सादृश्य से 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है — यह कहना ठीक नहीं है। इसलिए कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण की सत्ता सिद्ध ही है।

कार्य की भी सत्ता है, क्योंकि वह अभिव्यक्ति रूप लिंगवाला है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य की भी सत्ता सिद्ध होती है। किस प्रकार है? — अभिव्यक्ति रूप लिंग वाला होने से, क्योंकि अभिव्यक्ति ही कार्य का लिंग है। साक्षात् विज्ञानालम्बनत्व को प्राप्त होने का नाम 'अभिव्यक्ति' है। लोक में जो घट आदि पदार्थ अन्धकारादि से आच्छादित होता है वह उस आवरण का प्रकाशादि से तिरस्कार होने पर विज्ञान की विषयता को प्राप्त होकर अपनी पूर्वकालिक सत्ता का त्याग नहीं करता। इससे हमें मालूम होता है कि इसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् भी था, क्योंकि जो घट विद्यमान नहीं था, उसकी उपलब्धि सूर्य के उदित होने पर भी न होती।

पूर्व.— ऐसी बात नहीं है। यदि तुम्हारे मत में कार्य अविद्यमान नहीं है तो उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिए। तुम्हारे मतानुसार घटादि कार्य कभी अविद्यमान तो है नहीं; इसलिए जब मृत्पिण्ड की सन्निधि न हो और अन्धकारादि का आवरण भी न हो, उस समय सूर्योदय होने पर उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिए, क्योंकि वह विद्यमान ही है।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आवरण दो प्रकार का है। मृत्तिकादि से अभिव्यक्त होने वाले घटादि कार्य का आवरण दो प्रकार का है — (1) अन्धकार और भित्ति आदि तथा (2) मृतिका से घट की अभिव्यक्ति होने के पूर्व उस मृत्तिकादि के अवयवों का पिण्डादि कार्यान्तिर के रूप में स्थित रहना। अतः उत्पत्ति से पूर्व घटादि विद्यमान कार्य की ही आवृत्त होने के कारण उपलब्धि नहीं होती। नष्ट होना, उत्पन्न होना, रहना, न रहना इत्यादि शब्द और प्रत्ययों का भेद तो अभिव्यक्ति और तिरोभाव की द्विविधता की अपेक्षा से है।

पूर्व. — किन्तु पिण्ड और कपालादि तो आवरण से भिन्न प्रकार के होते हैं, इसलिए उन्हें आवरण कहना उचित नहीं है। अन्धकार और भित्ति आदि जो घटादि के आवरण हैं, वे तो घटादि से भिन्न देश में देखे जाते हैं, किन्तु इस प्रकार पिण्ड और कपाल घटादि से भिन्न देश में नहीं देखे जाते। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि पिण्ड और कपाल के संस्थान (स्वरूप) में विद्यमान ही घटादि की आवृत्ति होने के कारण उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि आवरण के धर्मों से उनमें विलक्षणता है— यदि ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती— ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दूध में मिले हुए जलादि की अपने आवरण दुग्धादि के साथ एकदेशता देखी जाती है। यदि कहो कि घटादि कार्य में उसके कपाल एवं चूर्णादि अवयवों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उनका आवरण है ही नहीं — तो यह ठीक नहीं, क्योंकि विभक्त होने पर कार्यान्तिर होने के कारण उन्हें आवरण मानना ठीक ही है।

पूर्व.— तब तो आवरण की निवृत्ति करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। यदि तुम्हारे कथनानुसार पिण्ड और कपल की अवस्थाओं में वर्तमान घटादि कार्य ही आवृत्ति होने के कारण उपलब्ध नहीं होता तब तो जिसे घटादि कार्य की आवश्यकता

हो उसे उसके आवरण के नाश करने का ही यत्न करना चाहिए, घटादि की उत्पत्ति का नहीं, किन्तु ऐसा किया नहीं जाता, इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि आवृत्त होने के कारण विद्यमान घटादि की ही उपलब्धि नहीं होई — ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह नियम नहीं है। आवरण के विनाश मात्र का प्रयत्न करने से ही घटादि की उत्पत्ति हो जायेगी — ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि अन्धकारादि से आवृत्त घटादि के प्रकाश के लिए प्रदीप आदि की उत्पत्ति में प्रयत्न किया जाता है।

पूर्व.— किन्तु वह प्रयत्न भी तो अन्धकार-नाश के लिए ही होता है। दीपकादि की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह भी अन्धकार की निवृत्ति के ही लिए होता है, उसकी निवृत्ति होने पर घट स्वयं ही दिखाई देने लगता है। इससे घट में कोई बात बढ़ायी नहीं जाती — ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रकाशयुक्त घट की ही उपलब्धि होती है। जिस प्रकार दीपक तैयार करने पर प्रकाशयुक्त घट की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार दीपक तैयार होने से पूर्व उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः अन्धकार की निवृत्ति के लिए ही दीपक नहीं जलाया जाता, तो और किसलिए जलाया जाता है? प्रकाश के लिए, क्योंकि प्रकाशयुक्त होने पर ही वस्तु की उपलब्धि होती है। कहीं-कहीं आवरण का नाश करने के लिए भी यत्न किया जाता है; जैसे मति आदि का नाश करने के लिए। अतः पदार्थ की अभिव्यक्ति के इच्छुक को आवरण के नाश का ही प्रयत्न करना चाहिए — ऐसा कोई नियम नहीं है।

इसके सिवा नियत व्यापार की सफलता के लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है। पहले बता चुके हैं कि व्याकरण में विद्यमान कार्य अन्य कार्य का आवरण होता है। ऐसी अवस्था में यदि पहले अभिव्यक्ति हुए कार्य पिण्ड के अथवा व्यवधानयुक्त कपाल के नाश का ही प्रयत्न किया जायेगा तो उनसे कपालिका (ठीकरी) या चूर्णादि कार्य की ही उत्पत्ति होगी। उससे आवृत्त होने पर भी घट की उपलब्धि नही होगी, इसलिए पुनः प्रयत्नान्तर की अपेक्षा रहेगी ही। अतः घटादि की अभिव्यक्ति के इच्छुक का नियत कारक व्यापार (कर्ता करण इत्यादि रूप से किया हुआ प्रयत्न) ही सफल होता है। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य विद्यमान ही है।

भूत और भविष्यत् प्रतीतियों के भेद से भी कार्य की सत्ता सिद्ध होती है। भूत घट, भविष्यत् घट इन प्रत्ययों का भी वर्तमान घट प्रत्यय के समान विषय-शून्य होना उचित नहीं है, क्योंकि भविष्यद् घट की उच्छा वाले पुरुष की प्रवृत्ति देखी जाती है। असत्पदार्थ की इच्छा से लोक में किसी की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। इसके सिवा योगियों का भूत और भविष्यत्संबंधी ज्ञान तो सत्य ही होता है। यदि भावी घट असत् माना जाये तो ईश्वर का भावी घट संबंधी प्रत्यक्ष ज्ञान भी मिथ्या होगा, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता।

इसके सिवा घट की सत्ता में हमने अनुमान प्रमाण भी दिया है। तथा उसकी सत्ता न मानने से विरोध भी आता है। यदि घट के लिए प्रवृत्त हुए कुम्हार आदि को प्रमाण से यह निश्चय हो गया है कि घट होगा तो जिस काल से 'घट का संबंध होगा' ऐसा कहा जाता है उसी काल में 'घट नहीं है' ऐसा कथन तो विपरीत ही है। 'भविष्यद् घट असत् है' इसका अर्थ तो यही है कि 'घट उत्पन्न नहीं होगा' जैसे कहा जाये कि 'यह घट विद्यमान नहीं है।' और यदि यह कहा जाये कि उत्पत्ति से पूर्व घट असत् है, और इस 'असत्' शब्द का यह अर्थ हो कि कुम्हार आदि के घट के लिए प्रवृत्त होने पर जिस प्रकार उस अवस्था में व्यापार-रूप से कुम्हार आदि विद्यमान हैं उस प्रकार घट नहीं है— तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। क्यों नहीं आता? क्योंकि अपने भावी रूप से तो घट विद्यमान है ही। पिण्ड के कपाल की वर्तमानता घट की नहीं हो सकती और घट की भविष्यता उन पिण्ड और कपाल की नहीं हो सकती। अतः कुम्हार आदि के व्यापार की वर्तमानता में 'उत्पत्ति से पूर्व घट असत् है' ऐसा कहना भी विरुद्ध नहीं है। किन्तु घट का जो भविष्यत्ता कार्यरूप स्वरूप है उसका यदि प्रतिषेध किया जाये तो उसके निषेध करने पर ही विरोध होगा। सो उसका तो आप निषेध करते नहीं हैं। तथा सम्पूर्ण क्रियावान् कारकों की एक ही वर्तमानता या भविष्यत्ता होती हो — ऐसी बात है नहीं।

इसके सिवा चार प्रकार के अभावों में घट का जो अन्योन्याभाव है वह घट से भिन्न ही देखा जाता है, जैसे घटाभाव पटादि ही है, घट का स्वरूप नहीं है। तथा घटाभाव होने से ही पट अभावरूप नहीं हो जाता, तो फिर क्या होता है? वह भावरूप ही रहता है। इसी प्रकार घट के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव भी घट से भिन्न ही है, क्योंकि घट के अन्योन्याभाव के समान घट के द्वारा उनका उल्लेख किया जाता है और उस [घट के आन्योन्याभाव पट की भावरूपता] के ही समान इन अभावों की भी भावरूपता है। ऐसा होने से 'घट का प्रागभाव है' इस कथन से यह सिद्ध नहीं होता कि उत्पत्ति से पूर्व घट का स्वरूप ही नहीं है।

और यदि 'घट का 'प्रागभाव' इस कथन में घट का जो स्वरूप है वही कहा जाये तो 'घट का' यह कथन ही नहीं बन सकता। यदि 'शिला के पुतले का शरीर' इस कथन के अनुसार कल्पना करके ऐसा कहा जाये तो भी 'घट का प्रागभाव' यह कथन 'घट' शब्द द्वारा कल्पित घट का ही अभाव कहा जाएगा, घट के स्वरूप का नहीं। और यदि घट से घटाभाव को भिन्न पदार्थ माना जाये तो इसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है।

एक बात और भी है। उत्पत्ति से पूर्व शशशृङ्ग के समान अभावरूप घट का अपने कारण की सत्ता से संबंध होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि संबंध तो दो ही में रहा करता है। यदि कहो कि अयुतसिद्ध पदार्थों में ऐसा दोष नहीं आता तो यह ठीक नहीं, क्योंकि भाव और अभाव का अयुतसिद्ध होना सम्भव नही है। जो पदार्थ भावरूप होते हैं उन्हीं की युतसिद्धता या अयुतसिद्धता हो सकती है, भाव

और अभाव अथवा दो अभावों की नहीं। अतः यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् ही है।

(3) ईश्वर का स्वरूप — इस विषय में विद्वानों का मतभेद है — किन्हीं का तो कथन है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कोई कहते हैं कि वह संसारी है।

प्रथम पक्ष — मन्त्राक्षरों से सिद्ध होने के कारण परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है। "उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं" इस श्रुति से तथा "यह ब्रह्मा है; यह इन्द्र है, यह प्रजापति (विराट्) है और यह सम्पूर्म देवगण हैं" इस श्रुति से, एवं "इस परमात्मा को कोई अग्नि, कोई मनु और कोई प्रजापति कहते हैं", "यह जो अतीन्द्रिया, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय और अचिन्त्य परमात्मा वही स्वयं प्रकट हुआ" इन स्मृतियों से यही सिद्ध होता है।

द्वितीय पक्ष — अथवा संसारी ही हिरण्यगर्भ होना चाहिए। जैसा कि "उसने समस्त पापों को दग्ध कर दिया" इस श्रुति से सिद्ध होता है, क्योंकि असंसारी परमात्मा के लिए तो पापदाह का प्रसंग ही नहीं है। इसके सिवा उसका भय और अरति के साथ संयोग भी सुना गया है, यहां यह भी कहा है कि "उसने स्वयं मर्त्य होकर भी अमृतों (देवताओं) की रचना की।" तथा "उसने उत्पन्न होने वाले हिरण्यगर्भ को देखा" इस मन्त्रवर्ण से भी यही सिद्ध होता है। और कर्मविपाक प्रक्रिया में "ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ), प्रजापतिगण, धर्म महत्तत्व और अव्यक्त — इन्हें मनीषिगण उत्तम सात्विकी गति बतलाते हैं" इत्यादि स्मृति भी है।

शङ्का — किन्तु इस प्रकार विरुद्ध अर्थ तो संगत नहीं हो सकता इसलिए इससे श्रुति के प्रामाण्य का विघात होता है।

समाधान — ऐसा मत कहो, क्योंकि एक अन्य कल्पना सम्भव होने के कारण इनमें अविरोध हो सकता है। उपाधि विशेष के संबंध से एक विशेष प्रकार की कल्पना होनी सम्भव है। "वह स्थिर होने पर भी दूर चला जता है, शयन-रत होने पर भी सब ओर जाता है, उस हर्ष और विषाद-युक्त देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है?" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उसका उपाधि के ही करण संसारित्व है, परमार्थतः नहीं। स्वतः तो वह असंसारी ही है।

इस प्रकार हिरण्यगर्भ का एकत्व भी है और नानात्व भी। इसी तरह सब जीवों का भी एकत्व नानात्व है, जैसा कि "तू वह है" इस श्रुति से सिद्ध होता है। हिरण्यगर्भ तो उपाधि की शुद्धि की अतिशयता की अपेक्षा से प्रायः परमात्मा ही है — ऐसी श्रुति-स्मृतिवादों की प्रवृत्ति है। वे उसका संसारित्व तो कहीं-कहीं ही दिखाते हैं। किन्तु जीवों का तो उपाधिगत अशुद्धि की अधिकता के कारण प्रायः संसारित्व ही बतलाया जाता है। तथा सम्पूर्ण उपाधिभेद के बाध की अपेक्षा से श्रुति और स्मृति के वादों द्वारा सबका परमात्वभाव से निरूपण किया जाता है।

जो शास्त्र का बल छोड़ चुके हैं तथा 'आत्मा है — नहीं है, वह कर्ता है— अकर्ता है' इस प्रकार बहुत से विरुद्ध तर्क करते हैं उन तार्किकों ने तो शास्त्र को

दुर्विज्ञेय कर दिया है, इससे उसके तात्पर्य का निश्चय होना कठिन हो गया है। किन्तु जो केवल शास्त्र का ही अनुसरण करने वाले और दर्पहीन पुरुष हैं उन्हें तो शास्त्र का देवतादि-विषयक अभिप्राय प्रत्यक्ष के समान निश्चित है।

(4) भावनात्रय का खंडन — [अब भावनात्रय क खंडन करते हैं] आत्मविज्ञान में आकांक्षा का अभाव होने के कारण भावना का भी अभाव है। तुमने जो कहा कि 'यजेतु' इत्यादि विधि में 'किसका, किसके द्वारा, किस प्रकार [यजन करे]' ऐसी भावना की आकांक्षा होने पर जैसे फल, साधन और इतिकर्तव्यता के द्वारा उस आकाँक्षा की निवृत्ति की जाती है उसी प्रकार यहाँ आत्मविज्ञान-संबंधी विधि में भी उसका होना सम्भव है, सो तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि "एकमेवाद्वितीयंब्रह्म", "तत्वमसि", "नेति-नेति", "अनन्तरमबाह्यम्", "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यदि वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होते ही सब प्रकार की आकांक्षाएं निवृत्त हो जाती है तथा वाक्यार्थ के ज्ञान में पुरुष विधि से प्रेरित होकर प्रवृत्त नहीं होता। उसमें विध्यन्तर का प्रयोग मानने से अनवस्था दोष आता है — यह हम ऊपर बतला चुके हैं। इसके सिवा "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य में विधि देखी भी नहीं जाती, क्योंकि उनका पर्यवसान तो आत्मस्वरूप के अनुवाद मात्र में ही हो जाता है।

पूर्व.— वस्तु-स्वरूप के अनुवद मात्र होने से तो उनकी अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। अर्थात् जैसे "सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रूद्रत्वम्" इत्यादि वाक्यों में वस्तु के स्वरूप का अनुवाद मात्र होने से उनकी प्रामाणिकता नहीं मानी जाती, उसी प्रकार आत्मविषयक वाक्यों की भी प्रामाणिकता नही है — ऐसी बात हो तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है क्योंकि उन अर्थवाद-वाक्यों से आत्मार्थ-वाक्यों की विशेषता है। वस्तु या क्रिया का अनुवाद ही वाक्य की प्रामाणिकता का अथवा अप्राणिकता का कारण नहीं है। तो फिर क्या है? निश्चित फल वाले विज्ञान को उत्पन्न करना। वह जिसमें है वही वाक्य प्रामाणिक है और जिसमें नहीं है वही अप्रामाणिक है।

सो, भाई! हम तुमसे यह पूछते हैं कि आत्मस्वरूप का निरूपण करने वाले वाक्यों से सफल और निश्चित विज्ञान उत्पन्न होता है या नहीं? यदि उत्पन्न होता है तो उनकी अप्रामाणिकता कैसे हो सकती है? क्या तुम उस विज्ञान का अविद्या, शोक, मोह और भय आदि संसार के बीजभूत दोषों की निवृत्तिरूप फल नहीं देखते? क्या तुम उस अवस्था में एकत्व देखने वाले को क्या मोह और क्या शोक है?" "[नारद कहते हैं —] भगवन्! वह मैं केवल ब्रह्मदेवा ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। शोक करता हूँ। ऐसे मुझको, हे भगवन्! शोक से पार कर दीजिए" इत्यादि प्रकार के सैकड़ों उपनिषद्-वाक्य नहीं सुनते? क्या 'सोऽरीदीत्' इत्यादि वाक्यों में इसी प्रकार निश्चित और सफल विज्ञान है? यदि नहीं तो भले ही उनकी अप्रामाणिकता रहे। उनकी अप्रामाणिकता से सफल और निश्चित विज्ञान उत्पन्न करने वाले वाक्यों

की अप्रामाणिकता क्यों होनी चाहिए? यदि उनकी अप्रामाणिकता मानी जाये तो दर्श-पूर्णमासादि-विषयक वाक्यों में ही क्या विश्वास किया जा सकता है?

पूर्व.— दर्श-पूर्णमासादि-वाक्यों की प्रामाणिकता तो पुरुष-प्रकृति-संबंधी विज्ञान के उत्पन्न करने वाले होने से है, आत्मविज्ञान-वि nयक वाक्यों में यह बात नहीं है।

सिद्धान्ती — ठीक है, ऐसा ही है; किन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्म-विज्ञान-विषयक वक्यों में भी प्रामाणिकता का युक्तियुक्त कारण उपलब्ध है। प्रामाणिकता का कारण जैसा ऊपर बताया गया है वही है, दूसरा नहीं। सब प्रकार की प्रवृत्ति के बीज का विरोध जिसका फल है — ऐसे विज्ञान का उत्पन्न करने वाला होना तो आत्मप्रतिपादक वाक्यों का भूषण है, यह उनकी अप्रामाणिकता का कारण नहीं हो सकता।

इसके सिवा यह जो कहा कि "आत्मा को जानकर तद्विषयक बुद्धि करे" इत्यादि वाक्य वाक्यार्थ-विज्ञान से अलग उपासना के लिए हैं; सो यह तो ठीक नहीं है; किन्तु यह अपूर्व विधि नहीं हो सकती, बल्कि एक पक्ष में प्राप्त होने वाली उपासना का नियम करने के लिए ही है।

पूर्व.— किन्तु एक पक्ष में उपासना की प्राप्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि ऊपर यह कहा जा चुका है कि परिशेषतः आत्मविज्ञान-संबंधिनी स्मृति का प्रवाह नित्य प्राप्त ही है।

सिद्धान्ती — ठीक है, यद्यपि ऐसा ही है; तथापि शरीरारम्भक कर्म का फल निश्चित होने के कारण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी ही है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुए बाण आदि की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान् है ही। अतः एक पक्ष में ज्ञान-प्रवृत्ति की दुर्बलता प्राप्त होती है। अतः त्याग वैराग्यादि साधनों के बल का आश्रय लेकर आत्मविज्ञान स्मृति के प्रवाह का नियमन ही करता है, उसे अपूर्व रूप से नहीं करना पड़ता, क्योंकि हम कह चुके हैं कि आत्मज्ञान होने पर वह प्राप्त है ही। अतः "विज्ञान प्रज्ञां कुर्बीत" इत्यदि वाक्य प्राप्त विज्ञान की स्मृति के प्रवाह की नियम-विधि के लिए ही है, क्योंकि उनका अन्य होना असम्भव है।

पूर्व.— किन्तु 'आत्मा' शब्द के आगे 'इति' शब्द क प्रयोग होने से यह अनात्मोपासना जान पड़ती है। जिस प्रकार 'प्रियमित्येतदुपासीत्' इत्यादि वाक्यों में प्रियादि गुण ही उपास्य नहीं है, तो फिर कौन उपास्य है? प्रियादि गुणवान् प्राणादि ही उपास्य है; उसी प्रकार यहाँ भी 'इति' जिसके आगे है ऐसे 'आत्मा' शब्द का प्रयोग होने से यही जान पड़ता है कि आत्मा के समान गुणों वाली अनात्म वस्तु ही उपास्य है।

इसके सिवा आत्मा का उपास्यत्व बतलाने वाले वाक्य से इसकी विलक्षणता होने के कारण भी यह वाक्य अनात्मोपासन संबंधी ही है। आगे श्रुति कहेगी "आत्मानमेव लोकमुपासीत।" वहाँ इस वाक्य में उपास्य रूप से आत्मा ही अभिप्रेत

है, क्योंकि 'आत्मानमेव' इस प्रकार 'आत्मानम्' पद में वहाँ द्वितीया सुनी जाती है; किन्तु यहाँ द्वितीया नहीं सुनी जाती और 'आत्मेत्येवोपासीत' इसमें 'आत्मा' शब्द के आगे 'इति' भी है। अतः यही ज्ञात होता है कि यहाँ 'आत्मा' उपास्य नहीं है, अपितु आत्मा के समान गुण वाला उससे भिन्न-अनात्मा ही उपास्य है।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वाक्यशेष में आत्मा ही उपास्यरूप से जाना गया है। इसी वाक्य के अन्त में उपास्य रूप से आत्मा ही जाना जाता है, यथा — "यह जो आत्मा है वही इस सम्पूर्ण जगत् का प्राप्तव्य है", "यह जो आत्मा है अन्तरतर है", "आत्मा ही को जानना" इत्यदि।

पूर्व.— किन्तु [शरीर के भीतर] प्रविष्ट आत्मा के दर्शन का प्रतिषेध होने से तो उसके अनुपास्यत्व सिद्ध होता है। जिस आत्मा का प्रवेश बतलाया गया है उसी के दर्शन का "तं न पश्यन्ति" इस वाक्य के 'तम्' पद से ग्रहण करके निषेध करते हैं। अतः आत्मा का अनुपास्यत्व ही सिद्ध होता है।

सिद्धान्ती — यह बात नहीं है, वह तो असम्पूर्णतारूप दोष के कारण है। अर्थात् आत्मा के दर्शन का प्रतिषेध तो उसमें असम्पूर्णता रूप दोष के अभिप्राय से है, आत्मा के उपास्यत्व का प्रतिषेध करने के अभिप्राय से नहीं है, क्योंकि प्राणनादि क्रिया विशिष्टत्व से उसे विशेषित किया गया है। यदि आत्मा का उपास्यत्व अभिप्रेत न होता तो "अकृत्स्नोह्येषोडत एकैकेन भवति" इस वाक्य से प्राणनादि एक-एक क्रिय से विशिष्ट नहीं है वह आत्मा तो पूर्ण होने के कारण उपास्य ही है।

तथा 'आत्म' शब्द का जो उसके आगे 'इति' शब्द लगाकर प्रयोग किया गया है वह आत्मतत्व को परमार्थतः आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय का अविषय सूचित करने के लिए है। नहीं तो श्रुति 'आत्मानमुपासीत्'— आत्मा की उपासना करे — ऐसा ही कहती। ऐसा कहने पर आत्मा में स्वतः ही आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय की विषयता अनुमोदित हो जाती है और ऐसा होना "यह नहीं है, यह नहीं है", "अरे मैत्रेयि! विज्ञाता को किससे जाने", "वह [स्वयं] अविज्ञात [किन्तु दूसरों का] विज्ञाता है", "जहाँ से वाणी उसे न पाकर मन के सहित लौट आती है" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार इष्ट नहीं है। और "आत्मरूप ही लोक की उपासना करें" ऐसी जो श्रुति है वह अनात्मोपासना के प्रसंग की निवृत्ति करने वाली होने से कोई भिन्न प्रकार का वाक्य नहीं है।

पूर्व.— किन्तु पूर्णतया ज्ञात न होने में समान होने के कारण तो आत्मा दोनों ही ज्ञातव्य है। फिर इनमें से "आत्मेत्येवोपासीत" इस वाक्य के अनुसार आत्मोपासना में ही यत्न करने की आस्था क्यों की जाये, अनात्मोपासना में क्यों नहीं?

सिद्धान्ती — इस पर हमारा कथन है कि इन सब में यह प्रकृत आत्मा ही पदनीय-गन्तव्य है, अन्य (अनात्मा) नहीं। 'अस्य सर्वस्य' इन पदों में निश्चयार्थिका षष्ठी है, इसका तात्पर्य 'अस्मिन् सर्वस्मिन्' (इस सब में) ऐसा है। 'यदयमात्मा' अर्थात् यह जो आत्मतत्व है [वह सब में गन्तव्य-ज्ञातव्य है]।

तो क्या अन्य ज्ञातव्य ही नहीं है? ऐसी बात नहीं है। तो क्या है? — वह ज्ञातव्य होने पर भी उसे आत्मज्ञान से भिन्न किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि इस आत्मा के जान लेने पर ही अन्य जो कुछ अनात्म जात है उस सभी को पुरुष जान लेता है।

पूर्व.— किन्तु अन्य पदार्थ के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान तो हुआ नहीं करता।

सिद्धान्ती — इसका निराकरण हम दुन्दुभ्यादि ग्रन्थ से करेंगे। किन्तु यह आत्मा पदनीय (गमनीय) किस प्रकार है? सो बतलाया जाता है — जिस प्रकार लोक में पद से — गौ आदि के खुर से अंकित देश 'पद' कहा जाता है, उस पद से — उस पद के द्वारा खोजने वाला पुरुष जिसको पाना अभीष्ट है ऐसे खोये हुए पशु को पा लेता है उसी प्रकार आत्मा के प्राप्त हो जाने पर पुरुष सभी पा लेता है— ऐसा इसका तात्पर्य है।

पूर्व.— किन्तु 'आत्मा को जानने पर अन्य सबको जान लेता है' इस प्रकार यहाँ ज्ञान का प्रसंग होने पर ['अनुविन्देत' इस पद से] जिसका कोई प्रसंग नहीं है उस लाभ की बात क्यों कही जाती है?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ज्ञान और लाभ इनकी एकार्थता ही विवक्षित है। अज्ञान ही आत्मा का अलाभ हैं, अतः ज्ञान ही आत्मा का लाभ है, अनात्मलाभ के समान आत्मलाभ अप्राप्त की प्राप्ति होना नहीं है, क्योंकि यहाँ लाभ करने वाले और लब्ध होने वाली वस्तु में कोई भेद नहीं है। जहाँ अनात्मा आत्मा का लब्धव्य होता है, वहाँ ही आत्मा उपलब्ध करने वाला और अनात्मा उपलब्ध होने योग्य होता है। वह अप्राप्त अर्थात् उत्पाद्यादि क्रियाओं से व्यवहित होता है तथा कारक विशेष के उपादान से क्रिया विशेष को उत्पन्न करके उसे प्राप्त करना होता है।

वह अनात्मा-लाभ तो मिथ्य-ज्ञान-जनित काम और क्रिया से उत्पन्न होने वाला होने के कारण स्वप्न में पुत्रादि लाभ के समान अप्राप्तिरूप और अनित्य होता है; किन्तु यह आत्मा तो उससे विपरीत स्वभाव वाला है। आत्मा ही होने के कारण यह उत्पाद्यादि क्रिया से व्यवहित नहीं है। नित्य प्राप्त स्वरूप होने पर भी अविद्या ही उसका व्यवधान है। जिस प्रकार विपरीत ज्ञानवश रजत रूप से भासनेवाली गृह्यमाण शुक्तिका (सीप) का अग्रहण विपरीत ज्ञानरूप व्यवधान वाला ही है तथा ज्ञान ही उसका ग्रहण है, क्योंकि वह ज्ञान विपरीत ज्ञान रूप व्यवधान की निवृत्ति करनेवाला है। इसी प्रकार यहाँ भी आत्मा का अलाभ अविद्यमान व्यवधान वाला ही है। अतः विद्या से उसे दूर कर देना ही आत्मा का लाभ करना है, इसके सिवा और किसी प्रकार का आत्मलाभ होना कभी सम्भव नहीं है। इसी से आत्मलाभ में हमने ज्ञान से भिन्न किसी अन्य साधन की व्यर्थता बतलाई है।

(5) ब्रह्मविद्या — क्या कहा? सो श्रुति बतलाती है— 'यद् ब्रह्मविद्यया' — ब्रह्म परमात्मा को कहते हैं, वह जिससे जाना जाता है वह ब्रह्मविद्या है, उस ब्रह्म विद्या से जो मनुष्य 'हम सर्व यानी अशेष हो जायेंगे ऐसा मानते हैं [उसके विषय

में पूछा'] यहाँ 'मनुष्य' पद का ग्रहण उनका विशेष रूप से ब्रह्मविद्या में अधिकार सूचित करने के लिए है। तात्पर्य यह है कि अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन में विशेषतः मनुष्यों का ही अधिकार है।

लोग जिस प्रकार कर्म-विषय में कर्मों से होने वाली जो फल-प्राप्ति है उसे निश्चित मानते हैं उसी प्रकार ब्रह्मविद्या से सर्वात्मभाव रूप फल की प्राप्ति भी निश्चित ही मानते हैं, क्योकि वेद की प्रमाणता दोनों ही के विषय में समान है। किन्तु [ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है] यह बात विपरीत-सी जान पड़ती है, इसलिए हम पूछते हैं कि वह ब्रह्म क्या है जिसके विज्ञान से मनुष्य 'सर्वरूप हो जायेंगे' ऐसा मानते हैं और उसने क्या जाना, जिस विज्ञान से वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया।

ब्रह्म सर्वरूप है — यह तो सुना ही जाता है। वह यदि कुछ न जानकर ही सर्वरूप हुआ है तो दूसरों के लिए भी ऐसी बी बात होनी चाहिए, फिर ब्रह्मविद्या से क्या लाभ है? और यदि वह जानवर सर्वरूप हुआ है तो विज्ञान-साध्य होने के कारण उसकी सर्वात्मा कर्मफल के समान ही है — इससे ब्रह्मविद्या के फलभूत सर्वात्मत्व की अनित्यता का प्रसंग आता है। तथा वह अपने से भिन्न पदार्थ को जानकर सर्व हुआ और इससे पहले भी किसी अन्य को जानकर सर्व हुआ था — इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होता है। किन्तु वह न जानकर तो सर्व हुआ नहीं, क्योंकि इससे शास्त्र की व्यर्थता का दोष आता है। तो फिर फल की अनित्यता का दोष रहा? नहीं, इससे विशेष प्रयोजन सम्भव होने के कारण एक भी दोष नहीं होगा।

यदि वह ब्रह्म कुछ जानकर सर्व हुआ तो हम पूछते हैं — 'उस ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सर्व हुआ?' ऐसा प्रश्न होने पर श्रुति, जिसमें किसी भी प्रकार के दोष की गन्ध नहीं है, उत्तर देती है —

यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से अपरब्रह्म समझना चाहिए, क्योंकि उसी का सर्वरूप होना विज्ञान-साध्य हो सकता है। परब्रह्म का सर्वभाव को प्राप्त होना विज्ञान साध्य नहीं है, और 'इसी से यह सर्वरूप हो गया' इस वाक्य से श्रुति सर्वभाव प्राप्ति को विज्ञान-साध्य बतलाती है। अतः 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस वाक्य में 'ब्रह्म' पद अपर ब्रह्म का वाचक होना चाहिए।

अथवा यहाँ मनुष्य का अधिकरण होने से 'ब्रह्म' शब्द से ब्रह्मरूपता को प्राप्त होने वाला ब्राह्मण समझा जा सकता है। 'सर्वभविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते' इस वाक्य से यहाँ मनुष्यों का प्रसंग है, क्योंकि उन्हीं का अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन मे विशेष रूप से अधिकार है — ऐसा ऊपर कहा गया है; परब्रह्म या अपर ब्रह्म प्रजापति का नहीं। अतः कर्म-सहित द्वैतैकत्व रूप अपर ब्रह्म विद्या के द्वारा अपर ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ, हिरण्यगर्भ-संबंधी भोगों से विरक्त एवं सब प्रकार के कर्मफल प्राप्त होने के कारण जिसका काम और कर्मरूप बन्धन नष्ट हो गया है वह पर ब्रह्म भाव को प्राप्त होने वाला पुरुष ब्रह्मविद्या के कारण 'ब्रह्म' इस शब्द से कहा गया है। लोक में भी भाविनी वृत्ति को आश्रित करके शब्द का प्रयोग

होता देखा गया है, जैसे 'भात पकाता है' इस वाक्य में। तथा शास्त्र मे भी — 'संन्यासी समस्त भूतों को अभयरूप दक्षिणा [देकर संन्यास करे]' इत्यादि वाक्यों में ऐसा ही प्रयोग है। उसी प्रकार यहाँ भी 'ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला ब्राह्मण ही 'ब्रह्म' है, ऐसी व्याख्या कुछ लोग करते हैं।

किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे सर्वभाव-प्राप्ति को अनित्यत्व का दोष प्राप्त होगा। लोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो वास्तव में किसी निमित्त वश भावान्तर को प्राप्त होती हो और नित्य भी हो। इसी प्रकार यदि सर्वभाव की प्राप्ति भी ब्रह्म-विज्ञान रूप निमित्त से होने वाली हो तो वह निक्य भी है — ऐसा कहना विरुद्ध है। और यदि उसे अनित्य माना जाये तो वह भी कर्मफल के ही समान हुई [उसमें कोई विशेषता न रही] — यह दोष बतलाया जा चुका है।

यदि तुम अविद्याकृत असर्वत्व की निवृत्ति को ही ब्रह्मविद्या का सर्वभाव प्राप्ति रूप फल मानते हो तो ['ब्रह्म' शब्द के अर्थ में'] ब्रह्म होने वाले पुरुष की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने से पूर्व भी सब जीव ब्रह्मरूप ही होने के कारण सदा ही परमार्थतः सर्वभाव को प्राप्त हैं। अब्रह्मत्व और असर्वत्व तो अविद्या से ही आरोपित है। जैसे शुक्ति में चांदी और आकाश में तलमालिन्यादि आरोपित है, उसी प्रकार यहाँ ब्रह्म में अविद्या से आरोपित अब्रह्मत्व और असर्वत्व की ब्रह्मविद्या से निवृत्ति हो जाती है — ऐसा यदि तुम मानते हो तब तो यही कहना उचित है कि 'जो परमार्थतः ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थभूत पर ब्रह्म है वही 'ब्रह्मवा इदमग्र आसीत्' इस वाक्य में कहा गया है' क्योंकि वेद यथार्थवादी है। अतः 'ब्रह्म' शब्द से ब्रह्म शब्द के अर्थ से विपरीत ब्रह्म होने वाला पुरुष कहा गया है — ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि जब तक दूसरा कोई बहुत बड़ा प्रयोजन न हो, श्रुत अर्थ को छोड़ना और अश्रुत की कल्पना करना अन्याय है।

यदि कहो कि अविद्याकृत नहीं, वस्तुतः अब्रह्मत्व और असर्वत्व है ही, तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसकी ब्रह्मविद्या द्वारा निवृत्ति होनी असंभव होगी। ब्रह्मविद्या साक्षात् रूप से किसी वस्तु के धर्मों का लोप या प्रादुर्भाव करने वाली कभी नहीं देखी गयी। किन्तु यह अविद्या की सर्वत्र ही निवृत्ति करने वाली देखी जाती है। इसी प्रकार यहाँ भी अविद्याकृत जो अब्रह्मत्व और असर्वत्व है, उसकी ही ब्रह्मविद्या से निवृत्ति होनी चाहिए। ब्रह्मविद्या पारमार्थिक वस्तु को पैदा करने या निवृत्त करने में तो समर्थ है नहीं। इसलिए श्रुत अर्थ को छोड़ना और अश्रुत की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

पूर्व.— किन्तु ब्रह्म में अविद्या होना तो असंगत है?

सिद्धान्ती — ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्म में विद्या का विधान किया गया है। यदि शुक्ति में चांदी का अध्यारोप न हो तो उसके नेत्रेन्द्रिय के विषय होने पर 'यह मुक्ति है चांदी नही है' इस प्रकार उसके शुक्तित्व का ज्ञान नहीं कराया जाता। इसी प्रकार यदि ब्रह्म में अविद्या का आरोप न होता तो "यह सब सत् ही है",

"यह सब ब्रह्म ही है", "यह सब आत्मा ही है" यह अब्रह्म-रूप द्वैत नहीं है" इस प्रकार ब्रह्म में एकत्व-ज्ञान का विधान नहीं किया जा सकता।

पूर्व.— हम यह नहीं कहते कि शुक्ति में रजत के समान ब्रह्म में अब्रह्म के धर्मों का आरोप नहीं है, तो फिर क्या कहते हैं? हमारा कथन तो यह है ब्रह्म अपने में अब्रह्म-धर्मों के आरोप का निमित्त और अविद्या करने वाला नहीं है।

सिद्धान्ती — यह हो सकता है कि ब्रह्म अविद्या का कर्ता और भ्रान्त नहीं है, किन्तु अविद्या का कर्ता कोई अन्य अब्रह्म-भ्रान्त चेतन है— ऐसा भी नहीं माना जाता, जैसा कि "इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है", "इससे भिन्न कोई जानने वाला नही है", "वह तू है", अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ", "यह अन्य है और मैं अन्य हूँ— ऐसा जो जानता है वह नहीं जानता" इत्यादि श्रुतियों से "जो समस्त भूतों में मुझे समभाव से स्थित [देखता है]", "हे गुडाकेश! मैं आत्मा हूँ", "कुत्ते और चाण्डाल में", "जो समस्त भूतों को [अपने ही में देखता है]" इत्यादि स्मृतियों से और "जिस अवस्था में सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं" इस मंत्रवर्ण से भी सिद्ध होता है।

पूर्व.— किन्तु इस प्रकार तो शास्त्रोपदेश की व्यर्थता प्राप्त होती है।

सिद्धान्ती — हाँ ऐसा ही है, तत्वज्ञान होने पर तो उसकी व्यर्थता होगी ही।

पूर्व.— किन्तु इससे तो ज्ञान की भी व्यर्थता सिद्ध होती है।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि उससे अज्ञान की निवृत्ति होती देखी जाती है।

पूर्व.– ब्रह्म का एकत्व मानने पर तो उसकी निवृत्ति भी सङ्गत नही है — ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती— ऐसा मत कहो, क्योंकि इससे दृष्ट-विरोध आता है। एकत्व ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती देखी जाती है। दिखलाई देने पर भी वह अनुपन्न ही है— ऐसा कहने पर तो दृष्ट-विरोध ही होगा और दृष्ट-विरोध को कोई भी स्वीकार नहीं करता। कोई भी विषय दिखाई देने पर वह दृष्टिगोचर (अनुभूत) होने के कारण ही अनुपन्न नहीं हो सकता। यदि कहो कि दर्शन (अनुभव) की भी अनुपपत्ति हो सकती है, तो उसमें भी यही युक्ति है।

पूर्व.— "पुण्य कर्म के द्वारा पुरुष होता है", "पुरुष की उपासना और कर्म उसका [परलोक में] अनुसरण करते हैं", "मनन करने वाला, ज्ञाता, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष है" इत्यादि श्रुति, स्मृति और न्याय से संसारी जीव परमात्मा से भिन्न ज्ञाता होता है। तथा उससे विलक्षण परमात्मा "वह यह (कार्य) नहीं है, [कारण] नहीं है" "क्षुधादि का उल्लंघन किए हुए है", "जो आत्मा निष्पाप, जराशून्य और मृत्युहीन निश्चित इस अक्षर के प्रकृष्ट शासन में" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। कणाद और गौतमादि के तर्कशास्त्रों में युक्ति से संसारी जीव से पृथक् ईश्वर सिद्ध किया जाता है। संसार दुःख की निवृत्ति के प्रयोजन से जीव की प्रवृत्ति देखी जाने के कारण ईश्वर से जीव का अत्यन्त स्पष्टतया ज्ञात होता है,

जैसा कि [आत्मा] ''वाक-रहित और सम्भ्रम-शून्य है'' इस श्रुति से और ''हे पार्थ! मेरा कोई कर्तव्य नहीं है'' इस स्मृति से सिद्ध होता है।

इसके सिवा ''वह अन्वेषण करने योग्य और विशेष रूप से जिज्ञासा करने योग्य है'', ''उसे जानकर लिप्त नहीं होता'', ''ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है'', ''इसे एकरूप से ही देखना चाहिए'', ''हे गार्गी! जो कोई इस अक्षर को न जानकर'', ''बुद्धिमान् पुरुष उसे ही जानकर'', ''प्रणव धनुष है, आत्मा (मन) बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है'', इत्यादि वाक्यों से जीव और ईश्वर का कर्तृत्व बतलाये जाने से भी [उनमें भेद सिद्ध होता है]।

तथा मुमुक्षु के लिए [देवयानादि] गति और [अर्चिरापि] मार्ग विशेष का उपदेश होने के कारण भी [ऐसा ही जान पड़ता है]। यदि भेद न हो तो किसका कहाँ से गमन होगा? और गति का अभाव माना जाये तो दक्षिणायन-उत्तरायण संज्ञक मार्ग विशेषों की तथा गन्तव्य देश की उपपत्ति नहीं हो सकती। परमात्मा से भिन्न आत्मा के लिए तो यह सभी उपपन्न हो सकता है।

कर्म और ज्ञान रूप साधनों का उपदेश होने के कारण भी [उनका भेद है] यदि संसारी जीव ब्रह्म से भिन्न होगा तभी उसके लिए भोग और मोक्ष के साधन भूत कर्म और ज्ञान का उपदेश हो सकेहा, ईश्वर को इनका उपदेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो आप्तकम है। अतः यही ठीक है कि 'ब्रह्म' शब्द से भविष्य में ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला पुरुष ही कहा गया है — ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती— ऐसी बात नहीं है, क्योंकि तब तो ब्रह्मोपदेश की ही व्यर्थता का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। यदि भविष्य में ब्रह्मभाव को प्राप्त होने वाला संसारी ही अब्रह्म होते हुए अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जानकर सर्वरूप हो गया तो उसे संसारी जीव के विज्ञान से ही सर्वात्मभाव रूप फल प्राप्त होने के कारण पर ब्रह्मोपदेश की निश्चय ही व्यर्थता हुई।

पूर्व.— ब्रह्मज्ञान का कहीं पुरुषार्थ के साधन में विनियोग न होने के कारण संसारी जीव को ही ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार ब्रह्मभाव सम्पादन कराने के लिए उपदेश हो तो? ब्रह्म का स्वरूप अच्छी तरह जाने बिना ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस उपदेश से संसारी जीव क्या संपादन कर सकता है? क्योंकि ब्रह्म के लक्षणों का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो जाने पर ही [ब्रह्मरूपता का] सम्पादन किया जा सकता है।

सिद्धान्ती— ऐसी बात नहीं है। ''यह आत्मा ब्रह्म है'' ''जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है'', ''जो आत्मा अपहतपाप्मा'', ''वह सत्य है, वह आत्मा है'', तथा ''ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है'' इस प्रकार प्रसङ्ग उठाकर ''उस इस आत्मा से [आकाश उत्पन्न हुआ]'' इत्यादि सहस्त्रो श्रुतियों से 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्दों का समानाधिकरण्य देखे जाने से इनक एक ही अर्थ है— यह बात ज्ञात होती है। तथा एक पदार्थ से दूसरे के भिन्न होने पर ही [उसकी तद्रूपता का] सम्पादन किया जाता है, एक होने पर नहीं। किन्तु ''यह जो कुछ है सब आत्मा है'' यह श्रुति

इस प्रकृत द्रष्टव्य आत्मा का एकत्व दिखलाती है। अतः आत्मा के लिए ब्रह्मत्व-सम्पादन करना उपपन्न नहीं है।

इसके सिवा ब्रह्मोपदेश का कोई दूसरा प्रयोजन भी जाना नहीं जाता, क्योंकि 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है'', ''हे जनक! निश्चय तू अभय को प्राप्त हो गया है'', [जो ब्रह्म को इस प्रकार जानता है] वह निर्भय ब्रह्म हो जाता है।'' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म की प्राप्ति सुनी गयी है। यदि आत्मा की ब्रह्म-संपत्ति विवक्षित होती तो उसे ब्रह्मत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती थी, क्योंकि एक वस्तु का अन्य भाव हो जाना संभव नहीं है।

पूर्व.— श्रुति का वचन होने के कारण ब्रह्म-संपत्ति से भी ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो सकती है — ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती— ऐसा मानना ठीक नहीं , क्योंकि सम्पत्ति तो केवल प्रत्यय (प्रतीति) मात्र होती है। विज्ञान तो मिथ्याज्ञान का निवर्तक होने के सिवा और कुछ करने वाला है नहीं — ऐसा हम पहले कह चुके हैं। शास्त्रवचन किसी वस्तु में कोई सामर्थ्य पैदा करने वाली नहीं होता, क्योंकि शास्त्र केवल ज्ञापक है, कारक नहीं— यही वास्तविक स्थिति है। ''वह यह ब्रह्म इसमें प्रविष्ट हुआ'' इत्यादि वाक्यों में परमात्मा का ही [शरीर में] प्रवेश निश्चय किया गया है। अतः 'ब्रह्म' यह ब्रह्म भावी पुरुष का वाचक है — ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है।

इसके सिवा इष्ट अर्थ का बाध होने के कारण भी [इससे ब्रह्म भावी पुरुष अभिप्रेत नहीं है] नमक के ढेले के समान ब्रह्म अविच्छिन्न, अबाह्य और एकरस है— यह विज्ञान ही समस्त उपनिषदों में प्रतिपादन के लिए अभीष्ट विषय है। ''इत्यनुशासनम्'' और ''एतावदरे खल्वमृतत्वम्'' इन वाक्यों से इस उपनिषद् के दो काण्डों के अन्त में निर्णय करने से भी यही ज्ञात होता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण शाखाओं के उपनिषदों में भी ब्रह्मैकत्व — विज्ञान ही निश्चित अर्थ है, वहाँ यदि ऐसी कल्पना की जाये की ब्रह्म से भिन्न संसारी जीव ने अपने को ही जाना तो इष्ट अर्थ का बाध होगा। इससे 'उपक्रम और उपसंहार में विरोध होने के कारण शास्त्र असंगत है' ऐसी कल्पना हो जायेगी।

व्यपदेश (नाम) की अनुपपत्ति होने से भी [संसारी जीव 'ब्रह्म शब्द का वाच्य नहीं हो सकता]। यदि 'आत्मानमेवावेत्' इस वाक्य में 'जानना' इस क्रिया का कर्ता संसारी जीव माना जाये तो इस विद्या का 'ब्रह्मविद्या' यह नाम नहीं हो सकता; क्योंकि ''अपने को ही जाना' इस वाक्य के अनुसार [संसारी जीव का] स्वयं संसारी जीव ही वेद्य होना संभव है। यदि कहो कि 'आत्मा' इस शब्द से कहा हुआ वेद्य वेत्ता से भिन्न बतलाया गया है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उसे 'मैं ब्रह्म हूँ? इस प्रकार (अहंरूप से) विशेषित किया गया है। यदि वेद्य वेत्ता से भिन्न होता तो उसे 'यह' अथवा 'वह' कहकर विशेषित किया जाता है 'मैं हूँ' ऐसा कहकर नहीं। 'मैं हूँ' इस प्रकार विशेषित करने से और अपने को ही 'जाना' ऐसा निश्चय करने से यह

निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि स्वयं आत्मा ही ब्रह्म है। ऐसा होने पर ही इस विद्या का 'ब्रह्मविद्या' यह नाम उपपन्न हो सकता है और किसी प्रकार नहीं। अन्यथा मानने पर तो इसका नाम 'संसारविद्या' होगा। जिस प्रकार विरुद्ध होने के कारण अन्धकार और प्रकाश ये दोनों ही सूर्य के धर्म नहीं हो सकते उसी प्रकार एक ही आत्मा के ब्रह्मत्व और अब्रह्मत्व ये दोनों धर्म परमार्थतः उपपन्न नहीं हो सकते।

इसके सिवा यदि प्रस्तुत विज्ञान के यो दोनों ही निमित्त हों तो भी उसका 'ब्रह्मविद्या' यह निश्चित व्यपदेश उपपन्न नहीं है। उस अवस्था में वह ब्रह्मविद्या और संसारिविद्या भी कहलायेगी। और तत्वज्ञान की निरूपण करना अभीष्ट होने पर वस्तु के विषय में अर्थजातीय कल्पना करनी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा करने पर सुनने वाले को संदेह होगा। पुरुषार्थ का साधन तो निश्चित ज्ञान ही माना जाता है; जैसा कि "जिसका ऐसा निश्चय है और जिसे इस विषय में कोई संदेह भी नहीं है [उसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है]" इस श्रुति से और "संशयात्मा नष्ट हो जाता है" इस स्मृति से सिद्ध होता है। अतः दूसरों का हित चाहने वाले पुरुष को वाक्य का संशय युक्त अर्थ नहीं करना चाहिए।

पूर्व.— किन्तु 'उसने अपने को ही जाना [कि मैं ब्रह्म हूँ] अतः वह सर्व हो गया' इस वाक्य के अनुसार हम लोगों की तरह ब्रह्म में साधकत्व की कल्पना करनी तो अच्छी नहीं है?

सिद्धान्ती— ऐसा न कहो, क्योंकि उपालम्भ शास्त्र के लिए है। यह हमारी कल्पना नहीं है, अपितु शास्त्र की की हुई है, अतः यह शास्त्र के ही लिए उपालम्भ है। और ब्रह्म का इष्ट करने की इच्छा वाले पुरुष को शास्त्र के अर्थ से विपरीत कल्पना करके उसके अर्थ का परित्याग नहीं करना चाहिए। आपके लिए इतनी अक्षमा उचित नहीं है। सारा नानात्व ब्रह्म में कल्पित ही है। "उसे एक रूप ही देखना चाहिए", "यहाँ नाना कुछ भी नहीं है" "जहाँ द्वैत-सा होता है", "एकही अद्वितीय ब्रह्म है" इत्यदि सैकड़ों वाक्यों से यही बात कही गयी है। ब्रह्म में तो सारा ही लोकव्यवहार कल्पित ही है, यह परमार्थतः सत् नहीं है, अतः 'यही कल्पना अच्छी नहीं है' यह तो तुम बहुत छोटी बात कहते हो।

अतः जो सृष्टिकर्ता ब्रह्म प्रविष्ट हुआ था, वही यह ब्रह्म है। 'ब्रह्मवै' इसमें 'वै' शब्द निश्चयार्थक है। 'इदम्' अर्थात् यह जो शरीर में स्थित दिखाई देता है 'अग्रे'— बोध होने से पूर्व भी ब्रह्म ही था तथा यह सर्व भी था। किन्तु अज्ञानवश आत्मा में 'मैं ब्रह्म हूँ, असर्व हूँ' ऐसा आरोप कर लेने से "मैं कर्ता हूँ, क्रियावान हूँ, फलों का भोक्ता हूँ, सुखी हूँ और संसारी हूँ' ऐसा अध्यारोप कर लेता है। वस्तुतः तो वह उससे विलक्षण ब्रह्म और सर्वरूप ही है। उसने दयालु आचार्य द्वारा किसी प्रकार 'तू संसारी नही है' ऐसा बोध कराये जाने पर स्वाभाविक आत्मा को ही जाना। 'आत्मानमेव' इसमें 'एव' शब्द का यह अभिप्राय है कि 'उसने अविद्या द्वारा आरोपित विशेष से रहित निर्विशेष आत्मा को जाना।'

पूर्व.— अच्छा, बताओं वह स्वाभाविक आत्मा कौन है? जिसे ब्रह्मा ने जाना।

सिद्धान्ती— क्या तुम्हें आत्मा का स्मरण नहीं रहा उसे 'जो यह शरीर में प्रवेश करके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान की क्रियायें करता है वह आत्मा है' इस प्रकार प्रदर्शित किया था।

पूर्व.— किन्तु 'वह गौ है, वह घोड़ा है। इत्यादि रूप से तुम उसका नाम निर्देश तो करते हो, परन्तु आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं दिखाते।'

सिद्धान्ती — तो फिर ऐसा समझो कि जो द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता हैं, वह आत्मा है।

पूर्व.— किन्तु यहाँ भी तुम दर्शनादि क्रिया करने वाले का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं दिखाते। जाना ही जाने वाले का और छेदन ही छेदन करने वाले का स्वरूप नहीं है।

सिद्धान्ती— तो फिर जो दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता और विज्ञाति का विज्ञाता है, वही आत्मा है — ऐसा समझो।

पूर्व.— किन्तु इससे द्रष्टा में क्या विशेषता हुई? चाहे दृष्टि का द्रष्टा हो, चाहे घट का द्रष्टा, वह तो सब तरह से द्रष्टा ही रहा। दृष्टि का द्रष्टा कह कर तो आप केवल द्रष्टव्य में ही विशेषता बतलाते हैं। द्रष्टा तो चाहे दृष्टि का हो चाहे घट का, द्रष्टा द्रष्टा ही है।

सिद्धान्ती— ऐस मत कहो, क्योंकि घट-द्रष्टा और दृष्टि-द्रष्टा का भेद संभव है। यहाँ एक भेद है — जो दृष्टि का द्रष्टा है वह, यदि दृष्टि होती है तो, उसे नित्य ही देखता है। ऐसा नहीं होता कभी द्रष्टा को दृष्टि न भी दिखाई पड़े। उस अवस्था में द्रष्टा की दृष्टि नित्य होनी चाहिए। यदि द्रष्टा की दृष्टि अनित्य होगी तो उसकी दृश्यभूता जो दृष्टि है वह कभी नहीं भी देखी जायेगी, जैसे कि अनित्य दृष्टि से घटादि वस्तु। किन्तु उसके समान दृष्टि का द्रष्टा कभी दृष्टि को न देखता हो — ऐसी बात नहीं है।

पूर्व.— तो क्या द्रष्टा की दो दृष्टियाँ हैं — एक नित्य और अदृश्य तथा अनित्य और दृश्य?

सिद्धान्ती — हाँ, लोक में अन्धत्व और अनन्धत्व दोनों देखे जाने से अनित्य दृष्टि तो प्रसिद्ध ही है। यदि यह दृष्टि नित्य ही होती तो सब अनन्ध नेत्रवान ही होते। किन्तु "द्रष्टा की दृष्टि का भी लोप नहीं होता" इस श्रुति के अनुसार द्रष्टा की दृष्टि तो नित्य है। यह बात अनुमान से भी सिद्ध होती है। अन्धे पुरुष की भी स्वप्न में घटाभासादि विपयिणी दृष्टि देखी जाती है। वह दृष्टि अन्य (नेत्र संबंधिनी) दृष्टि का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होती। वह द्रष्टा की दृष्टि है। उस कभी लुप्त न होने वाली स्वयंज्योति-सञ्ज्ञिका स्वरूप-भूता नित्य से स्वपन और जाग्रत अवस्थाओं में रहने वाली वासना प्रत्यय रूपा दृष्टि को नित्य ही देखते रहने के कारण वह दृष्टि का द्रष्टा होता है। ऐसा होने के कारण अग्नि की उष्णता के समान

दृष्टि ही आत्मा का स्वरूप है। कणाद-मतावलम्बियों की मान्यता के समान दृष्टि से भिन्न कोई अन्य चेतन द्रष्टा नहीं है।

उस ब्रह्म से जो अन्य आरोपित अनित्य दृष्टि आदि से रहित है, उस नित्य दुग्रूप आत्मा को ही अवेत् — जाना।

पूर्व— किन्तु ''विज्ञान शक्ति के विज्ञाता को तुम नहीं जान सकते'' ऐसी श्रुति होने से विज्ञाता (आत्मा) को जानना तो विरुद्ध कथन जान पड़ता है।

सिद्धान्ती– ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार के विज्ञान से इस श्रुति का विरोध नहीं होता। 'वह दृष्टि का द्रष्टा है' इस प्रकार तो वह जाना ही जाता है। इसके सिवा अन्य ज्ञान की अपेक्षा न होने के कारण भी [इस कथन में विरोध नहीं है]। द्रष्टा की दृष्टि नित्य ही है — ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस दृष्टि को विषय करने वाली किसी अन्य दृष्टि की अपेक्षा नहीं होती। बल्कि इससे तो द्रष्टा को विषय करने वाली दृष्टि की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, क्योंकि उसका होना असम्भव ही है। जो वस्तु विद्यमान नहीं होती उसके लिए किसी की आकांक्षा नहीं हुआ करती। कोई भी दृश्यभूता दृष्टि द्रष्टा को विषय करने में समर्थ नहीं है, जिससे कि उसकी आकांक्षा की जाये और अपने स्वरूप के विषय में अपने ही आकांक्षा हुआ नहीं करती। अतः 'आत्मा को जाना' इस वाक्य से अज्ञान के आरोप की निवृत्ति का ही निरूपण किया गया है, आत्मा को विषय करना नहीं बताया गया।

उस ब्रह्म ने किस प्रकार जाना? सो श्रुति बतलाती है, मैं दृष्टि का द्रष्टा आत्मा ब्रह्म हूँ — ऐसा जाना।

ब्रह्म अर्थात् जो सक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर आत्मा, क्षुधादि विकारों से रहित, 'नेति-नेति' वाक्य प्रतिपादित, अस्थूल, असूक्ष्म इत्यादि प्रकार के लक्षणों वाला है, वही मैं हूँ; जैसा कि आप कहते हैं मैं अन्य यानी संसारी नही हूँ। अतः इस प्रकार के विज्ञान से वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया। अर्थात् अब्रह्म रूप अध्यारोप के बाध से उसके कार्यभूत असर्वत्व की निवृत्ति हो जाने से वह सर्वरूप हो गया। अतः मनुष्य जो ऐसा मानते हैं कि ब्रह्मविद्या के द्वारा हम सर्वरूप हो जायेंगें वे उचित ही हैं। इस प्रकार यह तो पूछा गया था कि 'उस ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सर्व हो गया' उसका 'पहले यह ब्रह्म ही था; उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, अत; वह सर्व हो गया' इस वाक्य से निर्णय दिया गया।

अतः देवताओं में से जिस-जिसने आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जाना वही बोधवान् आत्मा अर्थात् ब्रह्म हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में भी हुआ। यहाँ 'देवानाम्' इत्यादि जो कथन है वह लोक-दृष्टि को लेकर है, ब्रह्मत्व-बुद्धि से ऐसा नहीं कहा जाता, क्योंकि 'पुरुष ने शरीर-रूप पुर में प्रवेश किया' इस वाक्य से हम बतला चुके हैं कि सर्वत्र ब्रह्म ही अनुप्रविष्ट हुआ। अतः शरीरादि उपाधिजनित लोक-दृष्टि की अपेक्षा से 'देवानाम्' इत्यादि कहा गया है। परमार्थतः

तो पहले उन-उन देवादि-शरीरों में बोध होने से पूर्व अन्य रूप से भावना किया जाता हुआ ब्रह्म ही था। उसने आत्मा को जाना और उसी प्रकार सर्वरूप हो गया।

इस ब्रह्मविद्या का फल सर्वभाव की प्राप्ति है। इसी बात को दृढ़ करने के लिए श्रुतिमन्त्र उद्धृत करती है। उस ब्रह्म को इस प्रकार देखने वाले अर्थात् अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' — ऐसा समझने वाले वामदेव नामक ऋषि को इस ब्रह्म के दर्शन से ही यह प्रतिपत्ति हुई — यह ज्ञान हुआ। इस ब्रह्मत्म-दर्शन में स्थित होकर उसने इस 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादि मन्त्रों का साक्षात्कार किया।

'तदेतद्ब्रह्म पश्यन' इस वाक्य से श्रुति ब्रह्मविद्या का परामर्श करती है तथा 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादि वाक्य से ब्रह्मविद्या के फल सर्वभाव की प्राप्ति का परामर्श करती है। ब्रह्म को देखने वाले वामदेव ऋषि सर्वात्मभाव फल को प्राप्त हुए— इस प्रयोग से वह मोक्ष को ब्रह्मविद्या के सहायभूत साधनों से साध्य दिखलाती है, जैसे कि भोजन करने वाला तृप्त होता है।

ब्रह्मविद्या के द्वारा इस सर्वभाव की प्राप्ति देवादि महापुरुषों को उनके विशेष सामर्थ्य होने के कारण हो गयी थी। अब वर्तमान युग के प्राणियों को और उनमें भी अल्प वीर्य होने के कारण मनुष्यों को उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती— यदि ऐसा किसी का विचार हो तो उसे निवृत्त करने के लिए श्रुति कहती है —

उस प्रकृत ब्रह्म को जो समस्त भूतों में अनुप्रविष्ट है तथा दृष्टिक्रियादि जिसके लिंग हैं, इस समय अर्थात् इस वर्तमान काल मे भी जो कोई बाह्य विषयों की अभिलाषा से मुक्त होकर आत्मा को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानता है अर्थात् उपाधि-जनित मिथ्या होने से आरोपित विशेषों का बाध कर जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं जिसमें संसार धर्मों की गन्ध भी नहीं है ऐसा अन्तर बाह्यशून्य शुद्ध ब्रह्म ही हूँ, वह अविद्याकृत असर्वत्व की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा यह सर्व हो जाता है। महान् प्रभावशाली वामदेवादि अथवा मन्द वीर्य आधुनिक पुरुषों में ब्रह्म अथवा उसके विज्ञान का कोई अन्तर नहीं है।

आधुनिक पुरुषों में ब्रह्मविद्या के फल की अनिश्चितता की शंका की जाती है, अतः श्रुति कहती है — महाप्रभावशाली देवगण भी उपर्युक्त विधि से उस ब्रह्म को जानने वाले की अभूति का अर्थात् ब्रह्मरूप सर्वभाव को न होने देने का सामर्थ्य नहीं रखते, फिर औरों की तो बात ही क्या है?

किन्तु ब्रह्मविद्या के फल की प्राप्ति में विध्न करने में देवादि समर्थ होते हैं — ऐसी शंका क्यों होती है — इस पर कहते हैं — क्योंकि देवादि के प्रति मनुष्य ऋणवान् है, जैसा कि "ब्रह्मचर्य के द्वारा ऋषियों से, यज्ञ द्वारा देवताओं से और पुत्रोत्पादन द्वारा पितरों से उऋण हो" यह श्रुति जन्म मात्र से ही पुरुष को ऋणी दिखाती है तथा "अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः" इस श्रुति से मनुष्य को पशु-रूप बतलाया जाने के कारण जिस प्रकार उत्तमर्ण (ऋण देने वाला) अधमर्णों (ऋण लेने वालों) को कष्ट देता है उसी प्रकार देवगण भी अपनी वृत्ति का निर्वाह

करने के लिए परतंत्र मनुष्यों के प्रति अमृत्व-प्राप्ति में विघ्न करें — यह शंका न्याय्य ही है।

देवगण अपने इन पशुओं की अपने शरीरों के समान रक्षा करते हैं। एक-एक पुरुष की अनेकों पशुओं से समता करके श्रुति उसे देवादि की बहुत बड़ी कर्माधीन वृत्ति दिखलायेगी और यह भी कहेगी कि "अतः उन्हें यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य इस आत्म तत्व को जाने"। तथा आगे चलकर यह भी कहेगी कि "जिस प्रकार पुरुष अपने शरीर का अविनाश चाहते हैं उसी प्रकार जो ऐसा (देवताओं से उऋण होने के लिए अपना कर्तव्य) जानता है उसका देवादि समस्तभूत अविनाश चाहते हैं"।

किन्तु ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पारार्थ्य (अन्य का उपभोगय होना) निवृत्त हो जाने से उसके देहात्मत्व और देव-पशुत्व नहीं रहते — यह अभिप्राय उपर्युक्त अप्रिय और अरिष्टि वाक्यों से विदित होता है। अतः ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्मविद्या का फल प्राप्त होने में देवगण विध्न करेंगे ही और वे हैं भी प्रभावशाली।

शङ्का — ऐसी बात है तो अन्य कर्मफलों की प्राप्ति में विघ्न करना भी देवताओं के लिए जल पीने के समान सुलभ है। तब तो अभ्युदय (भोग) और निःश्रेयस (मोक्ष) के साधनों के अनुष्ठान में विश्वास नहीं हो सकता। इसी प्रकार अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न होने के कारण ईश्वर भी विघ्न करने में समर्थ है ही। तथा काल, कर्म, मन्त्र, ओषधि और तप का भी बहुत प्रभाव है। शास्त्र एवं लोक में फल की प्राप्ति या अप्राप्ति में इनकी हेतुता प्रसिद्ध ही है। इसलिए भी शास्त्राज्ञा के अनुष्ठान में अविश्वास ही रहेगा।

समाधान— ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि सभी पदार्थों के निश्चित कारण ग्रहण किये जाते हैं तथा जगत् में सुख-दुःखादि वैचित्र्य भी देखा जाता है। यदि इन्हें स्वाभाविक माना जाये तो ये दोनों बातें होनी संभव नहीं हैं। 'सुख दुःखादि फल का निमित्त कर्म है' इस वेद, स्मृति, न्याय और लोक द्वारा गृहीत पक्ष के निश्चित होने पर यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि देवता, ईश्वर और काल तो कर्मफल का विपर्यय करने वाले है नहीं, क्योंकि वे तो कर्मानुष्ठान के अपेक्षित कारक हैं — देव, काल और ईश्वरादि कारकों की अपेक्षा न करने पर मनुष्यों का शुभाशुभ कर्म स्वतः ही सम्पन्न नहीं हो सकता। फिर यदि सम्पन्न हो भी जाये तो वह फल देने में समर्थ नहीं होगा, क्योंकि कारकादि अनेकों निमित्तों को ग्रहण करना क्रिया का स्वभाव ही है। अतः देवता और ईश्वरादि कर्म के गुणों का अनुसरण करने वाले ही हैं, इसलिए उनके कारण कर्मों में फल-प्राप्ति के प्रति अविश्वास नहीं हो सकता।

इसके सिवा इन (देवादि) का विघ्न करना कर्मों के भी अधीन है, क्योंकि कर्मों के अपने सामर्थ्य का कहीं बाध नहीं हो सकता। कर्म, काल, दैव और द्रव्यादि स्वभावों का गौण और मुख्य भाव अनिश्चित एवं दुर्विज्ञेय है। इसी से उनके कारण लोगों को मोह हो जाता है। किन्हीं का मत है कि फल-प्राप्ति में कर्म ही कारक है, और कोई नहीं, कोई कहते हैं — दैव उसका हेतु है; किन्हीं का कथन है कि काल इसका कारण

है, कोई द्रव्यादि के स्वभाव को इसका हेतु बतलाते हैं और किन्हीं का मत है कि वे सब मिलकर कर्मफल-प्राप्ति के हेतु हैं। इनमें कर्म की प्रधानता को लेकर ही "पुण्य कर्म से पुरुष पुण्यवान् होता है और पाप कर्म से पापी होता है" इत्यादि वेद और स्मृति को वाक्य प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि अपने-अपने विषय में इनमें से किसी-किसी की प्रधानता का उदय होता है और उस समय अन्य कारकों की प्राधान्य-शक्ति का निरोध हो जाता है तथापि फल-प्राप्ति में कर्म का अनैकान्तिकत्व (अप्राधान्य) नहीं है, क्योंकि शास्त्र और न्याय से कर्म की प्रधानता निश्चित है।

तथा ब्रह्मविद्या के फल में विघ्न नहीं पड़ता, क्योंकि ब्रह्म-प्राप्ति का फल तो केवल अविद्या की निवृत्ति ही है। ऊपर जो यह कहा गया था कि विद्या (ज्ञान) के ब्रह्म-प्राप्ति रूप फल में देवगण विघ्न करेंगे सो उसमें विघ्न करने की देवताओं में शक्ति नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि ब्रह्म-प्राप्ति रूप फल तो ज्ञान होने के समय ही प्राप्त हो जाता है। किस प्रकार? जिस प्रकार लोक में देखने वाले के नेत्रों का प्रकाश के साथ जिस समय संयोग होता है उसी समय रूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। उसी प्रकार जिस समय आत्म-विषयक ज्ञान होता है उसी समय तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अतः जिस प्रकार दीपक के रहते हुए अन्धकार का कार्य नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के रहते हुए अविद्या का कार्य रहना असंभव है। जब ब्रह्मवेत्ता देवताओं के आत्म-तत्व को ही प्राप्त हो जाता है तो देवगण किसके द्वारा किसे विघ्न करेंगे?

यही बात श्रुति कहती है — क्योंकि वह ब्रह्मवेत्ता इन देवताओं का आत्माध्येय स्वरूप अर्थात् जो सम्पूर्ण शास्त्रों से विज्ञेय ब्रह्म है वही हो जाता है, क्योंकि हम कह चुके हैं कि रजत रूप से भासने वाली शुक्ति के शुक्तिकात्व का ज्ञान होते ही जैसे भ्रान्ति-जनित रजतत्व की निवृत्ति हो जाती है वैसे ही ब्रह्मज्ञान होने के समय ही अविद्या मात्र व्यवधान की निवृत्ति हो जाती है। अतः आत्मा की प्रतिकूलता में देवताओं का प्रयत्न होना सम्भव नही है। जहाँ देश, काल और निमित्त से व्यवहित अनात्मभूत फल होता है वहाँ अनात्म-विषय में ही विघ्न करने के लिए देवताओं का प्रयत्न सफल हो सकता है। यहाँ देश, काल और निमित्त से अव्यवहित और ज्ञानोदय काल में ही देवताओं के आत्मत्व को प्राप्त हो जाने वाले ब्रह्मवेत्ता के प्रति विघ्न करने में उनका प्रयत्न सफल नहीं होता, क्योंकि इसके लिए उन्हें अवसर मिलना ही सम्भव नहीं है।

पूर्व. — यदि ऐसी बात है तो बोध-वृत्ति के प्रवाह का अभाव होने के कारण तथा विपरीत वृत्ति और उसका कार्य देखा जाने से यह निश्चित होता है कि अन्तिम आत्माकार-वृत्ति ही अविद्या की निवृत्ति करने वाली हो सकती है, पहली नहीं।

सिद्धान्ती — ऐसा मत कहो, क्योंकि प्रथम आत्म-प्रत्यय की तरह अंतिम प्रत्यय भी व्यभिचारी हो सकता है। यदि आत्म-विषयक प्रथम प्रत्यय अविद्या की

निवृत्ति नहीं करता तो उसी तरह अन्तिम प्रत्यय भी नहीं करेगा, क्योंकि दोनों का विषय समान ही है।

पूर्व.— यदि ऐसी बात है तो संतत (अविच्छिन्न) आत्म-प्रत्यय ही अविद्या का निवर्तक हो सकता है, विच्छिन्न नहीं।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है क्योंकि जीवनादि के रहते हुए आत्माकारवृत्ति की सन्तति (अविच्छिन्नता) सम्भव नहीं है। जीवनादि की हेतुभूता वृत्ति के रहते हुए बोधृवृत्ति की अवच्छिन्नता सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें विरोध है। यदि कहो, जीवनादि की हेतुभूता वृत्तियों का तिरस्कार करके ही मरण-पर्यन्त बोध वृत्ति का प्रवाह रहेगा तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बोध वृत्तियों के इयत्ता के कारण शास्त्राभिप्राय के अनिश्चय का दोष आवेगा। अर्थात् इतनी वृत्तियों का प्रवाह अविद्या की निवृत्ति करने वाला है — ऐसा निश्चय न होने के कारण शास्त्र का तात्पर्य निश्चित नहीं होगा और यह इष्ट नहीं है।

पूर्व. — यदि ऐसा मानें कि बोध-वृत्ति की संतति मात्र होने में तो शास्त्र का तात्पर्य निश्चित ही है, तो?

सिद्धान्ती — ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में भी आद्य प्रवाह और अन्तिम प्रवाह में कोई अन्तर नहीं है। बोध-वृत्ति प्रथम हो अथवा मरणकाल में समाप्त होने वाली हो— इन आद्य और अन्तिम प्रत्ययों में कोई अन्तर न होने के कारण पूर्वोक्त दोनों दोषों का प्रसंग होगा।

पूर्व. — तब तो आत्माकार-वृत्ति अज्ञान की निवृत्ति करने वाली है ही नहीं,— ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि "अतः वह सर्व हो गया" इस श्रुति से तथा "हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है", उस अवस्था में क्या मोह है? इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति सिद्ध होती है।

पूर्व. — वे श्रुतियाँ अर्थवाद हों तो?

सिद्धान्ती — ऐसा मत कहो, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त शाखाओं की उपनिषदों के अर्थवाद होने का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि समस्त उपनिषदों की शाखाओं का पर्यवसान केवल इतने ही अर्थ में है।

पूर्व. — यदि कहें, प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान होने वाले आत्मा से सम्बद्ध होने के कारण उनका अर्थवादत्व है ही, तो?

सिद्धान्ती — नहीं, इसका परिहार पहले किया जा चुका है। इसके सिवा आत्मज्ञान से अविद्या, शोक, मोह एवं भय आदि दोषों की निवृत्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होने से भी इस शंका का परिहार किया जा चुका है। अतः आद्य हो, अन्त्य हो, अविच्छिन्न हो, विच्छिन्न हो, उसके विषय में शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि ज्ञान तो अविद्यादि दोषों की निवृत्ति-रूप फल में ही पर्यवसित होने वाला है। जो प्रत्यय अविद्यादि दोषों की निवृत्ति-रूप फल प्रदान करने वाला हो वह आद्य, अन्त्य,

अविच्छिन्न, विच्छिन्न — कैसा ही हो, वही ज्ञान माना जाता है, इसलिए इसमें शंका उठने का तो अवकाश ही नहीं है।

और यह जो कहा कि ['मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा] विपरीत प्रत्यय और उसका कार्य देखे जाने से आत्मज्ञान अविद्या का निवर्तक नहीं है, सो ठीक नहीं, क्योंकि वह तो प्रारब्ध-शेष की स्थिति के कारण है। जिस कर्म से विद्वान् के शरीर का आरम्भ हुआ है, वह विपरीत प्रत्यय और रागादि दोष-जनित होने के कारण उसका तद्रूप से यानी विपरीत प्रत्यय और रागादि दोषों से संयुक्त रह कर ही फल प्रदान में सामर्थ्य है, अतः जब तक शरीरपात नहीं होता तब तक वह फलोपभोग के अङ्ग रूप से उतना-सा विपरीत प्रत्यय और रागादि दोष उपस्थित कर ही देता है, क्योंकि वह शरीरारम्भक कर्म छोड़े हुए बाण के समान फल प्रदान में प्रवृत्त हो चुका है। अतः ज्ञान उसकी निवृत्ति करने वाला नहीं है, क्योंकि उससे उसका विरोध नहीं है। तो फिर वह किसकी निवृत्ति करता है? — स्वाश्रित होने के कारण जो अपना विरोधी अविद्या का कार्य उत्पन्न होने वाला होता है उसे ही वह रोकता है; क्योंकि वह अनागत है और प्रारब्ध तो अतीत है।

इसके सिवा, विद्वान् के विपरीत प्रत्यय उत्पन्न हो भी नहीं सकता, क्योंकि उसके लिए कोई विषय नहीं रहता। विषय के विशेष स्वरूप का निश्चय न होने पर उसके सामान्य स्वरूप को आश्रित करके उत्पन्न होने वाला ही विपरीत प्रत्यय उत्पन्न होता है, जैसे शुक्ति में रजत। किन्तु जिसे विषय के विशेष रूप का निश्चय हो गया है, उसकी दृष्टि में सब प्रकार के विपरीत प्रत्यय के आश्रय का बाध हो जाने के कारण उसका पूर्ववत् उत्पन्न होना सम्भव नहीं है; जैसे कि शुक्तिकादि में, सम्यग्ज्ञान हो जाने पर फिर रजतादि का भ्रम होता नहीं देखा जाता।

परन्तु कभी-कभी ज्ञानोदय से पूर्व उत्पन्न हुए विपरीत प्रत्यय जनित संस्कारों से विपरीत प्रत्यय के समान भासने वाली स्मृतियाँ उत्पन्न होकर अकस्मात् विपरीत प्रत्यय की भ्रान्ति पैदा कर देती है, जिस प्रकार दिशाओं के विभाग को अच्छी तरह जानने वाले पुरुष को भी अकस्मात् दिग्भ्रम पैदा हो जाता है। यदि सम्यग्ज्ञानवान् को भी पूर्ववत् विपरीत प्रत्यय उत्पन्न हो जाये तो सम्यग्ज्ञान में भी अविश्वास हो जाने से शास्त्र के तात्पर्य और विज्ञानादि में प्रवृत्ति होनी कठिन हो जाये और फिर सारा प्रमाण अप्रमाण हो जाये, क्योंकि उस अवस्था में प्रमाण और अप्रमाण में कोई अन्तर ही न रहेगा।

इस (छोड़े हुए बाण के) न्याय से इस शंका का परिहार किया गया कि सम्यग्ज्ञान के पश्चात् तुरन्त ही देहपात क्यों नहीं होता? ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व, उसके पीछे और उसकी उत्पत्ति के समय होने वाले तथा जन्मान्तर के संचित अप्रवृत्त फलकर्मों का विनाश तो "तस्यघ्न देवाश्च नाभूत्या ईशते" इस ज्ञानफल की प्राप्ति के विघ्न का निषेध करने वाली श्रुति से ही सिद्ध होता है। तथा "इसके कर्म क्षीण हो दाते हैं," "उसके मोक्ष में तभी तक देरी है", "उसके सब पाप भस्म हो जाते हैं", उसे जानकर पाप

कर्म से लिप्त नहीं होता", "ये पाप-पुण्य इस (आत्मज्ञानी) का अतिक्रमण नहीं कर सकते", "इसे पाप-पुण्य संतप्त नहीं करते", "उसी को ताप नहीं देता", "किसी से नहीं डरता" इत्यादि श्रुतियों और "ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्मकर देती है" इत्यादि स्मृतियों से भी यही सिद्ध होता है, और यह जो कहा गया कि यह ऋणों से बन्धा हुआ है, सो ठीक नहीं, क्योंकि ऋणों का संबंध तो अविद्वान् से ही है। अज्ञानी पुरुष ही ऋणी है; क्योंकि उसी में कर्तृत्वादि का रहना सम्भव है। "जहाँ अन्य के समान होता है वहीं अन्य अन्य को देख सकता है" ऐसा श्रुति कहेगी भी। तात्पर्य यह है कि आत्मासंज्ञक सद् वस्तु अनन्य है, वह जहाँ अविद्यावस्था में तिमिर-रोग-कृत द्वितीय चन्द्र के समान होती है, वहीं पर श्रुति "वहाँ अन्य अन्य को देखेगा" इस वाक्य से अनेक कारकों की अपेक्षा वाला अविद्याकृत दर्शनादि कर्म और उससे होने वाला फल भी दिखलाती है।

किन्तु जहाँ ज्ञान का उदय होने पर अज्ञान-जनित अनेकत्व-भ्रम का नाश हो जाता है, वहाँ "तब किसके द्वारा किसे देखे" यह श्रुति कर्म की असंभवता दिखलाती है। अतः ऋणित्व का अविद्या से ही संबंध है, क्योंकि उसी के द्वारा कर्म होना सम्भव है, अन्य (ज्ञानवान्) से नहीं। यही बात आगे, जिन वाक्यों की व्याख्या करने की हमारी इच्छा है, उनसे विस्तारपूर्वक दिखायेंगे।

यह बात ऐसी है जैसा कि यहाँ (इस मंत्र में) भी कही गयी है— और जो कोई अब्रह्मज्ञ अन्य अपने से भिन्न जिस किसी भी देवता की उपासना करता है— स्तुति, नमस्कार, यज्ञ, बाती, उपहार, प्राणिधान (सर्व कर्मायण) और ध्यानादि द्वारा उसके समीप उपस्थित होता है अर्थात् उसके गुणभाव (शेषत्व) को प्राप्त होकर रहता है और [मन में यह भाव रखता है कि] वह देवता अन्य — अनात्मा यानी मुझसे पृथक् है तथा मैं उपासना का अधिकारी इससे भिन्न हूँ, मुझे ऋणी के समान इसके उपकार का बदला चुकना चाहिए — ऐसे भाव से युक्त होकर उसकी उपासना करता है, वह इस प्रकार के भाव वाला पुरुष तत्व को नहीं जानता।

ऐसा अज्ञानी केवल अविद्या-रूप से ही युक्त नहीं है, तो फिर कैसा है? जिस प्रकार गाय-बैल आदि पशु दोहन और वाहनादि उपकारों से उपभोग में लाये जाते हैं, उसी प्रकार वह यज्ञादि अनेकों उपकारों के कारण एक-एक देवादि का उपभोग्य होने से उनका पशु ही है। अतः तात्पर्य यह है कि वह पशु के समान सब प्रकार के फल देने वाले कर्मों का अधिकारी है।

इस वर्णाश्रमादि विभागवान् कर्माधिकारी अविद्वान् के ज्ञानसहित तथा केवल शास्त्रोक्त कर्मों का कार्य मनुष्यत्व से लेकर ब्रह्मत्व पर्यन्त उत्कर्ष होना है तथा शास्त्रोक्त से विरुद्ध जो स्वाभाविक कर्म हैं, उसका कार्य मनुष्यत्व से लेकर स्थावर तक अधोगति होना है। यह जिस प्रकार है, उस सब का हम इस अध्याय के अन्त में "अथ त्रयो वाव लोकाः" इत्यादि वाक्य से सम्यक् प्रकार से वर्णन करेंगे। तथा ज्ञान का कार्य सर्वात्मभाव की प्राप्ति है, यह बात संक्षेपतः दिखलाई गयी है। यह

सारी ही उपनिषद् ज्ञान और अज्ञान का विभाग प्रदर्शित करने में ही समाप्त हुई है। सम्पूर्ण शास्त्रों का यही अभिप्राय जिस प्रकार है, सो हम आगे दिखलायेंगे।

क्योंकि ऐसा है, इसलिए अब श्रुति यह दिखलाती है कि देवगण अविद्वान् पुरुष के प्रति ही विघ्न या अनुग्रह करने में समर्थ होते हैं। जिस प्रकार लोक में गाय-घोड़े आदि बहुत से पशु अपने स्वामी-अधिष्ठाता मनुष्य का भरण-पालन करते हैं, उसी प्रकार अनेक पशुस्थानीय एक-एक अज्ञानी पुरुष देवताओं का भरण-पालन करते हैं। 'देवान' यह पद पितृगणादि का भी उपलक्षण कराता है। 'मुझसे भिन्न ये इन्द्रादि मेरे शासक हैं, मैं सेवक के समान स्तुति, नमस्कार एवं यज्ञादि से इनकी आराधना करके इनके दिए हुए भोग और मोक्ष सब फल प्राप्त करूँगा' इस प्रकार अज्ञानी का संकल्प होता है।

ऐसी अवस्था में, जिस प्रकार लोक में बहुत से पशुओं वाले किसी पुरुष के एक पशु के भी चले जाने पर, व्याघ्रादि द्वारा हरण कर लिए जाने पर, उसे बहुत बुरा मालूम होता है, उसी प्रकार किसी कुटुम्बी के बहुत-से पशु चुरा लिये जाने के समान अनेक पशु-स्थानीय एक पुरुष के भी पशु-भाव से उठ जाने पर यदि देवताओं को अच्छा नहीं लगता तो इसमें आश्चर्य क्या है? अतः इन देवताओं को यह प्रिय नहीं है; क्या? यही कि ये मनुष्य इस ब्रह्मात्म-तत्व को किसी प्रकार भी जानें। ऐसी ही अनुगीता में भगवान् व्यास की स्मृति भी है — "कौन्तेय! देवलोक कर्मपरायण पुरुषों से भरा हुआ है। देवताओं को यह इष्ट नहीं है कि मनुष्य उनसे ऊपर (ब्रह्मलोकादि में) रहें।"

अतः देवगण यह सोचकर कि हमारे उपभोग्य होने के कारण मनुष्य हमसे ऊपर न उठने पावें, पशुओं को व्याघ्रादि से दूर रखने के समान मनुष्यों को ब्रह्मविज्ञान से दूर रखने के लिए विघ्न उपस्थित करते हैं। वे जिसे मुक्त करना चाहते हैं उसे श्रद्धादि साधनों से सम्पन्न कर देते हैं और जिसे मुक्त नहीं करना चाहते उसे अश्रद्धादि से युक्त कर देते हैं। अतः मोक्ष-कामी पुरुष को देवाराधन-तत्पर, श्रद्धा-भक्ति परायण, देवताओं का प्रिय तथा ज्ञानप्राप्ति के साधन श्रवणादि अथवा उनके फल भूत ज्ञान के प्रति अप्रमाद युक्त होना चाहिए — यह भाव देवताओं का अप्रियत्व बतलाने वाले वाक्य से काकूक्ति द्वारा प्रदर्शित होता है।

(6) आत्मा और जगत् — लोक में जिस प्रकार ऊर्णनाभि — लूताकीट (जाल बनाने वाला क्रीड़ा) प्रसिद्ध है वह अकेला ही अपने से सर्वथा भेद न रखने वाले तन्तुओं द्वारा ऊपर की ओर जाता है, उसके ऊपर जाने में अपने से भिन्न कोई अन्य साधन नहीं है, तथा जिस प्रकार एकरूप अर्थात् एक ही अग्नि से क्षुद्र अल्प विस्फुल्लिंग — चिनगारियाँ पानी अग्निकण विविध-नाना उड़ते है। जिस प्रकार ये दोनों दृष्टान्त कारक भेद न होने पर भी प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं और प्रवृत्ति से पूर्व स्वरूपतः एकत्व दिखलाते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा से अर्थात् बोध होने से पूर्व इस विज्ञानमय आत्मा का जो स्वरूप है, उससे वागादि समस्त प्राण, भूर्लोकादि

समस्त लोक यानी सम्पूर्ण कर्मफल, प्राण और लोकों के अधिष्ठाता अग्नि आदि समस्त देवगण और समस्त भूत अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त प्राणि समुदाय [इस आत्मा से] विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। जहाँ 'सर्वे एते आत्मान' ऐसा पाठ है, वहाँ 'उपाधि संसर्ग के कारण जिनका विशेष रूप जाना जाता है, वे अनेक आत्मा (जीव) उत्पन्न होते हैं' — ऐसा अर्थ करना चाहिए।

अग्नि से विस्फुल्लिङ्गो के समान जिस आत्मा से यह चराचर जगत् अहर्निश उत्पन्न होता रहता है और जल में बुलबुले के समान जिसमें यह लीन हो जाता है तथा स्थिति-काल में जिस स्वरूप से यह विद्यमान रहता है, उस इस आत्मा यानी ब्रह्म की यह उपनिषद् है; उप अर्थात् समीप से निगमन कराता है; इसलिए अभिधायक (वाचक) शब्द ही 'उपनिषद्' कहा जाता है, 'उपनिषद्' शब्द में रहने वाली यह उपनिगमन-कर्तृत्व रूप विशेषता शास्त्र प्रामाण्य से जानी जाती है।

वह उपनिषद् क्या है, सो श्रुति बतलाती है — 'सत्य का सत्य' यह वह विशेषता है। अलौकिक अर्थ वाली होने के कारण उस उपनिषद् का अर्थ सर्वत्र दुर्विज्ञेय है, इसलिए श्रुति उसका अर्थ बतलाती है — प्राण ही सत्य है, यह (आत्मा) उनका भी सत्य है। आगे के दो ब्राह्मण इसी वाक्य की व्याख्या करने के लिए होंगे।

पूर्व. — आगे के दो ब्राह्मण भले ही इस उपनिषद् की व्याख्या करने के लिए हों; परन्तु ऊपर जो यह कहा गया है कि 'यह उसकी उपनिषद् है' इससे हम नहीं जानते कि यह उपनिषद् हाथ दबाने से उठे हुए शब्दादि का भोग करने वाले प्रकृत विज्ञानमय संसारी आत्मा की है अथवा किसी असंसारी की?

सिद्धान्ती — इससे तुम्हारा क्या प्रयोजन है?

पूर्व. — यदि यह उपनिषद् संसारी की है, तब तो संसारी ही विशेष रूप से ज्ञातव्य है, उसके विज्ञान से ही सर्वभाव की प्राप्ति हो सकती है, वही 'ब्रह्म' शब्द का वाच्य है तथा उसकी विद्या ही ब्रह्मविद्या है। और यदि वह असंसारी की है तो असंसारी आत्मा से संबंध रखने वाली विद्या ही ब्रह्मविद्या है, एवं उस ब्रह्मविज्ञान से ही सर्वभाव की प्राप्त होती है।

सिद्धान्ती — यह सब शास्त्र-प्रामाण्य से ही सिद्ध होगा। किन्तु इस पक्ष में "आत्मेत्येवोपासीत", "आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि परब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां बाधित हो जायेंगी, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न किसी संसारी की सत्ता न होने के कारण उसका उपदेश निरर्थक होगा। इस प्रकार जिसका उत्तर नहीं दिया गया है, उस ऐकात्म्य-विषयक प्रश्न का विषय पण्डितों के लिए भी अत्यन्त मोह का स्थान है, इसलिए ब्रह्म — जिज्ञासुओं की बुद्धि को ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में प्रवृत्त करने के लिए हम यथाशक्ति विचार करेंगे।

पूर्व पक्ष — इनमें से असंसारी (शुद्ध आत्मा) तो परमात्मा हो नहीं सकता, क्योंकि हाथ दबाने से जगे हुए शब्दादि के भोक्ता एवं सुषुप्ति-संज्ञक अवस्थान्तर से विशिष्ट जीव से जगत् की उत्पत्ति सुनी गयी है। उससे भिन्न क्षुधादि जीव-धर्मों से

रहित शुद्ध ब्रह्म, जगत् का शासक नही है। क्यों नहीं है? क्योंकि 'मैं तुझे ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर हाथ दबाने के द्वारा सुषुप्त पुरुष को जगाकर उसे शब्दादि-भोक्तृत्व-विशिष्ट दिखाकर, उसी की स्वप्न के द्वारा सुषुप्ति-संज्ञक अवस्थान्तर प्रदर्शित कर श्रुति "एवमेवास्मात्" इत्यादि वाक्य द्वारा सुषुप्ति अवस्था विशिष्ट उस आत्मा से ही अग्नि-विस्फुल्लिङ्ग और ऊर्णनाभि के दृष्टान्तों द्वारा जगत् की उत्पत्ति दिखलाती है। यहाँ बीच में जगत् की उत्पत्ति का कोई दूसरा कारण सुना नहीं गया है और यह विज्ञानमय का ही प्रकरण है। इसके समान प्रकरण में ही कौषीतकी-शाखा वालों की एक अन्य श्रुति में आदित्यादि पुरुषों का प्रकरण उठाकर श्रुति "वह बोला, हे बालके! जो भी इन पुरुषों का कर्ता है और जिसका यह जगद्रूप कर्म है वही निश्चय ज्ञातव्य है" इस प्रकार जगे हुए विज्ञानमथ की ही ज्ञातव्यता प्रदर्शित करती है, किसी अन्य वस्तु की नहीं।

इसी प्रकार "आत्मा के लिए ही सब प्रिय होता है" ऐसा कह कर श्रुति यह दिखाती है कि जो आत्मा प्रिय रूप से प्रसिद्ध है, यही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है। इस तरह यदि कोई विज्ञानमय से भिन्न ज्ञातव्य न होगा, तभी आत्मज्ञान की व्याख्या करते समय "आत्मा है — इस प्रकार उपासना करें" "वह यह आत्मा पुत्र से प्रिय हैं और धन से भी प्रिय है" तथा "उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ" इत्यादि वाक्यों की अनुकूलता हो सकती है। श्रुति आगे "यदि पुरुष आत्मा को 'मैं यह हूँ' इस प्रकार जान जाये" ऐसा कहेगी भी।

समस्त वेदान्तों में ब्रह्म की 'अहम्' इस रूप से प्रत्यगात्म-भाव से ही वेद्यता दिखाई गयी है, शब्दादि के समान 'यह ब्रह्म है' इसी प्रकार बहिर्वेद्यता नहीं दिखाई गयी। इसी प्रकार कौषीतकी शाखा वालों की श्रुति भी "वाणी को जानने की इच्छा न करे, बोलने वाले की जाने" इत्यादि वाक्य से वागादि इन्द्रियों से भिन्न कर्ता की ही वेद्यता प्रदर्शित करती है।

यदि कहो कि अवस्थान्तर विशिष्ट होने पर वह असंसारी हो जाता है। अर्थात् यदि ऐसा मानो कि जागरित अवस्था में जो विज्ञानमय शब्दादि का भोक्ता है, वही सुषुप्त-संज्ञक अन्य अवस्था में जाने पर उससे भिन्न जगत् का शासक असंसारी हो जाता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया। वैनाशिकसिद्धान्त के सिवा और कहीं ऐसे धर्म वाला पदार्थ नहीं देखा गया। लोक में ऐसा नहीं देखा गया कि बैठते या चलते समय तो गौ गौ रहे और सोने पर वह अश्वादि कोई अन्य जाति का पशु हो जाये। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि जो पदार्थ प्रमाण द्वारा जिन धर्मों वाला जाना जाता है, वह अन्य देश, काल अथवा अवस्थाओं में भी उन्हीं धर्मों वाला रहता है। यदि वह उन धर्मों का त्याग कर दे तो सारे ही प्रमाण-व्यवहार का लोप हो जाये। इसी प्रकार सांख्यवादी और मीमांसकादि न्यायवेत्ता भी सैकड़ों युक्तियों से असंसारी ईश्वर के अभाव का प्रतिपादन करते हैं।

यदि कहो कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय रूप क्रिया के कर्तृत्व का ज्ञान न होने के कारण संसारी जीव को भी जगत् का कर्ता मानना उचित नहीं है, अर्थात् तुमने जो बड़े विस्तार से यहाँ यह सिद्ध किया है कि शब्दादि का भोक्ता अवस्थान्तर-विशिष्ट संसारी जीव ही जगत् क कर्ता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि संसारी जीव में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय रूप क्रिया के कर्तृत्व-विज्ञान की शक्ति के साधनों का अभाव सभी लोकों को प्रत्यक्ष है। वह हम — जैसा संसारी जीव इस पृथिवी आदि के यथास्थान स्थापनपूर्वक विभिन्न प्रकार की रचना से विशिष्ट एवं मन से भी अचिन्तनीय जगत् की किस प्रकार रचना कर सकता है? इसलिए ऐसा मानना उचित नहीं, ऐसी यदि कोई शंका करे तो ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्र से यही सिद्ध होता है। "इसी प्रकार इस आत्मा से" इत्यादि शास्त्र संसारी से ही जगत् की उत्पत्ति आदि प्रदर्शित करता है इसलिए इस सब में विश्वास रखना चाहिए — ऐसा यह एक पक्ष हो सकता है।

"जो सर्वत्र और सर्ववेत्ता है", "जो क्षुधा-पिपासा से अतीत है", "जो असङ्ग है इसलिए किसी से संयुक्त नहीं होता", "इस अक्षर के ही शासन में", "जो समस्त भूतों में रहने वाला", "जो समस्त भूतों में रहना वाला अन्तर्यामी और अमृत है", "जो उन पुरुषों का निरोध करके उनसे आगे बढ़ा हुआ है", "वही यह महान् अजन्मा आत्मा है", "यह विशेष रूप से धारण करने वाला सेतु है", "यह सबको वश में रखने वाला और सब का शासक है", "जो निष्पाप और अजर-अमर आत्मा है," "उसने तेज की रचा", "आरम्भ में यह एक आत्मा ही था", "वह लोक-दुःख से लिप्त नहीं होता क्योंकि उससे बाहर है —" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से तथा "मैं सह का उत्पत्ति-स्थान हूँ और मुझसे ही सब उत्पन्न होता है" इत्यादि स्मृतियों से जीव से भिन्न असंसारी परमात्मा सिद्ध होता है और श्रुति-स्मृति एवं युक्ति से यही जगत् का कारण है।

पूर्व. — किन्तु "इसी प्रकार इस आत्मा से" इत्यादि श्रुति तो संसारी जीव से ही जगत् की उत्पत्ति दिखलाती है— ऐसा ऊपर कहा जा चुका है।

सिद्धान्ती — नहीं, "जो यह हृदयान्तर्गत आकाश है" इस प्रकार यहाँ पर ब्रह्म का ही प्रकरण होने के कारण "इस आत्मा से" इत्यादि श्रुति द्वारा परब्रह्म का ही परामर्श मानना उचित है। 'उस समय यह कहाँ था?' इस प्रकार इस प्रश्न के उत्तर रूप से "यह जो हृदय के अन्तर्गत आकाश है। उसमें यह शयन करता है" इस वाक्य द्वारा आकाश शब्द का वाच्य आत्मा ही कहा गया है। "हे सोम्य! उस समय यह सत् से सम्पन्न रहता है" "प्रतिदिन वहाँ जाती हुई इस ब्रह्मलोक की नहीं प्राप्त करती है", "प्राज्ञात्मा से अलिंगित", "पर आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित होती है" इत्यादि श्रुतियों से आकाश शब्द से कहा जाने वाला पर-आत्मा ही है — ऐसा निश्चय होता है, तथा "इसमें अन्तराकाश दहर है" इस प्रकार प्रसंग उठाकर उसी अर्थ में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इसलिए

भी यहाँ पर आत्मा का ही प्रसंग है। अतः 'इसी प्रकार इस आत्मा से' इस वाक्य द्वारा परमात्मा की सृष्टि होती है — ऐसा मानना ही उचित है। इसके सिवा हम संसारी जीव में तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के ज्ञान की शक्ति का अभाव भी बतला चुके हैं।

पूर्व. — यहाँ भी "आत्मा है — इस प्रकार ही उपासना करें", "आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ब्रह्मविद्या का ही प्रसंग है। तथा ब्रह्मविज्ञान ब्रह्म-विषयक ही होता है, जो कि "मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँ", "तुझे ब्रह्म का बोध कराऊँगा" इत्यादि श्रुतियों से आरम्भ किया है। यहाँ क्षुधादि से रहित, नित्य-शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वभाव असंसारी ब्रह्म जगत् का कारण बतलाया गया है। संसारी जीव उससे विपरीत स्वभाव वाला है। इसलिए वह अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ग्रहण नहीं कर सकता। भला निम्न कोटि का संसारी जीव परमदेव ईश्वर को आत्मभाव से स्मरण करके किस प्रकार दोष का भागी न होगा? इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा मानना उचित नहीं हो सकता। अतः पुष्पांजलि, स्तुति, नमस्कार, बलि, उपहार, जप, अध्ययन और योगादि के द्वारा उसकी आराधना करने की इच्छा करे। उसे आराधना के द्वारा जानकर जीव सब का शासन करने वाला ब्रह्म हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि को शीत रूप से तथा आकाश को मूर्त रूप से चिन्तन करना उचित नहीं है, उसी प्रकार संसारी जीव असंसारी ब्रह्म का आत्मभाव से चिन्तन नहीं कर सकता। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र भी अर्थवाद ही होगा। तथा ऐसा मानने पर समस्त युक्ति, शास्त्र और लौकिक न्यायों से विरोध नहीं रह सकता।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण वाक्यों द्वारा उस (पर ब्रह्म) का ही प्रवेश सुना गया है। "[शरीर रूप] पुरों की रचना की" इस प्रकार प्रकरण उठाकर "पुरुष ने पुरों में प्रवेश किया" "वह रूप-रूप के अनुरूप हो गया इसका वह रूप प्रत्यक्ष करने के लिए है", "वह धीर सम्पूर्ण रूपों की रचना कर उनके नाम रखकर उन्हीं के द्वारा बोलता रहता है" इस प्रकार सभी शाखाओं में सहस्त्रों मन्त्रवाद सृष्टिकर्ता असंसारी ब्रह्म का ही शरीर में प्रवेश होता दिखलाते हैं। इसी प्रकार "उसे रचकर वह उसी में अनुप्रविष्ट हो गया", "यह इस मूर्धन्य सीमा को ही विदीर्णकर इसी के द्वारा प्रविष्ट हो गया", "उस इस देवता ने — इन [अप, तेज और अन्नरूप] तीन देवताओं में इस जीवरूप में अनुप्रवेश कर", "यह सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ आत्मा प्रकट नहीं होता" इत्यादि ब्राह्मणवाद भी है।

इसके सिवा समस्त श्रुतियों में ब्रह्म में ही 'आत्मा' शब्द का प्रयोग होने तथा 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मा का वाचक होने एवं "यह समस्त भूतों का अन्तरात्मा" इस श्रुति के अनुसार परमात्मा से भिन्न संसारी जीव का अभाव होने के कारण "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", "यह ब्रह्म ही है", "यह आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियों से "मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करना उचित ही है।

जब इस प्रकार शास्त्र का अभिप्राय निश्चित होता है तो परमात्मा का संसारी होना सिद्ध होता है; ऐसी स्थिति में शास्त्र व्यर्थ हो जाता है और यदि जीव को असंसारी माना जाये तो उसे उपदेश करना व्यर्थ है — ऐसा यह स्पष्ट दोष प्राप्त होता है। यदि परमात्मा ही समस्त जीवों का अन्तरात्मा है और वही समस्त शरीरों के सम्पर्क से होने वाले दुःखों का अनुभव करता है तो स्पष्ट ही परमात्मा को संसारित्व की प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में परमात्मा के असंसारित्व का प्रतिपादन करने वाली समस्त श्रुतियाँ, स्मृतियाँ और युक्तियाँ बाधित हो जाती हैं, और यदि किसी प्रकार यह प्रतिपादत भी किया जाये कि प्राणियों के शरीरों के संबंध से होने वाले दुःखों से उसका संबंध नहीं होता तो परमात्मा के लिए कोई ग्राह्य या त्याज्य न होने के कारण उपदेश की व्यर्थता रूप दोष का निवारण नहीं किया जा सकता।

यहाँ कोई लोग इस दोष का इस प्रकार परिहार बतलाते हैं — परमात्मा साक्षात् अपने रूप से भूतों में अनुप्रविष्ट नहीं है; तो फिर क्या बात है? वह विकार भाव को प्राप्त होकर विज्ञानात्मत्व को प्राप्त हुआ और वह विज्ञानात्मा परमात्मा सेभिन्न एवं अभिन्न भी है। चूँकि वह भिन्न है, इसलिए संसारित्व से संबंध रखने वाला है और अभिन्न होने के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के निश्चय की योग्यता रखता है। इस प्रकार मानने से [श्रुति, स्मृति एवं न्यायादि] सब अनुकूल रहेंगे।

वहाँ (इस सिद्धान्त के अनुसार) विज्ञानात्मा को परमात्मा का विकार मानने के नक्ष में तीन गतियां हो सकती है — (1) पृथिवी द्रव्य के समान अनेक द्रव्यों के संघात रूप सावयव परमात्मा का विज्ञानात्मा घटादि की तरह एकदेशी परिणाम है, (2) अथवा अपने पूर्व रूप में स्थित परमात्मा का एक ही देश, केश ना ऊसर भूमि के समान [विज्ञानात्मरूप से] विकार को प्राप्त होता है, (3) अथवा दुग्धादि के समान सारा ही परमात्मा विकार को प्राप्त हो जाता है।

इन पक्षों में यदि यह माना जाये कि समान जाति वाले अनेक द्रव्यों के समुदाय का कोई द्रव्य-विशेष ही विज्ञानात्मत्व को प्राप्त होता है तो समानजातीय होने के कारण उन (परमात्मा और विज्ञानात्मा) का एकत्व उपचार से ही होगा, परमार्थतः नहीं। ऐसा मानने पर सिद्धान्त से विरोध आवेगा। और यदि परमात्मा नित्य अयुतसिद्ध अवयवों में अनुगत अवयवी है और उसी रूप में स्थित हुए उस परमात्मा का एकदेश संसारी विज्ञानात्मा है तो उस अवस्था में भी अवयवगत गुण या दोष समस्त अवयवों में अनुगत होने के कारण अवयवी में ही रहेगा, इस प्रकार विज्ञानात्मा के संसारित्व-रूप दोष से परमात्मा का ही संबंध सिद्ध होता है। अतः यह कल्पना भी इष्ट नहीं हो सकती। दुग्ध के समान सम्पूर्ण परमात्मा का परिणाम मानने के पक्ष मे भी समस्त श्रुति-स्मृतियों से विरोध होता है और यह इष्ट नहीं है। अतः ये सह पक्ष "निष्फल, निष्क्रिय और शान्त है", "पुरुष दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है", "वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है", "वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर एवं अमृत है", "वह न

कभी उत्पन्न होता है और न मरता है", "अव्यक्त है" इत्यादि श्रुति, स्मृति और युक्तियों से विरुद्ध है।

अचल परमात्मा के एकदेश में विज्ञानात्मा है — इस पक्ष में विज्ञानात्मा का कर्मफल-युक्त देश में जाना सम्भव नहीं है तथा परमात्मा को संसारित्व की प्राप्ति होती है— ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। यदि कहो कि अग्नि से चिनगारी के समान परमात्मा को एकदेश रूप विज्ञानात्मा उससे अलग होकर आता-जाता है तो भी अवयव के फूटकर अलग हो जाने से परमात्मा में क्षति की प्राप्ति होगी तथा उसके जाने पर परमात्मा के अन्य देशस्थ अवयव समुदाय में छेद की भी प्राप्ति होगी और इस प्रकार परमात्मा की निश्छिद्रता का प्रतिपादन करने वाले वाक्य से विरोध होगा। परमात्मा से शून्य देश का अभाव होने के कारण आत्मा के अवयव भूत विज्ञानात्मा को संसारित्व की प्राप्ति होने पर अवयवान्तर ह्रास और वृद्धि के कारण परमात्मा को हृदय-शूल के समान दुःख की प्राप्ति होगी।

पूर्व. — किन्तु आग की चिनगारी आदि दृष्टान्तों का वर्णन करने वाली श्रुति होने के कारण ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं हो सकता — यदि ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है; क्योंकि श्रुति तो केवल ज्ञान ही कराने वाली है। शास्त्र की प्रवृत्ति पदार्थों को अन्यथा करने के लिए नहीं है। तो फिर किसलिए है? यथाभूत अज्ञात पदार्थों को ज्ञात कराने के लिए।

पूर्व. — इससे क्या होता है, सो सुनो। लोक में वास्तविक ही मूर्त और अमूर्तादि रूप पदार्थ-धर्म प्रसिद्ध है। उन्हें दृष्टान्त रूप से ग्रहण कर शास्त्र उनसे अविरोधी एक अन्य वस्तु को बतलाने के लिए प्रवृत्त होता है। वह लौकिक वस्तुओं का विरोध सूचित करने लिए लौकिक दृष्टान्तों को ही ग्रहण करता हो — ऐसी बात नहीं है। ऐसा दृष्टान्त तो दार्ष्टान्तिक से असंगत होने के कारण ग्रहण किए जाने पर भी व्यर्थ होगा। अग्नि शीतल होता है, अथवा सूर्य नहीं तपता — यह बात सैकड़ों दृष्टन्तों से भी प्रतिपादित नहीं हो सकती; क्योंकि अन्य प्रमाण से तो वह वस्तु दूसरे प्रकार की जानी जाती है। एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण बतलाता है तथा लौकिक पद और पदार्थों का आश्रय लिए बिना शास्त्र के द्वारा किसी अज्ञात वस्त्वन्तर को नहीं जाना जा सकता। अतः इस प्रसिद्ध न्याय का अनुसरण करने वाले पुरुष के द्वारा परमात्मा के सावयवत्व और [जीव के साथ उसके] अंशाशित्व की कल्पना का परमार्थतः प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

यदि कहो कि "क्षुद्र विस्फुल्लिंग" और "मेरा ही अंश है" इस प्रकार श्रुति और स्मृति भी कहती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो [जीवात्मा और परमात्मा के] एकत्व की प्रतीति के लिए है। अग्नि की चिनगारी अग्नि ही होती है, इसलिए लोक में वह अग्नि के साथ एकत्व-प्रतीति के योग्य देखी गयी है। इसी प्रकार अंशी के साथ अंश भी एकत्व-प्रतीति के योग्य है। अतः ऐसी स्थिति में

विज्ञानात्मा को परमात्मा का विकार या अंश बतलाने वाले शब्द परमात्मा के साथ उसके एकत्व की प्रतीति कराना चाहते हैं।

उपक्रम और उपसंहार से भी यही बात सिद्ध होती है। सभी उपनिषदों में पहले उनकी एकता की प्रतिज्ञा कर हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा जगत् की परमात्मा का विकार या अंशादि बतलाकर फिर उनके एकत्व का उपसंहार किया है, जैसा कि यहाँ भी पहले "यह जो कुछ है, सब आत्मा है" ऐसी प्रतिज्ञाकर उत्पत्ति, स्थिति, लय-हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा उनके एकत्व ज्ञान के हेतुभूत विकार और विकारित्वादि का प्रतिपादन कर "अन्तर ब्राह्य शून्य है", "यह आत्मा ब्रह्म है" इस प्रकार उपसंहार किया जाएगा। अतः उपक्रम और उपसंहार के द्वारा यह तात्पर्य निश्चित होता है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का प्रतिपादन करने वाले वाक्य परमात्मा के साथ उसके एकत्व-ज्ञान की दृढ़ता कराने के लिए हैं।

यदि ऐसा न माना जायेगा तो वाक्य-भेद का प्रसंग उपस्थित होगा। सभी उपनिषदों में परमात्मा के साथ विज्ञानात्मा के एकत्व-ज्ञान का विधान किया गया है, इस विषय में सभी उपनिषद्-वेत्ताओं की एक राय है — किसी का मतभेद नहीं है। उत्पत्त्यादि वाक्यों की भी उस विधि के साथ एकवाक्यता सम्भव होने पर उन्हें भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करने वाला मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसके सिवा उन्हें अन्यार्थपरक मानने पर उनके फलान्तर की भी कल्पना करनी पड़ेगी। अतः उत्पत्त्यादि श्रुतियाँ आत्मा का एकत्व प्रतिपादन करने वाली ही है।

इस विषय में सम्प्रदाय-वेत्ता (श्री द्रविड़ाचार्य) यह आख्यायिका कहते हैं — कोई राजपुत्र जन्म होते ही माता-पिता द्वारा त्याग दिया जाने के कारण व्याघ्र के घर में पाला-पोसा गया। वह अपनी कुलीनता को न जानने के कारण अपने को व्याघ्र जाति का ही मानकर व्याघ्र जाति के कर्मों का ही अनुवर्तन करता था, "मैं राजा हूँ" ऐसा मानकर राजोचित कर्म नहीं करता था। जब कोई अत्यन्त कृपालु पुरुष, जो राजपुत्र की राजश्री प्राप्त करने की योग्यता जानता है, उसे उसकी राज पुत्रता का बोध करा देता है और यह बतला देता है कि तू व्याघ्र नहीं है, अमुक राजा का पुत्र है, किसी प्रकार इस व्याघ्र के घर में आ गया है' तो इस प्रकार बोध कराये जाने पर वह व्याघ्र जाति के प्रत्यय से होने वाले कर्मों को छोड़कर 'मैं राजा हूँ' ऐसा मानकर अपने बाप-दादों के मार्ग का अनुसरण करने लगता है।

इसी प्रकार अग्नि की चिनगारियों के समान परमात्मा से विभक्त यह उसी (परमात्मा) की जाति वाला विज्ञानात्मा यहाँ देह और इन्द्रियादि गहन वन में प्रविष्ट होने पर असंसारी होकर भी अपनी परमात्म-स्वरूपता को न जानने के कारम "मैं देहेन्द्रियादि का संघात तथा कृश, स्थूल एवं सुखी या दुःखी हूँ' ऐसा मानकर देह एवं इन्द्रियादि सांसारिक धर्मों का अनुवर्तन कराता है। किन्तु 'तू देहेन्द्रियादि रूप नहीं है' इस प्रकार आचार्य द्वारा बोध कराये जाने पर यह एषणात्रय की अनुवृत्ति को छोड़कर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जान लेता है। तथा यहाँ ऐसा कहने

पर कि 'तू अग्नि से विस्फुल्लिंग के समान परब्रह्म से ही च्युत हुआ है" राजपुत्र के राज-प्रत्यय के समान उसका ब्रह्म-प्रत्यय दृढ़ हो जाता है, क्योंकि अग्नि से च्युत होने के पूर्व विस्फुल्लिंग की अग्नि के साथ एकता देखी गयी है।

अतः सुवर्ण, मणि, लोह एवं अग्नि-विस्फुल्लिंगादि दृष्टान्त एकत्वज्ञान की दृढ़ता के लिए हैं, उत्पत्ति आदि का भेद प्रदर्शित करने के लिए नहीं है। तथा "उसे एकरूप ही देखना चाहिए" इस श्रुति से नमक के टुकड़े के समान उसे ज्ञानरूप एक रस से निरन्तर परिपूर्ण भी निश्चय किया गया है। यदि चित्रपट अथवा वृक्ष या समुद्रादि के समान उत्पत्ति आदि अनेक धर्मों के कारण ब्रह्म की विचित्रता का ही ग्रहण कराना अभीष्ट होता हो तो 'वह नमक के टुकड़े के समान एकरस एवं अन्तर बाह्य शून्य है' इस प्रकार उपसंहार न किया जाता तथा उसे "एकरूप ही देखना चाहिए" ऐसे आदेश का और "जो इसे नानावत् देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है", ऐसे निन्दा-सूचक वचन का भी प्रयोग न होता। अतः समस्त वेदान्तों में जो उत्पत्ति, स्थिति एवं लय आदि की कल्पना है, वह ब्रह्म की एकरूपता के ज्ञान की दृढ़ता के लिए ही है, उन (उत्पत्त्यादि) की प्रतीति कराने के लिए नहीं है।

इसके सिवा निरवयव और असंसारी परमात्मा के संसारीरूप एकदेश की कल्पना करना युक्तियुक्त भी नहीं, क्योंकि स्वयं परमात्मा में तो देश है नहीं। देशहीन परमात्मा के एकदेश में संसारित्व की कल्पना करने में 'परमात्मा ही संसारी है' ऐसी कल्पना हो जायेगी और यदि ऐसा माना जाये कि घटाकाश और करकाशादि के समान किसी अन्य उपाधि के कारण विज्ञानात्मा परमात्मा का एकदेश है तो उसमें विवेकी पुरुषों को ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती कि परमात्मा का एकदेश पृथक् व्यवहार करने में समर्थ है।

पूर्व. — किन्तु [मैं कर्ता हूँ] ऐसी गौणी बुद्धि तो अविवेकियों और विवेकियों को भी होती देखी गयी है।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि अविवेकियों की तो वह बुद्धि मिथ्या होती है और विवेकियों की सम्यक् प्रकार से व्यवहार को आलंबन करने के लिए, जिस प्रकार कि [अविवेकियों के समान] विवेकियों की दृष्टि में भी कभी-कभी 'आकाश काला अथवा लाल है' इस प्रकार आकाश की कृष्णता अथवा लाली व्यवहार मात्र के आलम्बनार्थत्व को प्राप्त हो जाती है, किन्तु वस्तुतः आकाश काला या लाल नहीं हो सकता। अतः विद्वानों को ब्रह्म-स्वरूप के ज्ञान के विषय में ब्रह्म के अंशांशी, एकदेश-एकदेशी अथवा विकार-विकारित्वादि की कल्पना नहीं करनी चाहिए; क्योंकि सारी उपनिषदों का तात्पर्य समस्त कल्पनाओं की निवृत्ति रूप मुख्य प्रयोजन में ही है।

इसलिए सारी कल्पनाओं को छोड़कर "ब्रह्म आकाश के समान सर्वगत और नित्य है", "वह लोक-दुःख से लिप्त नहीं होता; क्योंकि उससे बाह्य है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाओं के अनुसार आकाश के समान उसकी निर्विशेषता का ही अनुभव करना चाहिए, उष्ण स्वरूप अग्नि में एक शीतल देश के समान तथा प्रकाश स्वरूप

सूर्य में एक अन्धकारमय देश के समान ब्रह्म से भिन्न आत्मा की कल्पना न करे; क्योंकि सब उपनिषदों का तात्पर्य समस्त कल्पनाओं की निवृत्ति रूप मुख्य प्रयोजन में ही है। अतः असंसारधर्मी आत्मा में सारे व्यवहार नाम एवं रूपकृत उपाधि के कारण ही है, जैसा कि "वह रूप-रूप के अनुरूप हो गया है", "धीर पुरुष समस्त रूपों की रचना कर उनके नाम रखकर उनके द्वारा बोलता रहता है" इत्यादि मंत्रवर्णों से सिद्ध होता है।

आत्मा का संसारित्व स्वतः नहीं है, अपितु लाक्षा आदि उपाधि के संयोग से होने वाली 'स्फटिक लाल है, इत्यादि बुद्धि के समान भ्रान्ति-जनित ही है, परमार्थतः नहीं। "मानो ध्यान करता है, मानो अधिक चलता है", "यह कर्म से न बढ़ता है न छोटा होता है", "यह पाप कर्म से लिप्त नहीं होता", "समस्त भूतों में समान रूप से स्थित", "कुत्ते और चाण्डाल में" इत्यादि श्रुति, स्मृति और युक्तियों से परमात्मा का असंसारित्व ही सिद्ध होता है। अतः विशेषतः आत्मा का निरवयवत्व स्वीकार करने पर ऐसा विकल्प नहीं किया जा सकता कि विज्ञानात्मा परमात्मा का एक देश विकार, शक्ति अथवा और कुछ है। उनके अंशादि होने का प्रतिपादन करने वाले श्रुति-स्मृतिवाद भी आत्मा के एकत्व के ही लिए हैं, भेद का प्रतिपादन करने वाले नहीं है, क्योंकि उपनिषदों के विवक्षित अर्थ की एकवाक्यता होनी चाहिए — ऐसा हम पहले कह चुके हैं।

समस्त उपनिषदों का तात्पर्य परमात्मा के एकत्व में है, फिर विज्ञानात्मा के भेदरूप उससे प्रतिकूल विषय की कामना किस लिए की जाती है? इस पर किन्हीं (मीमांसकों) का तो कहना है कि यह कल्पना कर्म-काण्ड के प्रामाण्य से प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार करने के लिए हैं, क्योंकि कर्म का प्रतिपादन करने वाले वाक्य अनेकों क्रिया, कारक, फल, भोक्ता और कर्ताओं को आश्रय करने वाले हैं, विज्ञानात्मा का भेद न होने पर असंसारी परमात्मा का एकत्व रहते हुए वे किस प्रकार लोगों को इष्ट फलों वाली क्रियाओं में प्रवृत्त अथवा अनिष्ट फलों वाली क्रियाओं से निवृंत्त कर सकेंगे। तथा किस बद्ध जीव की मुक्ति के लिए उपनिषद् का आरम्भ किया जायेगा? इसके सिवा परमात्मा का एकत्व प्रतिपादन करने वालों के मत में किसी को परमात्मा के एकत्व का उपदेश भी क्यों दिया जाएगा और किस प्रकार उसके उपदेश-ग्रहण का फल होगा? क्योंकि बद्ध जीव के बन्धन का नाश करने के लिए ही इसका उपदेश किया जाता है, बन्धन न होने पर तो उपनिषद्शास्त्र का कोई विषय ही नहीं रहता।

पूर्व. — ऐसी स्थिति में तो उपनिषद्वादी पक्ष के शंका-समाधान का मार्ग कर्म-काण्डवादी पक्ष के समान ही है, क्योंकि जिस प्रकार भेद न होने पर कर्मकाण्ड निरालम्ब (अधिकारि-शून्य) होकर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर सकता, उसी प्रकार उपनिषद् भी स्वयं प्रामाणिक नहीं हो सकती। यदि ऐसी बात है तब तो जिसकी प्रामाणिकता मानने पर स्वार्थ का विघात नहीं होता, उस कर्म-काण्ड की

ही प्रामाणिकता माननी चाहिए। उपनिषदों के प्रामाण्य की कल्पना करने में तो स्वार्थ का विघात होता है, इसलिए उनकी प्रामाणिकता भले ही न हो। कर्मकाण्ड प्रामाणिकता होकर अप्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि उत्तम दीपक अपने प्रकाश्य पदार्थ को प्रकाशित नहीं भी करता — ऐसा नहीं होता।

इसके सिवा अभेद-श्रुतियों का प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरोध भी है। ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाली उपनिषदें केवल स्वार्थ-विघात और कर्मकाण्ड के प्रामाण्य का विघात ही नहीं करती अपितु निश्चित भेद का ज्ञान करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उनका विरोध भी है। अतः उपनिषदें अप्रामाणिक ही हैं, अथवा उनका कोई अन्य प्रयोजन हो सकता है, वे ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादन करने के लिए ही नहीं हो सकती।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। प्रमाण की प्रमाणता अथवा अप्रमाणता प्रमा की उत्पत्ति करने या न करने के कारण ही होती है, यदि ऐसा न माना जाएगा तो शब्दादि प्रमेय में स्तम्भादि की भी प्रमाणता का प्रसंग उपस्थित होगा।

पूर्व. — सो, इससे क्या हुआ?

सिद्धान्ती — यदि उपनिषदें ब्रह्म-ज्ञान-रूप प्रमा उत्पन्न करती है, तो वे किस प्रकार अप्रामाणिक होगी?

पूर्व. — किन्तु 'अग्नि शीतल होता है' इस वाक्य के समान यदि वे प्रमा उत्पन्न करती हो न हो तो?

सिद्धान्ती — इस प्रकार बोलने वाले से हमें यह कहना है कि उपनिषद् के प्रामाण्य का प्रतिषेध करने के लिए प्रवृत्त हुआ आपका वाक्य उपनिषद् के प्रामाण्य का निषेध क्या नहीं करता है तथा अग्निरूप को क्या प्रकाशित नहीं करता है?

पूर्व. — करता तो है?

सिद्धान्ती — यदि वह उसका प्रतिषेध करता है तो उसका प्रतिषेध करने में आपका वाक्य प्रमाण हो सकत है तथा अग्नि भी रूप का प्रकाशक हो सकता है। अतः यदि आपका प्रतिषेधक वाक्य प्रामाणिक है तो उपनिषदों की प्रामाणिकता होनी ही चाहिए। अब आप बतलाइये इसका क्या परिहार हो सकता है?

पूर्व. — यहाँ मेरे वाक्य में उपनिषत्प्रामाण्य के प्रतिरोध का ज्ञान-रूप प्रमा तथा अग्नि में प्रमा तथा अग्नि में रूप-प्रकाशन का ज्ञान-रूप प्रमा तो प्रत्यक्ष ही है।

सिद्धान्ती — तो फिर ब्रह्मैकत्व ज्ञान में प्रमा को प्रत्यक्ष करती हुई उपलब्ध होनी वाली उपनिषदों में ही आपका क्या दोष है? क्योंकि उनके प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। तथा हम कह चुके हैं कि शोक-मोहादि की निवृत्ति— यह ब्रह्मैकत्व ज्ञान की परम्परा से होने वाला प्रत्यक्ष फल है। अतः इसका उत्तर ऊपर दे दिया जाने के कारण उपनिषदों में अप्रामाण्य की शंका तो हो नहीं सकती। और ऐसा जो कहा कि अपने अर्थ का विघात करने वाली होने से उनकी अप्रामाणिकता है, सो

ऐसी बात भी नहीं है। वह उससे होने वाले अर्थ ज्ञान का कोई बाधक नहीं है। उपनिषदों से यह ज्ञान नहीं होता है ब्रह्म एक मात्र अद्वितीय है भी और नहीं भी है जिस प्रकार कि "अग्नि उष्ण और शीतल भी होता है, इस एक ही वाक्य से दो विरूद्ध अर्थों का ज्ञान भी होता है। तथा यह समझकर ही हम ऐसा कह चुके हैं कि वाक्य की प्रामाणिकता के समय एक वाक्य के अनेक अर्थ मानने उचित नहीं है। यदि वाक्य के अनेक अर्थ होंगे तो एक उसका अपना अर्थ होगा और दूसरा उसका विघात करने वाला अर्थ होगा। 'एक ही वाक्य बहुत-से विरुद्ध और अविरुद्ध अर्थों का भी प्रतिपादन करता है' यह वाक्य को प्रमाण मानने वालों का सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि अर्थ की एकता होने से ही सबकी एकवाक्यता होती है।

कोई-कोई उपनिषद्-वाक्य ब्रह्म की एकता का प्रतिषेध करते हों — ऐसी भी बात नहीं है। 'अग्नि उष्ण और शीतल होता है' यह जो लौकिक वाक्य है, वहां एक वाक्यता नहीं होती; क्योंकि उसका एकदेश प्रमाणान्तर के विषयभूत अर्थ का अनुवाद करने वाला है। "अग्नि शीतल होता है' यह एक वाक्य है और 'अग्नि उष्ण होता है' यह प्रमाणान्तर से प्राप्त हुए अनुभव का अनुवादक है, स्वयं किसी विशेष अर्थ का द्योतक नहीं है। अतः 'अग्नि शीतल होता है' इस वाक्य से उसकी एकवाक्यता नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणान्तर से होने वाले अनुभव की स्मृति कराकर ही समाप्त हो जाता है। और ऐसा जो माना जाता है कि यह वाक्य विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाला है, वह शीत और उष्ण पदों का अग्निपद के समानाधिकरण रूप से प्रयोग होने के कारण उत्पन्न हुई भ्रान्ति है। वास्तव में तो लौकिक ही अथवा वैदिक एक वाक्य के अनेक अर्थ हो ही नहीं सकते।

और ऐसा जो कहा कि उपनिषद्-वाक्य कर्म-काण्ड की प्रामाणिकता को नष्ट करने वाले हैं, सो यह बात नहीं है, क्योंकि उनका तात्पर्य तो दूसरा है। ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाली उपनिषदें अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए साधन के उपदेश तथा उसमें पुरुष के नियोग का निवारण नहीं करती; क्योंकि उनके अनेक अर्थ होने सम्भव ही नहीं है। तथा कर्मकाण्ड-संबंधी वाक्यों की स्वार्थ में प्रमा उत्पन्न न होती हो — ऐसी बात भी नहीं है। यदि कोई वाक्य अपने असाधारण अर्थ में प्रमा उत्पन्न करता है तो उसका दूसरे वाक्य से विरोध क्यों होगा?

पूर्व. — यदि कहें ब्रह्म की एकता मानने पर तो कर्मकाण्ड-परक वाक्यों का कोई विषय ही नहीं रहता, इसलिए प्रमा उत्पन्न हो ही नहीं सकती; तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उनसे प्रमा का होना तो प्रत्यक्ष है। "स्वर्ग की इच्छा वाला दर्श और पूर्णमास यज्ञों द्वारा यजन करे", ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए" इत्यादि ऐसे ही वाक्यों से प्रमा प्रत्यक्ष उत्पन्न होती देखी जाती हैं, 'यदि उपनिषदें ब्रह्म की एकता का ज्ञान करायेंगी तो वह नहीं होगी' यह तो अनुमान है। और प्रत्यक्ष से विरोध होने पर अनुमान की प्रामाणिकता नहीं रह सकती। इसलिए यह कहना कि उनसे प्रमा ही उत्पन्न नहीं होती — असत् ही

है। अपितु जो पुरुष अविद्या द्वारा प्रस्तुत किए हुए यथाप्राप्त क्रिया, कारक और फल का आश्रय करके इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति के सामान्य उपाय में प्रवृत्त है तथा उसका विशेष उपाय नहीं जानता, उसे वह (विशेष उपाय) बतलाने वाली श्रुति लोकप्रसिद्ध क्रिया, कारक और फल भेद की सत्यता एवं असत्यता का न तो प्रतिपादन ही करती है और न निषेध ही; क्योंकि वह तो इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति के उपाय का विधान करने में ही तत्पर है।

जिस प्रकार काम्यकर्मों में प्रवृत्त हुई श्रुति कामनाओं के मिथ्या ज्ञान-जनित होने पर भी यथाप्राप्त कमानाओं को ही लेकर उनके साधनों का ही विधान करती है 'कामनाएं मिथ्याज्ञान-जनित होने के कारण अनर्थरूप है' ऐसा विधान नहीं करती। इसी प्रकार अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों का निरूपण करने वाला शास्त्र भी मिथ्याज्ञान-जनित यथाप्राप्त क्रिया, कारक और फल रूप भेद को ही लेकर इष्ट विशेष की प्राप्ति और अनिष्ट विशेष के परिहार रूप किसी प्रयोजन को देखकर अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान करता है। इस प्रयोजन का अविद्या-विषयक असद् वस्तु से संबंध है, इसलिए उनका विधान न करता हो— ऐसी बात नहीं है, जैसा कि कम्य-कर्मों के भी विषय में देखा गया है।

पूर्व. — कर्म का अधिकार तो विद्वानों को है ही — ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि ब्रह्म की एकता के ज्ञान में कर्माधिकार का विरोध बतलाया जा चुका है। इसी से जान लेना चाहिए कि ब्रह्म की एकता सिद्ध होने पर कोई विषय न रहने के कारण कर्मकाण्ड के उपदेश से उसका ग्रहण रूप फल नहीं हो सकता — इस दोष का परिहार बतला दिया गया है।

पुरुषों की इच्छा एवं रागादि का भेद रहने के कारण कर्म-काण्ड के उपदेश की सार्थकता सिद्ध होती है। पुरुषों की अनेकों इच्छाएँ हैं और रागादि तरह-तरह के दोष हैं, अतः जिनका चित्त बाह्य विषयों के राग से आकर्षित है, उन्हें उससे निवृत्त करने में शास्त्र समर्थ नहीं है। इसी प्रकार जिनका चित्त स्वभाव से ही बाह्य विषयों से विरक्त है, उनको विषयों में प्रवृत्त करने में भी शास्त्र समर्थ नहीं है। किन्तु शास्त्र से तो इतना ही होता है कि यह इष्ट साधन है और यह अनिष्ट साधन– इस प्रकार केवल साध्य-साधन के संबंध विशेष की अभिव्यक्ति ही होती है, जिस प्रकार कि अन्धकार में दीपकादि से रूप का ज्ञान होता है। शास्त्र अपने सेवकों के समान किसी को बलात्कार से प्रवृत्त या निवृत्त नहीं करता; क्योंकि रागादि की अधिकता होने पर भी लोग शास्त्र का उल्लंघन करते भी देखे जाते हैं; अतः पुरुषों की बुद्धि की विचित्रता को दृष्टि में रखकर शास्त्र अनेक प्रकार से साध्य साधन रूप संबंध विशेषों का उपदेश करता है।

किन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पुरुष स्वयं ही साधन-विशेषों में प्रवृत्त होते हैं। शास्त्र तो सूर्य और दीपकादि के समान उदासीन ही रहता है। इस प्रकार किसी को परम पुरुषार्थ भी अपुरुषार्थ के समान भासता है। जिसको जैसा भासता

है, वह तदनुरूप ही पुरुषार्थ देखता है और उसके अनुसार ही साधन ग्रहण करना चाहता है। इस विषय में "प्रजापति के तीनों पुत्रों ने अपने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य वास किया" इत्यादि अर्थवाद भी हैं। अतः ब्रह्म की एकता को सूचित करने वाले वेदान्त-वाक्य विधि-शास्त्र के बाधक नहीं है। इतने ही से विधिशास्त्र निर्विषय नहीं हो सकता और न उपर्युक्त कारकादि भेद वाला विधिशास्त्र ब्रह्म की एकता के प्रति उपनिषदों के प्रामाण्य को ही निवृत्ति कर सकता है, क्योंकि श्रोतादि इन्द्रियों के समान सब प्रमाण अपने-अपने विषय में प्रबल होते हैं।

यहाँ अपने को पंडित मानने वाले कोई-कोई पुरुष [शास्त्रगम्य ऐक्य को स्वीकार करने पर] अपनी बुद्धि के अनुसार समस्त प्रमाणों को एक-दूसरे के विरुद्ध समझते हैं तथा ब्रह्म की एकता मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध की भी शंका करते हैं — श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषयभूत जो शब्दादि हैं वे तो प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न उपलब्ध होते हैं। अतः ब्रह्म की एकता बतलाने वाले वाक्यों का प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध सिद्ध होता है। इसी प्रकार श्रोत्रादि शब्दादि को उपलब्ध करने वाले तथा धर्माधर्म का अनुष्ठान करने वाले संसारी जीव भी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा अनुमान होता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म की एकता बतलाने वाले वाक्यों का अनुमान प्रमाण से भी विरोध है। इसी तरह वे उनका शास्त्र प्रमाण से भी विरोध बतलाते हैं, क्योंकि "ग्राम की कामना वाला यज्ञ करे", "पशु की कामना वाला यज्ञ करे", "स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे" इत्यादि वाक्यों द्वारा ग्राम, पशु और स्वर्ग की कामना वाले तथा उनके साधनों का अनुष्ठान करने वाले पुरुष भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं।

अब इसके उत्तर में कहा जाता है— कुतर्क के कारण जिनके अन्तःकरण दूषित हैं तथा जिनकी बुद्धि वेदार्थ — विषयक सम्प्रदाय से दूर हैं, वैसे ये ब्राह्मणादि वर्णाधम दया के ही पात्र हैं। सो कैसे? — श्रोत्रादि द्वारों से प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाले शब्दादि से ब्रह्म की एकता का विरोध है— इस प्रकार कहने वाले उन पुरुषों से यह कहना चाहिए कि क्या शब्दादि के भेद से आकाश की एकता का भी विरोध है? तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ब्रह्मैकत्व प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का विरोध नहीं हो सकता।

और ऐसा जो कहा कि प्रत्येक शरीर में शब्दादि को उपलब्ध करने वाले तथा धर्माधर्म का अनुष्ठान करने वाले भी भिन्न-भिन्न अनुमान किये जाते हैं, इसलिए ब्रह्म की एकता मानने पर अनुमान प्रमाण से विरोध होगा, सो यह पूछना चाहिए कि क्या वे भिन्न-भिन्न हैं। इसका अनुमान कौन करता है? इस पर यदि वे कहें कि अनुमान करने में कुशल हम सब लोग ही इसका अनुमान करते हैं, तो 'अनुमान करने में कुशल तुम कौन हो?' इस प्रकार पूछे जाने पर तुम्हारा क्या उत्तर होगा?

पूर्व. — शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्म में से क्रमशः एक-एक में अनुमान-कौशल का निषेध किए जाने पर जो शरीर, इन्द्रिय और मन रूप साधनों वाले हम आत्मा हैं, वे ही अनुमान करने में कुशल हैं, क्योंकि क्रियाएं अनेक कारकों द्वारा साध्य होती है, ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — यदि ऐसी बात है, तब तो अनुमान की कुशलता में आपकी अनेकता का प्रसंग होता है। क्रिया अनेक कारकों द्वारा साध्य होती है — ऐसा तो आपने ही स्वीकार किया है। तथा अनुमान भी किया ही है। उसके विषय में आपकी यह प्रतिज्ञा है कि आत्मा जिसका कर्ता है, ऐसी वह क्रिया शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा रूप कारकों द्वारा निष्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में 'हम अनुमान-कुशल हैं' ऐसा कहकर आप यह स्वीकार कर लेते हैं कि हम प्रत्येक शरीर, इन्द्रिय और मन-रूप साधन वाले आत्मा अनेक हैं। अहो! जिनके सींग और पूँछ नहीं है, ऐसे आप तार्किक-वृषभों ने यह अच्छा अनुमान-कौशल दिखलाया। जो आत्मा को ही नहीं जानता वह मूढ़ पुरुष किस प्रकार उसके भेद या अभेद को जान सकता है?

ऐसी स्थिति में वह क्या अनुमान करता है और किस लिंग के द्वारा करता है? आत्मा का अपने से भेद प्रतिपादन करने वाले कोई लिंग तो है नहीं, जिस लिंग के द्वारा वह आत्माओं का भेद सिद्ध कर सके। जिन नाम-रूपवान् लिंगों का आत्म-भेद सिद्ध करने के लिए उल्लेख किया जाता है, वे तो आकाश की उपाधि, घट, कमण्डलु, अपवरक (झरोखा) और भूछिद्र के समान आत्मा की नाम-रूपगत उपाधियां ही है। यदि वह आकाश के भेद का अनुमाषक लिंग देखता है तो आत्मा के भेद का अनुमाषक लिंग भी पा सकता है। किन्तु अन्य (उपाधियों) से भी आत्मा का भेद मानने वाले सैकड़ों तार्किकों द्वारा भी आत्मा के भेद का वास्तविक लिंग नहीं दिखलाया जा सकता है। स्वतः तो आत्मा में भेद होना दूर की बात है; क्योंकि वह किसी का विषय नहीं है। पूर्वपक्षी जिस-जिस को आत्मा के धर्म-रूप से स्वीकार करता है, उसी-उसी को नाम रूपात्मक माना गया है और "आकाश (ब्रह्म) ही नाम एवं रूप का निर्वाह करने वाला है, ये जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है" इस श्रुति से तथा "मैं नाम-रूपों को व्यक्त करूँ" इस वाक्य से भी नाम और रूपों से आत्मा का अन्यत्व स्वीकार किया गया है। नाम और रूप ही उत्पत्ति एवं प्रलय-रूप है तथा ब्रह्म उनसे भिन्न है, अतः अनुमान का विषय ही न होने के कारण अनुमान से उसका विरोध कैसे हो सकता है? इससे शास्त्र-विरोध का भी परिहार कर दिया गया।

ऐसा जो कहा कि ब्रह्म की एकता स्वीकार करने पर तो जिसको उपदेश किया जाएगा और उपदेश-ग्रहण का फल होगा, उन दोनों का अभाव होने के कारण ब्रह्म की एकता के उपदेश की व्यर्थता ही सिद्ध होगी, सो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि क्रियाएं तो अनेक कारकों द्वारा निष्पन्न होने वाली होती ही है। अतः इस विषय में किससे प्रश्न किया जा सकता है? एक निरुपाधिक ब्रह्म में तो न उपदेश है, न उपदेष्टा है और न उपदेश-ग्रहण का फल ही है। अतः [ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर एकत्वोपदेश के साथ ही] सम्पूर्ण उपनिषदों की भी व्यर्थता सिद्ध होती है; और यह हमें भी मान्य ही है। यदि [ब्रह्म ज्ञान के पहले भी] अनेक कारकों के विषयभूत उपदेश को व्यर्थ बतायें तो ठीक नहीं है; क्योंकि इसका तो स्वयं आत्म-ज्ञानियों के मत से विरोध है। अतः यह अल्पबुद्धि पुरुषों के लिए अगम्य और शास्त्र एवं गुरु की कृपा से रहित पुरुषों द्वारा

दुर्भेद्य, अभय दुर्ग तार्किक-चाट भटराजों के लिए प्रवेश योग्य नहीं है। उस "सहर्ष और हर्षरहित देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है?" "इस विषय में पूर्वकाल में देवताओं ने भी संदेह किया था", "यह बुद्धि तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है" तथा देवतादि के वर और कृपा द्वारा इसके प्राप्यत्व का प्रतिपादन करने वाले श्रुति एवं स्मृति संबंधी वाक्यों से एवं "वह चलता है और वह नहीं चलता, वह दूर है और वह समीप भी है" इत्यादि ब्रह्म में विरुद्ध धर्मों का समवायित्व प्रकाशन करने वाले मन्त्रवर्णों से भी यही सिद्ध होता है। गीता में भी कहा है — "सब भूत मुझसे स्थित है" इत्यादि। अतः परब्रह्म से भिन्न संसारी नाम की कोई अन्य वस्तु नही है। इसलिए "पहले वह ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ", "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है और इससे भिन्न कोई श्रोता भी नहीं है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों द्वारा ठीक ही कहा गया है। अतः 'सत्य का सत्य' यह परम उपनिषद् परब्रह्म की ही है।

(7) मोक्ष का स्वरूप — उनमें संसार-बंधन को प्राप्त और मुक्त होते हुए देह और इन्द्रियों का अपने कारण से संसर्ग होना समान होने पर भी मुक्त पुरुषों को उनका पुनः सर्वथा अग्रहण होता है; और जिसकी प्रेरणा से संसार में आने वाले पुरुषों को उनका पुनर्ग्रहण होता है, वह कर्म है — ऐसा विचारपूर्वक निर्णय किया गया है। उस (कर्म) का क्षय हो जाने पर जो नाममात्र शेष रहकर बाकी सब का उच्छेद हो जाता है, उसे मोक्ष कहते हैं। वह कर्म पाप और पुण्य संज्ञावाला है; क्योंकि 'पुण्य-कर्म से पुण्य शरीर युक्त होता है और पाप कर्म से पाप शरीर युक्त' ऐसा पहले निश्चय किया गया है; इसका किया हुआ ही संसार है।

उनके पापकर्म से जिनमें स्वाभावतः ही दुःख की अधिकता है, उन नरक, तिर्यक् एवं प्रेतादि स्थावर-जंगम योनियों में पुन;-पुनः जन्म और मरण को प्राप्त हुआ पुरुष दुःख अनुभव करता है — यह बात राजमार्ग के समान समस्त जगत् में प्रसिद्ध है। यहाँ श्रुति 'पुण्यों वै पुण्येन कर्मणा भवति' इस वाक्य से प्रतिपादित जो शास्त्रीय मार्ग है, उसी में आदर करती है। पुण्य कर्म ही समस्त पुरुषार्थों का साधक है— ऐसा समस्त श्रुति — स्मृतियों का सिद्धान्त है। अतः पुरुषार्थ होने के कारण मोक्ष का भी उस पुण्य-कर्म से साध्य होना प्राप्त होता है। जितनी-जितनी पुण्य की उत्कृष्टता होती है; उतनी-उतनी ही फल की उत्कृष्टता प्राप्त होती है, इसलिए ऐसी आशंका हो सकती है कि उत्तम पुण्योत्कर्ष से मोक्ष प्राप्त होगा, सो इसकी निवृत्ति करनी चाहिए। ज्ञानसहित प्रकृष्ट कर्म की तो इतनी (संसारमात्र) ही गति है, क्योंकि कर्म और उसके फल के आश्रय व्याकृत नाम-रूप ही है। जो किसी का कार्य नहीं है, उस नित्य, अव्याकृतधर्मा, नाम-रूप-रहित क्रियाकारकफल स्वभावहीन मोक्ष में कर्म का कोई व्यापार नहीं हो सकता, और जहाँ व्यपार है, वहाँ संसार ही है — इस बात को प्रदर्शित करने के लिए ही यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है।

कुछ लोगों का जो कथन है कि फलाकाङ्क्षा रहित होकर किया हुआ विद्या सहित कर्म विष और दधि आदि के समान कार्यान्तर का आरम्भ करता है, सो

ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्ष का आरम्भ होने वाला नहीं है। मोक्ष तो बन्धन का नाश मात्र ही है, वह किसी का कार्य नहीं है और बन्धन अविद्या है — ऐसा हम कह चुके हैं तथा अविद्या का कर्म से नाश होना सम्भव नहीं है, क्योंकि जिनमें कर्म का सामर्थ्य है, वे विषय तो प्रत्यक्ष हैं। उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार ही कर्म के सामर्थ्य के विषय हैं। उत्पन्न करने, प्राप्त कराने, विकार करने और संस्कार करने में ही कर्म का सामर्थ्य है; कर्म के सामर्थ्य का इनसे भिन्न कोई विषय नहीं है; कारण, लोक में कर्म के सामर्थ्य का कोई अन्य विषय प्रसिद्ध नहीं है; और इसमें से ही किसी एक पदार्थ का नाम मोक्ष है नहीं, वह केवल अविद्या से ही व्यवधान युक्त है — ऐसा हम कह चुके हैं।

पूर्व. — ठीक है, केवल कर्म का ऐसा ही स्वभाव रहे, किन्तु जो ज्ञानसहित और फलाशा से रहित है, उसका दूसरा स्वभाव है। यह बात देखी गयी है कि जो अन्य शक्ति वाले माने गये हैं, उन विष एवं दधि आदि पदार्थों का विद्या, मन्त्र एवं शर्करादि से संयुक्त होने पर अन्य विषय में सामर्थ्य हो जाता है। इसी प्रकार विद्यासहित कर्म का भी अन्य स्वभाव हो सकता है — ऐसा माना जाये तो?

सिद्धान्ती — ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ कर्म के उक्त विषयों से भिन्न किसी अन्य विषय में सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान है, न अर्थापत्ति है और न शब्द प्रमाण है।

पूर्व. — किन्तु [नित्य और निष्काम कर्मों का मोक्ष के सिवा] कोई अन्य फल न होने पर किसी अन्य कारण से इनकी विधि की उत्पत्ति न होना ही इसमें [अर्थपत्ति] प्रमाण है। [तात्पर्य यह है कि] नित्य कर्मों के विश्वजित् न्याय से तो कोई फल-कल्पना नहीं की जाती और उनका कोई श्रुत फल भी है नहीं; तथा उनकी विधि है ही; इसलिए परिशेषतः मोक्ष ही उनका फल है — ऐसा जाना जाता है। नहीं तो पुरुषों की उनमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

सिद्धान्ती — तब तो यहाँ भी विश्वजित् न्याय आ जाता है; क्योंकि मोक्ष रूप फल की कल्पना की गयी है। मोक्ष अथवा किसी अन्य फल की कल्पना न करने पर पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होगी, इसी के विश्वजित् याग के स्वर्गरूप फल के समान यहाँ श्रुतार्थापत्ति से मोक्ष-रूप फल की कल्पना की जाती है। किन्तु ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जाता है कि यहाँ विश्वजित् न्याय नहीं है। फल की कल्पना भी की जाती है। किन्तु ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जाता है कि यहाँ विश्वजित् न्याय भी नहीं है — यह कथन तो विरुद्ध है।

यदि कहो कि मोक्ष तो किसी का फल ही नहीं है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि इससे तुम्हारी प्रतिज्ञा भंग होती है। तुमने यह प्रतिज्ञा की है कि विष और दधि आदि के समान नित्य और निष्काम कर्म कार्यान्तर का आरम्भ करते हैं। यदि वह मोक्ष कर्म का कार्य-फल ही न हो तो वह प्रतिज्ञा भंग हो जाती है। यदि मोक्ष कर्म का कार्य है तो स्वर्णादि फलों से उसका भेद बतलाना चाहिए और यदि वह

कर्म का कार्य नहीं है तो 'मोक्ष नित्य कर्म का फल है' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा — यह बतलाना चाहिए। 'कार्य' और 'फल' शब्दों के भेद मात्र से ही किसी भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। मोक्ष किसी का फल नहीं है और नित्य कर्मों से होता है, वह नित्य कर्मों का फल है और कार्य नहीं है — यह सब विषय तो विरुद्ध ही कहा जाता है। जैसे कोई कहे — 'अग्नि शीतल है।'

यदि कहो कि यह ज्ञान के समान उसका फल है अर्थात् जैसे ज्ञान द्वारा न किया जाने पर भी मोक्ष ज्ञान का कार्य कहा जाता है, उसी प्रकार वह कर्म का भी कार्य हो सकता है — तो यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान तो निवृत्ति करने वाला है। ज्ञान मोक्ष के अज्ञान रूप व्यवधान की निवृत्ति करने वाला है, इसलिए उपचार से ऐसा कहा जाता है कि मोक्ष ज्ञान का कार्य है; किन्तु कर्म से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती और अज्ञान के सिवा मोक्ष के किसी अन्य व्यवधान की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसकी कर्म से निवृत्ति हो; क्योंकि मोक्ष नित्य है और साधक के स्वरूप से अभिन्न है।

यदि कहो कि कर्म भी अज्ञान की ही निवृत्ति करता है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि कर्म ज्ञान से विलक्षण है। अज्ञान अप्रकाश-रूप है, वह प्रकाश-रूप ज्ञान का ही विरोधी है, कर्म का अज्ञान से विरोध नहीं है, इसलिए कर्म ज्ञान के विलक्षण है। यदि ज्ञानाभाव को, संशय-ज्ञान को अथवा विपरीत ज्ञान को अज्ञान कहा जाये तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है, किसी भी कर्म से नहीं हो सकती, क्योंकि उसका [इनमें से किसी भी प्रकार के] अज्ञान के साथ विरोध नहीं है।

यदि कहो कि कर्मों का अज्ञान-निवर्तकत्व — रूप अदृष्ट फल है, ऐसी कल्पना कर लेनी चाहिए तो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति जब साक्षात् अनुभव से होती है, तो अदृष्ट फल के रूप में निवृत्ति की कल्पना करना उपयुक्त नहीं है। जिस प्रकार मुसल से कूटने पर धान के तुष की निवृत्ति होती है — यह स्पष्टतया ज्ञात होने पर ऐसी कल्पना नहीं की जाती कि वह अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों का अदृष्ट कार्य है। इसी प्रकार अज्ञान-निवृत्ति भी नित्य कर्मों का विरोध है— यह तो हम अनेकों बार कह चुके हैं। जो ज्ञान कर्मों से अविरुद्ध है, वह तो "विद्या से देवलोक की प्राप्त होती है" इस श्रुति के अनुसार देव-लोक की प्राप्ति का कारण है — ऐसा पहले बतलाया गया है।

इसके सिवा, यदि श्रुति-प्रतिपादित नित्य कर्मों के फल की कल्पना करनी ही है तो जो कर्मों से विरुद्ध स्वभाव वाला है — जो द्रव्य, गुण और कर्मों का कार्य ही नहीं हो सकता तथा जिसमें कर्म का सामर्थ्य ही नहीं देखा गया, क्या उसी की कल्पना करनी चाहिए अथवा जिसमें कर्मों का सामर्थ्य देखा गया है तथा जो कर्मों का अविरुद्ध फल है, उसकी कल्पना की जाये? यदि पुरुषों की प्रवृत्ति कराने के लिए कर्म-फल की कल्पना करनी आवश्यक ही है तो श्रुतार्थापत्ति का पर्यवसान कर्म के अविरोधी विषयों (उत्पत्ति, आप्ति, संस्कार और विकार) में ही होने के

कारण उन्हीं की कल्पना करनी चाहिए, नित्य मोक्ष अथवा मोक्ष के व्यवधानभूत अज्ञान की निवृत्ति— यह कर्मों के फल-रूप से कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि कर्म और अज्ञान का अविरोध है और जिन (उत्पत्ति आदि) में उनका सामर्थ्य देखा गया है, वे ही उनके विषय हैं।

पूर्व. — परिशेष्य न्याय से मोक्ष को ही नित्य कर्मों का फल मानना चाहिए— ऐसा कहें तो? तात्पर्य यह है कि सब कुछ समस्त कार्यों का ही फल है, नित्य-कर्मों के सिवा अन्य जितने कर्म है, उनके फलों से भिन्न कोई और ऐसी वस्तु नहीं है, जो नित्य कर्मों के फल-रूप से कल्पना किये जाने योग्य हो; ऐसा तो केवल मोक्ष ही अवशिष्ट रहता है, अतः वेद वेत्ताओं को वही उसका फल इष्ट है; इसलिए उसी की उसके फल-रूप से कल्पना करनी चाहिए — यदि ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती — यह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म-फल की व्यक्तियां तो अनन्त है, इसलिए उसमें पारिशेष्य-न्याय लगाना उचित नहीं है। पुरुष की इच्छा के विषयभूत कर्म-फलों की इयत्ता का किसी भी असर्वज्ञ जीव ने निश्चय नहीं किया; क्योंकि उनके साधन अथवा पुरुष की इच्छाओं के देश, काल और निमित्त नियत नहीं है। कारण, वे पुरुष की इच्छा के विषय और उनके साधन पुरुष के इष्ट फलों द्वारा प्रेरित हैं। अतः प्रत्येक प्राणी इच्छाओं में विचित्रता रहने के कारण उनके साधन और फलों की अनन्तता की भी सिद्धि होती है। उनकी अनन्तता होने के कारण पुरूषों को उनकी इयत्ता का ज्ञान होना असम्भव है, तथा साधन और फलों की इयत्ता का ज्ञान न होने पर मोक्ष की परिशेषता कैसे सम्भव हो सकती है?

पूर्व. — कर्म-फलों की जाति की परिशेषता तो सिद्ध हो ही सकती है? इच्छा के विषय और उनके साधन अनन्त होने पर भी उन सब में कर्म-फल — जातित्व तो समान ही है। किन्तु मोक्ष कर्म-फल है नहीं, अतः वही अवशिष्ट होना चाहिए; इसलिए परिशेषतः उसी को नित्य कर्मों का फल मानना उचित है — यदि ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती — ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि उसे भी नित्य कर्मों का फल माना जायेगा तो उसमें भी कर्म-फल से सजातीयता की उत्पत्ति होने से परिशेष की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इससे भिन्न प्रकार से भी नित्य कर्मों के फल की उत्पत्ति हो सकती है, इसलिए वहीं यह श्रुतार्थापत्ति क्षीण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, आप्ति, विकार और संस्कारों में से कोई भी नित्यकर्मों का फल हो सकता है, इसलिए उन्ही में यह श्रुतार्थापत्ति क्षीण हो जाती है।

पूर्व. — यदि ऐसा मानें कि मोक्ष भी इन चारों में से ही कोई एक है तो?

सिद्धान्ती — नहीं, वह नित्य है, इसलिए उत्पाद्य नहीं हो सकता और इसी कारण विकार्य भी नहीं हो सकता तथा इसी कारण से और साधानात्मक द्रव्य न होने से संस्कार्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कार साधनात्मक द्रव्य का ही होता है, जैसे प्रोक्षणादि से पात्र और घृत आदि। मोक्ष न तो संस्कृत किया जाने वाला है और न यूपादि के समान संस्कार द्वारा निष्पन्न होने वाला है। परिशेषतः आप्य

हो सकता है, सा आत्मा का स्वभावतः और एकमात्र होने के कारण आप्य भी नहीं है।

पूर्व. — किन्तु नित्य कर्म अन्य कर्मों से विलक्षण है, इसलिए उनका फल भी विलक्षण ही होना चाहिए।

सिद्धान्ती — नहीं, कर्मत्व में तो वे समान लक्षण वाले हैं, फिर उसका फल भी अन्य कर्म-फलों के समान लक्षणों वाला ही क्यों न होगा?

पूर्व. — यदि कहें, अन्य कर्मों से निमित्त में विलक्षणता होने के कारण तो फल में विलक्षणता होनी ही चाहिए, तो?

सिद्धान्ती— नहीं, क्योंकि क्षामवतो आदि इष्टियों से इनकी समानता है। जिस प्रकार गृहदाहादि निमित्त होने पर क्षामवती आदि इष्टियों का विधान है और जैसे 'भिन्ने जुहोति', 'स्कन्ने जुहोति' इत्यादि विधियों में भेदन और स्कन्द के प्रायश्चित रूप से किये हुए नैमित्तिक कर्मों का फल मोक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि नैमित्तिकत्व में ये भी उनके समान ही है, कारण, श्रुति जीवनादि निमित्त से इनका विधान करती है, इसी प्रकार नित्य कर्मों का फल भी मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकाश सबके लिए रूप-दर्शन का साधन है, तथापि उल्लू आदि को प्रकाश से रूप की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार उल्लू की दृष्टि से विलक्षणता होने से भी उसका विषय रसादि नहीं माना जाता; क्योंकि रसादि विषय में नेत्र का सामर्थ्य नहीं देखा जाता। बहुत दूर जाकर भी जिस विषय में जिसका सामर्थ्य देखा जाता है, उसी में कुछ विशेष की कल्पना करनी चाहिए; [सर्वथा विपरीत कल्पना करनी उचित नहीं है]।

और ऐसा जो कहा कि विद्या, मंत्र एवं शर्करादि-युक्त विष और दधि आदि के समान नित्य कर्म किसी अन्य कार्य का आरम्भ करते है, सो वे भले ही किसी विशिष्ट कार्य का आरम्भ करें। वह इष्ट होने के कारण उससे हमारा कोई विरोध नहीं है। फलाशा-रहित विद्या-संयुक्त कर्म के विशिष्ट कार्यान्तर आरम्भ करने में हमारा कोई विरोध नहीं; क्योंकि "देवयाजी से आत्मयाजी श्रेष्ठ है" तथा "जो भी विद्या से कर्म करता है वह बलवत्तर होता है" इत्यादि वाक्यों में देवयाजी और आत्मयाजियों में आत्मयाजी विशेष सुना गया है।

मनु जी ने जो "समं पशयन्नात्मयाजी" इत्यादि वाक्य में 'आत्मयाजी शब्द का परमात्म-दर्शन के विषय में प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य यह है कि समस्त भूतों में समदृष्टि रखने वाला आत्मयाजी है, अथवा वहाँ भूतपूर्व गति से उसका प्रयोग हो सकता है। "इसके द्वारा मेरा यह अंग संस्कारयुक्त होता है" इस श्रुति के अनुसार आत्मयाजी आत्मा के संस्कार के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान करता है तथा "गर्भ-संबंधी होमों से [बीजगत पाप निवृत्त होते हैं] इत्यादि प्रकरण में भी नित्य कर्मों का प्रयोजन देहेन्द्रिय संघात का संस्कार दिखाया गया है। जो आत्मयाजी उन कर्मों से संस्कृत हो गया है, वही समदर्शन में समर्थ होता है। उसको ही इस जन्म में या जन्मान्तर में आत्म-दर्शन होना सम्भव है। इसका अर्थ

यह है कि समदर्शन करना वाला स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'आत्मयाजी' शब्द का प्रयोग तो ज्ञानयुक्त नित्य कर्मों को ज्ञानोत्पत्ति की साधनता प्रदर्शित करने के लिए भूतपूर्व गति से किया जाता है।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी कही है कि "ब्रह्म, विश्व-स्रष्टा (प्रजापति) धर्म, महत्तत्व और अव्यक्त — इन्हें विचारवान् पुरुष उत्तम सात्विकी गति बतलाते हैं।" तथा "पाँच भूतों में लीन हो जाता है" यह स्मृति देवसार्ष्टि से भूतों में लय होने को पृथक दिखलाती है। जो लोग यहाँ 'भूतान्यप्येति' के स्थान में 'भूतान्यत्येति' भूतों को पार कर जाता है, ऐसा पाठ करते हैं उनकी बुद्धि ही वेद के विषय में संकुचित है, अतः उनका कोई दोष नहीं है।

ब्रह्मलोकपर्यन्त कर्मविपाक जिसका विषय है तथा उससे भिन्न जो आत्मज्ञान है, वह जिसका प्रयोजन है, ऐसे इस अध्याय को अर्थवाद भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कर्म-काण्ड और उपनिष्द इन दोनों से इसकी समानार्थता देखी जाती है। तथा विहित कर्मों के न करने और प्रतिषिद्धों के करने का फल स्थावर एवं श्वान-शूकरादि योनियों की प्राप्ति देखा जाता है और उन्हें वमन-भक्षण करने वाले आदि प्रेत होते भी देखा जाता है।

और श्रुति-स्मृति द्वारा जो विहित एवं प्रतिषिद्ध-कर्म है, उनके सिवा दूसरे विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों का किसी को भी ज्ञान नहीं हो सकता, जिनके न कहने और न करने से प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रेत, श्वान, शूकर एवं स्थावरादि कर्म फल प्राप्त होते हैं। उनके कर्म-फलों की कोई कल्पना ही कर लेता हो — ऐसी बात नहीं है। अतः जिस प्रकार विहित कर्मों के न करने और प्रतिषिद्धों के करने के ये प्रेत, तिर्यक् एवं स्थावरादि कर्म-फल हैं, उसी प्रकार ब्रह्मापर्यन्त उत्कृष्ट पदों को भी कर्म-फल ही समझना चाहिए। अतः 'स आत्मनो वपामुदा विदत्' 'सोऽरोदीत्' इत्यादि प्रकरणों के समान इस अध्याय की अभूतार्थवादिता नहीं है।

यदि कहो कि इन प्रकरणों मे भी अभूतार्थवादिता नहीं माननी चाहिए तो ऐसा ही सही; किन्तु इतने ही से इस न्याय का बाध नहीं होता और न हमारा पक्ष ही दूषित होता है। "ब्रह्मा विश्वसृजः" इत्यादि को काम्य कर्मों का फल भी नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि उन काम्य कर्मों का फल तो देव सार्ष्टिता बतलाया गया है। अतः ये ब्रह्मत्वादि फलाकांक्षा-सहित नित्य कर्मों के और सर्वमेध, अश्वमेधादि यज्ञों के फल हैं।

किन्तु जिसके फलाशाशून्य नित्य कर्म चित्त-शुद्धि के लिए होते हैं, उनके वे ज्ञानोत्त्पत्ति के कारण होते हैं, जैसा कि "यह शरीर ब्रह्मभाव की प्राप्ति के योग्य किया जाता है" इस स्मृति से प्रमाणित होता है। उन (मुमुक्षुओं) के समीप से उपकारक होने के कारण वे कर्म मोक्ष के भी साधन होते हैं, इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं है। यह किस प्रकार मोक्ष का साधन है, यह बात हम छठें {अर्थात् इस उपनिषद् के चौथे] अध्याय में जनक की आख्यायिका की समाप्ति में कहेंगे।

ऊपर जो विष और दधि आदि के समान — ऐसा कहा गया है, सो वे (मन्त्र एवं शर्करादियुक्त विष और दधि आदि) तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के विषय हैं, इसलिए उनके विषय में वैसा कहने में कोई विरोध नहीं है। परन्तु जो विषय सर्वथा शब्द से ही जाना जाता है, उसके विषय में उस अर्थ का प्रतिपादन करने वाला कोई वाक्य न होने के कारण उसका विष एवं दधि आदि से साधर्म्य नहीं माना जा सकता। और जो विषय प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, उसमें श्रुति-प्रामाण्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जैसे कोई कहे कि 'अग्नि शीतल होता है और भिगो देता है', वाक्य का वैसा अर्थ यदि श्रुतिसंगत हो तो अन्य प्रमाण प्रमाणाभास हो जाते हैं। जैसे मूर्खों को यह प्रत्यक्ष होता है कि खद्योत अग्नि है, अन्तरिक्ष का तल मलिन होता है, तथापि उनके विषय में यथार्थता का प्रमाणान्तर से निश्चय हो जाने पर वह मूर्खों द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ निश्चित अर्थ भी मिथ्या हो जाता है।

अतः वेद के प्रामाण्य का सर्वदा अव्यभिचार होने के कारण उसका वैसा तात्पर्य होने पर ही वाच्य की यथार्थता होती है, केवल मनुष्य की बुद्धि का कौशल ही वाक्यार्थ का निर्णय नहीं कर सकता। पुरुष की बुद्धि के कौशल से ही यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सूर्य प्रकाश नहीं करता। इसी प्रकार वेदवाक्यों का भी विभिन्न बुद्धियों के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं किया जा सकता। अतः यह सिद्ध हुआ कि कर्मों का फल मोक्ष नहीं है।

(8) आत्मा की अविषयता और दृष्टि की द्विविधा — "इतर (याज्ञवल्क्य) ने कहा — "मैने जैसे पहले प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारा आत्मा ऐसे लक्षणोंवाला है, उस प्रतिज्ञा का मैं अनुवर्तन कर ही रहा हूँ, मैंने जैसा कहा है, वह वैसा ही है। और तुमने जो कहा कि उस आत्मा को घटादि के समान हमारा विषय कर दो, सो वैसा सम्भव न होने के कारण नहीं किया जाता। वह असम्भव क्यों है? सो बतलाते हैं — वस्तु का ऐसा की स्वभाव होने के कारण। वह वस्तु का स्वभाव क्या है? दृष्टि आदि का द्रष्टा होना आत्मा का स्वभाव है; आत्मा दृष्टि का द्रष्टा है। दृष्टि दो प्रकार की होती है — लौकिकी और पारमार्थिकी। उनमें चक्षु से संयुक्त दो अन्तःकरण की वृत्ति है, वह लौकिकी दृष्टि है, वह की जाती है, इसलिए उत्पन्न होती है और नष्ट भी होती है। किन्तु जो प्रकाशादि के समान आत्मा की दृष्टि है, वह द्रष्टा के स्वरूप होने के कारण न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वह क्रियमाण उपाधिभूता दृष्टि से संसर्गयुक्त-सी है, इसलिए आत्मा 'द्रष्टा' कहा जाता है तथा द्रष्टा ऐसा भेदवत् व्यवहार होता है।

और यह जो लौकिकी दृष्टि है वह मानो चक्षु द्वारा रूप से संश्लिष्ट-सी ही उत्पन्न होने वाली है। वह नित्य आत्म-दृष्टि से संसृष्ट-सर्व, उसकी प्रतिच्छाया और उससे व्याप्त ही उत्पन्न होती और विकाश को प्राप्त होती है। उसी के कारण, सर्वदा देखने वाला होने पर भी द्रष्टा के विषय में 'वह देखता है, नहीं देखता है' ऐसा उपचार किया जाता है, किन्तु द्रष्टा की दृष्टि में कभी अन्यथात्व नहीं होता; ऐसा

छठें (उपनिषद् के चौथे) अध्याय में कहेंगे भी — 'मानो ध्यान करता हुआ, मानो चेष्टा करता हुआ'' तथा ''द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता'' इत्यादि।

उसी बात को याज्ञवल्क्य इस प्रकार कहता है — जो अपनी कर्म-भूता लौकिकी दृष्टि का द्रष्टा और उसे अपनी नित्य दृष्टि से व्याप्त करने वाला है, उसे तुम नहीं देख सकते। यह जो उसकी कर्मभूता लौकिकी दृष्टि है, वह रूप से उपरक्त होकर रूप की अभिव्याञ्जिका है, वह अपने को व्याप्त करने वाले प्रत्यगात्मा को व्याप्त नहीं कर सकती; अतः उस दृष्टि के द्रष्टा प्रत्यगात्मा को नहीं देख सकते। इसी प्रकार उस श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते तथा मति — केवल मनोवृत्ति के व्याप्त करने वाले का मनन नहीं कर सकते। एवं विज्ञाति— केवल बुद्धि-वृत्ति के व्याप्त करने वाले को ही नहीं जान सकते। यह (उस) वस्तु का स्वभाव है, इसलिए उसे गौ आदि के समान दिखाया नहीं जा सकता।

कोई-कोई [भर्तुप्रपंचादि] 'न द्रष्टेर्द्रष्टारम्' इत्यादि श्रुति के अक्षरों की दूसरी तरह व्याख्या करते हैं। दृष्टि के द्रष्टा अर्थात् दृष्टि के कर्ता को नहीं देख सकते अर्थात् दृष्टि-भेद किये बिना तुम केवल दृष्टि मात्र से कर्ता को नहीं देख सकते, यहाँ 'दृष्टेः' इस पद में कर्म में षष्ठी है, वह दृष्टि क्रियमाण होने से घट के समान कर्म है और 'द्रष्टारम्' इस तृजन्त पद से द्रष्टा का दृष्टि-कर्तृत्व बतलाया गया है; अतः उन व्याख्याताओं का अभिप्राय यह है कि दृष्टि का द्रष्टा — दृष्टि का कर्ता है।

ऐसी व्याख्या करने में वे यह दोष नहीं देखते कि 'दृष्टेः' इस षष्ठ्यन्त रूप से 'दृष्टि' पद का ग्रहण निरर्थक हो जाता है। अथवा यदि देखते होंगे तो 'यह पुनरुक्त है, असार है, प्रमाद पाठ है' ऐसा समझकर उस पर ध्यान नहीं देते। यह अधिक पाठ किस प्रकार है? दृष्टिकर्तृत्व रूप अर्थ तो ['द्रष्टारम्' इस] तृजन्त पद से ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए 'दुष्टेः' यह पद निर्थक ही है, उस स्थिति में तो 'द्रष्टार न पश्येः' केवल इतना ही कहना चाहिए था, क्योंकि जिस धातु से परे 'तृच्' प्रत्यय सुना जाता है, वहाँ वह 'तृच्' उस धात्वर्थ के कर्ता-अर्थ में ही होता है; जैसे गन्ता (गमन करने वाले) को अथवा भेत्ता (भेदन करे वाले) को ले जाता है — केवल इतना ही शब्द प्रयुक्त होता है, यदि कोई अन्य विशेष अभिप्राय न हो तो 'गति के गन्ता को' या 'भेदन के भेत्ता को' ऐसा प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। जब कि इस अधिक पदप्रयोग की दूसरी गति है तो इस अर्थवाद कहकर छोड़ देना भी उचित नहीं है और न यह प्रमाद पाठ ही है, क्योंकि सभी शाखाओं का इसमें मत-भेद नहीं है। अतः यहाँ उन व्याख्याताओं की ही बुद्धि की दुर्बलता है, अध्ययन-कर्ताओं का प्रमाद नहीं है।

किन्तु जिस प्रकार हमने व्याख्या की है कि 'आत्मा को लौकिकी दृष्टि से अलग करके नित्य दृष्टि विशिष्ट दिखाना है' उस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कर्म और कर्ता के विशेषण रूप से 'दृष्टि' शब्द का दो बार प्रयोग होना बन सकता है तथा 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः', इस प्रदेशान्तर के वाक्य से भी इसकी एकवाक्यता हो जाती है एवं ''चक्षुंषि पश्यति'' ''श्रोत्रमिदं श्रुतय'' इत्यादि अन्य

श्रुतियों से भी एकवाक्यता हो जाती है। तथा युक्ति से भी यही उचित जान पड़ता है; क्योंकि विकार का अभाव होने का कारण इसी प्रकार आत्मा का नित्यत्व संभव हो सकता है। [किन्तु यदि आत्मा दृष्टि-कर्ता माना जाएगा तो वह विकारी होगा] और जो विकारी है, वह नित्य हो — ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है। इसके सिवा "ध्यायतीव लेलायतीव", "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपलोपो विद्यते" इत्यादि श्रुतियों के अक्षरों की भी अन्य किसी प्रकार गति नहीं है।

यदि कहो कि आत्मा को विकारहीन मानने पर तो द्रष्टा, श्रोत, मन्ता, विज्ञाता इत्यादि शब्दों की भी कोई संगति नहीं लग सकती, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो यथाप्राप्त लौकिक वाक्यों का अनुवाद करने वाले हैं। वे आत्म तत्व का निर्णय करने के लिए नहीं है, "न दृष्टेः द्रष्टारम" इत्यादि श्रुतियों का कोई अन्य अर्थ होना संभव न होने के कारण उनका उपर्युक्त अर्थ में ही तात्पर्य समझा जाता है। अतः अन्य व्याख्याताओं ने अज्ञान से ही 'दुष्टेः' इस विशेषण का त्याग किया है।

तुम्हारा यह आत्मा उपर्युक्त समस्त विशेषणों से विशिष्ट है, इसलिए इस आत्मा से भिन्न और सब कार्यभूत शरीर अथवा करणात्मक लिंग देह आर्त (नाशवान्) है, एक ही अनार्त-अविनाशी अर्थात् कूटस्थ है; तब चाक्रायम उषस्त चुप हो गया।

(9) ब्रह्म की ईश्वरता और अपूर्व-सिद्धान्त का खण्डन — 'एतस्य वा अक्षरस्य' इत्यादि, यह जो सर्वान्तर साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मरूप अक्षर जाना गया है, जो क्षुधादि धर्मों से रहित आत्मा है, हे गर्गी! इस अक्षर के प्रशासन में — जैसे कि राजा के प्रशासन में राज्य अखण्ड और नियमितरूप से रहता है, इसी प्रकार इस अक्षर के प्रशासन में सूर्याचंद्रमसौ — सूर्य और चन्द्र, जो दिन और रात के समय लोक के दीपक है और जिन्हें उनके द्वारा सिद्ध होने वाले लोक के प्रयोजन को जानने वाले प्रसाशन कर्ता ने उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रचा है, साधारणतया समस्त प्राणियों का प्रकाश-रूप उपकार करने वाले होने से लौकिक दीपकों के समान धारण किये हुए स्थित हैं। अतः ये दोनों (सूर्य और चन्द्र) स्वतंत्र ईश्वर होने पर भी जिसके विधृत होकर नियत, देश काल और [प्राणियों के अदृष्ट रूप} निमित्त से उदय-अस्त एवं वृद्धि-क्षय को प्राप्त होते हुए विद्यमान रहते हैं, वह अक्षर है तथा इस प्रकार वह अक्षर दीपक के कर्ता और विधारयिता के समान इन दोनों का प्रशासन-कर्ता है।

हे गर्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में 'द्यावापृथिव्यौ' — द्युलोक और पृथिवी सावयव होने के कारण फूटने के स्वभाव वाले, भारी होने के कारण गिरने के स्वभाव वाले, संयुक्त होने के कारण वियुक्त होने के स्वभाव वाले और चेतनावान् अभिमानी देवता से अधिष्ठित होने के कारण स्वतंत्र होने पर भी इस अक्षर के प्रशासन में विधृत होकर स्थित है। यह अक्षर ही समस्त व्यवस्थाओं का सेतु समस्त मर्यादाओं का विधारक है; अतः द्युलोक और पृथिवी इसके प्रशासन का अतिक्रमण नहीं कर सकते; इससे इस अक्षर का अस्तित्व सिद्ध होता है; द्युलोक और पृथिवी इसके द्वारा नियमित होकर विद्यमान है — यह इसकी सत्ता का अव्यभिचारी लिङ्ग

है; क्योंकि किसी चेतनावान् असंसारी शासक के बिना ऐसा होना संभव नहीं है; जैसा कि "जिसके द्वारा द्युलोक उग्र और पृथिवी दृढ़ की गयी है" इत्यादि मंत्रवर्ण से सिद्ध होता है।

हे गर्गि! इस अक्षर के प्रशासन में ही निमेष, मुहूर्त इत्यादि काल के अवयव उत्पन्न होने वाले समस्त अतीत और अनागत पदार्थों की कलना (गणना) करने वाले हैं, जिस प्रकार लोक में स्वामी के द्वारा नियुक्त किया हुआ गणक (मुनीम) प्रमाद-शून्य होकर समस्त आय और व्यय की गणना करता है, उसी प्रकार इन कलावयवों का नियन्ता भी इसका प्रभुरूप है।

इसी प्रकार हिमालय आदि श्वेत पर्वतों से निकलने वाली प्राच्य — पूर्व की ओर बहने वाली अर्थात् पूर्व दिशा की ओर गमन करने वाली गंगा आदि नदियाँ, अन्य दिशा में प्रवृत्त होने का सामर्थ्य होने पर भी, जिस ओर नियुक्त कर दी गयी हैं उसी ओर प्रवृत्त रहती है; यह भी उस प्रशासनकर्ता की सत्ता का लिङ्ग है। तथा अन्य सिन्धु आदि नदियाँ पश्चिम दिशा को बहती है। अन्य नदियाँ जिस-जिस दिशा में अनुप्रवृत्त कर दी गयी है, उस-उस को नहीं छोड़ती, यह भी उस अक्षर प्रशास्ता के अस्तित्व का लिंग है।

इसके सिवा अपने को कष्ट देकर भी दान करने वाले सुवर्णादि देने वाले पुरुष की भी प्रमाणज्ञजन प्रशंसा करते हैं। अतः जो कुछ दिया जाता है, जो देते हैं और जो ग्रहण करते हैं, उनका यही मिलना और बिछुड़ना प्रत्यक्ष देखा जाता है; पारलौकिक समागम तो अदृष्ट है; तो भी दानी का दान के फल से संयोग देखने वाले पुरुष प्रमाण का ज्ञाता होने के कारण उनका प्रशंसा करते हैं; किन्तु यह बात कर्म-फल से संयोग कराने वाले कर्ता और कर्मफल के ज्ञाता प्रशास्ता की सत्ता न होने पर होनी सम्भव नही थी, क्योंकि दान-क्रिया तो प्रत्यक्ष-विनाशिनी है। अतः दानकर्ताओं का फल से संयोग कराने वाला कोई है ही।

पूर्व. — यदि कहें कि अपूर्व ही फलदाता है तो?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है।

पूर्व. — सो तो प्रशास्ता की सत्ता मे भी नहीं है।

सिद्धान्ती — नहीं, उससे तो शास्त्र का तात्पर्य सिद्ध हो चुका है। हम शास्त्र का आत्मवस्तुपरत्व प्रतिपादन कर चुके हैं; इसके सिवा एक बात और भी है — अपूर्व की कल्पना करने में जिस अर्थापत्ति का आश्रय लिया जाता है, उसका क्षय तो अन्यथा उपपत्ति (दूसरे प्रकार से भी फल की सिद्ध) होने से ही हो जाता है, क्योंकि सेवा के फल की प्राप्ति सेवा से होती देखी जाती है, सेवा-क्रिया है, अतः उसी के समान होने के कारण याग, दान और होमादि के फल की प्राप्ति भी ईश्वरादि सेव्यों से ही होनी उचित है। क्रिया-धर्म के दृष्ट सामर्थ्य को बिना त्यागे ही यदि फल-प्राप्ति की कामना उत्पन्न हो सकती है तो उस दृष्ट क्रिया-धर्म-सामर्थ्य का त्याग करना युक्ति-युक्त नहीं है।

इसके सिवा अपूर्व की कल्पना करने में गौरव या कल्पनाधिक्य का दोष भी होता है। विचार करो कि ईश्वर की कल्पना करनी चाहिए या अपूर्व की? किन्तु क्रिया का स्वभाव तो सेव्य से फल-प्राप्ति होना देखा गया है, अपूर्व से नहीं और अपूर्व दृष्ट भी नहीं है। अतः उस पक्ष में अदृष्ट अपूर्व की कल्पना करनी पड़ती है और उसमें फल प्रदान करने के सामर्थ्य की भी। इस प्रकार सामर्थ्य स्वीकार करने पर दान की अधिक कल्पना की जाती है। किन्तु इस पक्ष में केवल सेव्य ईश्वर की सत्तामात्र ही की कल्पना की जाती है, उसके फलदान के सामर्थ्य और दातृत्व की नहीं; क्योंकि सेव्य से फल-प्राप्ति होती देखी ही गयी है। इस विषय में 'द्युलोक और पृथिवी धारण किये हुए स्थित है' — इत्यादि रूप से अनुमान भी दिखाया गया है।

(10) ब्रह्मानन्द का विवेचन— जो जगत् का मूल है, जिस शब्द से ब्रह्म का साक्षात् निर्देश किया जाता है और जिसके विषय में याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों से पूछा था, उसे श्रुति हमारे लिए स्वयं ही बतलाती है — विज्ञान — विज्ञप्ति का नाम विज्ञान है, वही आनन्द भी है। विषय-विज्ञान के समान यह दुःख से अनुविद्ध नहीं है, तो फिर कैसा है? प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास, नित्य तृप्त और एकरस है— ऐसा इसका तात्पर्य है। जो [विज्ञान और आनन्द इन] दोनों विशेषणों से युक्त है वह ब्रह्म क्या है? रातिः-रातेः (राति का) अर्थात् धन का इस प्रकार 'रातिः' शब्द में षष्ठी के अर्थ में प्रथम विभक्ति है, तात्पर्य यह कि धन देने वाले अर्थात् कर्म करने वाले यजमान का परायण — परागति अर्थात् कर्म-फल प्रदान करने वाला है। इसी प्रकार जो एषणाओं से अलग होकर उस ब्रह्म में ही परिनिष्ठित है, कर्मकर्ता नहीं है, और ब्रह्म को जानता है, इसलिए तद्विद् (ब्रह्मविद्) है, उस ब्रह्मनिष्ठ और तद्विद् यानी ब्रह्मवेत्ता का भी परायण है।

यहाँ यह विचार किया जाता है — लोक में 'आनन्द' शब्द सुखवाची प्रसिद्ध है; और यहाँ 'आनन्द ब्रह्म' इस प्रकार 'आनन्द' शब्द ब्रह्म के विशेषरूप से श्रुत है; अन्य श्रुतियों में भी यह ब्रह्म के विशेषरूप से श्रुत हुआ है; जैसे — "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान्" "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "यो वैभूमा तत् सुखम्" इत्यादि तथा ऐसी ही "एष परम आनन्दः" इत्यादि श्रुतियाँ हैं। किन्तु 'आनन्द' शब्द संवेद्य (ज्ञेय) सुख के अर्थ में ही प्रसिद्ध है; अतः यदि ब्रह्मानन्द भी संवेद्य (ज्ञेय) हो तभी ब्रह्म में ये 'आनन्द' शब्द सार्थक हो सकते हैं।

पूर्व. — किन्तु श्रुति के प्रमाण से ब्रह्म संवेद्य आनन्द स्वरूप तो है ही, फिर इसमें विचार क्या करना है?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस विषय में विरुद्ध श्रुतिवाक्य देखे जाते हैं। यह तो ठीक है कि ब्रह्म में 'आनन्द' शब्द श्रुत होता है; किन्तु साथ ही एक होने के कारण उसके विज्ञान का प्रतिषेध भी श्रुत होता है। जैसे — "जहाँ इसके लिए सब आत्मा ही हो गया है, उस अवस्था में किसके द्वारा किसको देखे और किसके द्वारा किसको जाने?" "जहाँ अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं

सुनता और अन्य कुछ नहीं जानता वह भूमा है'' 'प्रज्ञानात्मा से अलिंगित (अभिन्न होकर यह बाह्य कुछ भी नहीं जानता'' इत्यादि। इस प्रकार उससे विरुद्ध श्रुति-वाक्य देखे जाते हैं, इसलिए विचार करना आवश्यक है। अतः वेद के वचनों का तात्पर्य निर्णय करने के लिए विचार करना उचित ही है।

इसके सिवा मोक्षवादियों में मतभेद होने के कारण भी विचार करना आवश्यक है। सांख्य और वैशेषिक मोक्षवादियों का ऐसा विपरीत विचार है कि मोक्ष में संवेद्य सुख है ही नहीं, किन्तु दूसरे मोक्षवादियों का मत है कि मोक्ष में निरतिशय स्वयंवेद्य सुख है; सो इसमें कौन सी बात ठीक है?

पूर्व. — आनन्द का श्रवण होने से तथा ''भक्षण करता हुआ, क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता हुआ'', ''वह यदि पितृलोक की इच्छा वाला होता है'' ''जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है,'' ''समस्त कामों को प्राप्त करता है'' इत्यादि श्रुतियों से तो मोक्ष में संवेद्य सुख जान पड़ता है।

सिद्धान्ती — किन्तु उस समय एकत्व होने के कारण कारक-विभाग का अभाव होने से विज्ञान होना संभव नहीं है, क्योंकि क्रिया अनेक कारक द्वारा साध्य होती है और विज्ञान भी एक क्रिया ही है।

पूर्व. — यह दोष नहीं हो सकता; शब्द-प्रामाण्य होने के कारण उस समय आनन्द-विषयक विज्ञान रहना ही चाहिए; यदि आनन्द-स्वरूप असंवेद्य होगा तो ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्य अनुपपन्न हो जायेगे– ऐसा हम पहले कह चुके हैं।

सिद्धान्ती — किन्तु वचन के द्वारा भी अग्नि की शीतलता और जल की उष्णता नहीं की जा सकती क्योंकि वचन तो ज्ञापक ही है और यह बात बतलाई नहीं जा सकती कि किसी देशान्तर में अग्नि शीतल है और किसी अगम्य देशान्तर में जल उष्ण है।

पूर्व. — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रत्यगात्मा में तो आनन्द का विज्ञान देखा जाता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य 'अग्नि शीत है' — इत्यादि वाक्यों के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले नहीं हैं। इनकी अविरुद्धार्थता का तो अनुभव होता है। 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार सुख-स्वरूप आत्मा को पुरुष स्वयं ही जानता है, इसलिए इनकी अविरुद्धता तो अत्यन्त प्रत्यक्ष ही है। अतः आनन्द ब्रह्म विज्ञानात्मक होते हुए स्वयं ही जानता है। इसी प्रकार पहले कही हुई 'जक्षत् क्रीडन् रममाण' इत्यादि आनन्द का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ सुसंगत हो सकती हैं।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि देह और इन्द्रियों का अभाव होने पर विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती— शरीर का वियोग हो जाना ही आत्यन्तिक मोक्ष है और शरीर न रहने पर आश्रय का अभाव हो जाने के कारण इन्द्रियों का रहना भी असंभव है; अतः देह और इन्द्रियों का अभाव हो जाने से उस समय विज्ञान नहीं हो सकता; यदि देहादि के अभाव में भी विज्ञान की उत्पत्ति मानी जाये तो समस्त जीवों के देह और इन्द्रियों के ग्रहण करने की व्यर्थता का प्रसंग उपस्थित होगा।

इसके सिवा एकत्व से विरोध होने के कारण भी विज्ञान होना अनुपपन्न है— यदि ऐसा मानों कि नित्य विज्ञानानन्द-स्वरूप होने के कारण परब्रह्म अपने आनन्दमय स्वरूप को नित्य ही जानता रहता है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि संसारी जीव भी संसार से मुक्त होने पर ब्रह्म-स्वरूपता को प्राप्त हो जाता है, जलाशय में डाली हुई जल की अंजलि के समान वह भी आनन्दस्वरूप ब्रह्म के विज्ञान के लिए पृथक् होकर स्थित नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में यह कहना कि मुक्त पुरुष आनन्द-स्वरूप आत्मा को जानता है, निर्थक है।

और यदि ऐसा कहो कि मुक्त पुरुष ब्रह्म से अलग रहकर ब्रह्मानन्द को और ''मैं आनन्द स्वरूप हूँ' इस प्रकार प्रत्यगात्मा को जानता है तो ऐसी स्थिति में एकत्व से विरोध आता है; और ऐसा होने पर सभी श्रुतियों से विरोध होता है। इन दो पक्षों के सिवा कोई तीसरी कल्पना होनी सम्भव नहीं है।

एक बात और भी है, ब्रह्म को आत्मानन्द का निरन्तर विज्ञान मानने पर उसके विज्ञान और अविज्ञान की कल्पना भी व्यर्थ हो जाती है। यदि ब्रह्म को आत्मानन्द-विषयक विज्ञान निरन्तर रहता है, तो वही उसका स्वभाव समझना चाहिए; अतः वह आत्मानन्द को जानता है— यह कल्पना नहीं बन सकती। इस कल्पना की सार्थकता तो उसका विज्ञान न होने का प्रसंग होने पर ही हो सकती है; जैसे — वह अपने को और दूसरे को जानता है; जिसका चित्त निरन्तर बाण में लगा हुआ है, उसके विषय में बाण के ज्ञान और अज्ञान की कल्पना सार्थक नहीं हो सकती।

और यदि वह विच्छिन्नरूप से ही आत्मानन्द को जानता है तो आत्म-विज्ञान के छिद्र में अर्थात् जिस समय आत्मानन्द का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में किसी अन्य विषय के विज्ञान के रहने का प्रसंग होगा; इससे आत्मा विकारी सिद्ध होगा और ऐसा होने से उसके अनित्य होने का प्रसंग उपस्थित होगा; अतः ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करने वाली ही है, आत्मानन्द का संवेद्यात्व बतलाने वाली नहीं है। असंवेद्यत्व मानने पर 'अक्षत् क्रीडन्' इत्यादि श्रुति से विरोध होगा।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि यह सर्वात्मैकत्व की अनुभूति होने पर यथा प्राप्त भक्षणादि का अनुवाद करने वाली है। मुक्त पुरुष को सर्वात्मैकत्व की प्राप्त हो जाने पर जहां कहीं योगियों अथवा देवताओं में भक्षणादि की प्राप्ति होती है, उस यथा प्राप्त भक्षणादि का ही इसके द्वारा अनुवाद किया गया है। अर्थात् सर्वात्मभाव होने के कारण वह भक्षणादि मुक्त पुरुष का ही है — इस प्रकार यह कथन मोक्ष की स्तुति के लिए है।

पूर्व. — यदि यह श्रुति यथा प्राप्त भक्षणादि का अनुवाद करने वाली है तब तो उसका दुःखी होना भी प्राप्त होगा— योगी आदिकों में यथा प्राप्त भक्षणादि की प्राप्ति के समय उसे स्थावरादि में यथा प्राप्त दुःखित्व की भी प्राप्ति होगी — ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सुखित्व और दुःखित्व आदि विशेष धर्म नाम-रूप-जनित देह और इन्द्रिय रूप उपाधि के सम्पर्क से होने वाली भ्रान्ति

से आरोपित है — इस प्रकार इन सब शंकाओं का पहले ही परिहार किया जा चुका है। विरुद्ध श्रुतियों का विषय भी हम पहले कह चुके हैं। अतः आनन्द-प्रतिपादक समस्त वाक्यों को "एषोऽस्य परमआनन्दः" इस वाक्य के समान ही समझना चाहिए।

(11) आत्म-ज्योति — वाणी के शान्त हो जाने पर तथा गन्धादि बाह्य अनुग्राहकों के भी निवृत्त हो जाने पर इस पुरुष की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का निरोध प्राप्त होता है। यहाँ यह कहा गया है — जिस समय जाग्रत-अवस्था में आदित्यादि ज्योतियों से अनुगृहीत होने वाली चक्षु आदि इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं, उस समय इस पुरुष का व्यवहार स्पष्टतर होता है, इस प्रकार जाग्रत अवस्था में इस पुरुष के ज्योति-संबंधी कार्यों की सिद्धि अपने अवयव-संघात से व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा ही देखी गयी है। अतः हम समझते है कि स्वप्न और सुषुप्ति काल में सम्पूर्ण बाह्य ज्योतियों के अस्त हो जाने पर तथा जाग्रत-काल में भी ऐसी अवस्था आने पर अपने अवयव-संघात से व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा ही इस पुरुष के ज्योति-संबंधी कार्य की सिद्धि होती है, स्वप्न में बन्धुओं के संयोग और वियोग दिखाई देने और देशान्तर में जाने आदि ज्योति के कार्यों की सिद्धि देखी ही जाती है; इसी प्रकार सुषुप्ति से उठना और 'मैं सुख से सोया, उस समय कुछ भी भान नहीं रहा' ऐसा अनुभव भी देखा ही जाता है। अतः कोई व्यतिरिक्त ज्योति है। किन्तु उस वाणी के शान्त होने पर कौन ज्योति होती है? सो बतलाया जाता है — उस समय आत्मा की पुरुष की ज्योति होता है। आत्मा — यह देहेन्द्रियरूप अपने अवयव-संघात से व्यतिरिक्त, देह और इन्द्रियों का अवभासक तथा आदित्यादि बाह्य ज्योतियों के समान स्वयं किसी अन्य से भासित न होने वाली ज्योति कहा जाता है। तथा [किन्हीं बाह्य ज्योतियों में न होने के कारण] वह पारिशेष्य न्याय से अंतस्थ है, वह देह और इन्द्रियों से भिन्न है — यह तो सिद्ध ही हो चुका है; और जो ज्योति देहेन्द्रियों से भिन्न तथा देहेन्द्रिय संघात की उपकारक होती है, वह नेत्रादि बाह्य इन्द्रियों से उपलब्ध होती देखी जाती है; क्योंकि आदित्यादि ज्योतियों के निवृत्त हो जाने पर यह आत्मा उनकी तरह चक्षु आदि से उपलब्ध नहीं होता, किन्तु तो भी चूंकि ज्योति का कार्य देखा ही जाता है, इसलिए यह पुरुष आत्माज्योति से बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है; अतः यह ज्ञात होता है कि निश्चय ही आत्मा अन्तस्थ ज्योति है। यही नहीं, वह आदित्यादि ज्योतियों से विलक्षण और अभौतिक भी है। यही कारण है कि वह आत्म-ज्योति आदित्यादि के समान चक्षु आदि से ग्राह्य नहीं है।

पूर्व. — यह नहीं हो सकता, क्योंकि समान जाति वाले पदार्थ से ही उपकार होता देखा जाता है, आदित्यादि से भिन्न जो आन्तर ज्योति सिद्ध की गयी है, वह ठीक नहीं है। क्यों? क्योंकि जिनका उपकार किया जाता है, उन भौतिक देहेन्द्रिय संघात का अपने समान जाति वाले भौतिक आदित्यादि ज्योति से ही उपकार होता देखा जाता है; और जैसा देखा गया है, वैसा ही इसका अनुमान करना चाहिए। यह

देह और इन्द्रियों की उपकारक ज्योतिं आदित्यादि के समान उनसे कोई भिन्न पदार्थ है; तो भी उसे देहेन्द्रिय संघात के समान जातिवाली ही अनुमान करनी चाहिए; क्योंकि आदित्यादि ज्योतियों के समान वह देहेन्द्रिय-संघात का उपकार करने वाली है। इसके सिवा अन्तस्थ और अप्रत्यक्ष होने के कारण जो उसकी विलक्षणता बतलाई जाती है, वह तो नेत्रादि ज्योतियों के द्वारा व्यभिचारित हैं; क्योंकि अप्रत्यक्ष और अन्तस्थ होने पर भी नेत्रादि ज्योतियाँ भौतिक ही हैं। अतः 'आत्म-ज्योति इनसे विलक्षण है — यह सिद्ध होता है' ऐसा कहना तुम्हारी मनमानी कल्पना मात्र है।

इसके सिवा देहेन्द्रिय संघात के रहने पर ही रहती है, इसलिए यह चैतन्य ज्योति [रूप आदि के समस्त] संघात का ही धर्म है, ऐसा भी अनुमान होता है। सामान्य तो दृष्ट अनुमान व्यभिचारी होता है, इसलिए उसकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं ही जा सकती। आप सामान्य तो दृष्ट अनुमान के बल से ही तो आदित्यादि के समान ज्योति को देह और इन्द्रियों से भिन्न सिद्ध करते हैं; किन्तु अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं हो सकता; यह देहेन्द्रिय संघात तो प्रत्यक्ष देखता, सुनता, मनन करता और विशेषरूप से जानता है; यदि आदित्यादि के समान इसका उपकार करने वाली कोई अन्य ज्योति हो तो वह आत्मा नहीं हो सकती, अपितु आदित्यादि के समान कोई अन्य ज्योति होगी; जो भी प्रत्यक्ष दर्शनादि कर्म करता है, वह देहेन्द्रिय संघात ही आत्मा होनी चाहिए, कोई दूसरी नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध होने पर अनुमान को प्रामाणिकता नहीं हो सकती।

सिद्धान्ती — किन्तु यदि यह संघात ही दर्शनादि क्रियाओं का करने वाला आत्मा हो तो ऐसा क्यों होता है कि इसमें कोई विकार न आने पर भी कभी तो इसमें दर्शनादि क्रियाओं का कर्तृव्य रहता है और कभी नहीं रहता?

पूर्व. — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा गया है और देखी हुई बात में अनुपपत्ति नहीं होती। खद्योत को प्रकाशक और अप्रकाशकरूप से देखने में किसी अन्य कारण का अनुमान नहीं करना चाहिए। यदि किसी से समानता होने के कारण उसके विषय में भी अनुमान किया जाये तब तो सब जगह सबके विषय में अनुमान ही करना होगा। और यह इष्ट नहीं है, क्योंकि पदार्थ का कोई स्वभाव ही न हो — ऐसी बात नहीं है, अग्नि का उष्ण स्वभाव होना अथवा जल का शीतल होना किसी अन्य कारण से नहीं है। यदि कहो कि स्वभाव भी प्राणियों के धमाधर्म की अपेक्षा से होता है, तो धर्माधर्मादि का किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा रखने वाला स्वभाव मानने का प्रसंग होगा। यदि कहो कि होने दो, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इससे अनवस्था का प्रसंग होगा और वह इष्ट नहीं है।

सिद्धान्ती — तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न और स्मृति में देखे हुए का ही दर्शन होता है— स्वभाववादी ने जो कहा कि दर्शनादि क्रिया देह के ही उससे भिन्न के नहीं है, सो ऐसी बात नहीं है। यदि दर्शनादि क्रिया देह की ही होती तो स्वप्न में देखे हुए को ही न देखा जाता। अन्धा पुरुष स्वप्न देखने के समय

पहले देखे हुए पदार्थों को ही देखता है, जिन्हें पहले कभी नहीं देखा, उन शाक द्वीपादि के पदार्थों को नहीं देखता; इससे यह सिद्ध होता है कि स्वप्न में जो पहले देखे हुए पदार्थों को देखता है, उसी ने पहले नेत्रों के रहते हुए उन पदार्थों को देखा था, देह ने नहीं। यदि देह ही देखने वाला होता तो जिनके द्वारा उसने पहले देखा था उन नेत्रों के निकल दिये जाने पर उन पूर्व दृष्ट पदार्थों को स्वप्न में न देखता; किन्तु जिनके नेत्र निकाल लिये गये हैं, उन अंधों के विषय में भी लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि आज स्वप्न में मैंने पहले देखा हुआ हिमालय का शिखर देखा। इससे यह ज्ञात होता है कि जो स्वप्न देखने वाला है, वही नेत्रों के न निकालने पर भी द्रष्टा है, देह द्रष्टा नहीं है।

इसी प्रकार स्मरण में समझना चाहिए। द्रष्टा और स्मरण करने वाले की एकता होने पर जो द्रष्टा होता है, वही स्मरण करने वाला होता है। जबकि ऐसी बात है तभी आँख मूंदकर स्मरण करने वाला भी जो पहले देखा हुआ रूप है, उसे देखे हुऐ के समान ही देखता है; अतः जिन्हें मूंद रखा है, वे नेत्र द्रष्टा नही हैं, जो नेत्रों के मूंदने पर स्मरण किये जाने वाले रूप को देखता है, वही नेत्रों के न मूंदने पर भी दर्ष्टा था — ऐसा जाना जाता है।

इसके सिवा शरीर के मर आने पर उसमें कोई विकार न होने पर भी वह रूपादि का दर्शन नहीं करता — यदि देह ही द्रष्टा होता तो उसके मरने पर भी उसमें दर्शनादि क्रिया होती। अतः जिसके देह में न रहने पर दर्शन नहीं होता और रहने पर होता है, वही दर्शनादि क्रिया का कर्ता है, देह नहीं – ऐसा ज्ञात होता है।

यदि कहो कि नेत्रादि इन्द्रियां ही दर्शनादि क्रिया करने वाली है, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि (वैसी स्थिति में) दर्शन और स्पर्श भिन्न कर्ताओं की क्रिया होने के कारण 'जिसे मैंने देखा था, उसका स्पर्श करता हूँ' ऐसा अनुभव नहीं हो सकता था। अच्छा तो मन ही द्रष्टा है — ऐसा माने तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि रूप आदि की भाँति विषय (दृश्य) होने के कारण मन का भी द्रष्टा होना संभव नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि चैतन्य-ज्योति अन्तस्थ है और आदित्यादि के समान शरीर से भिन्न है।

ऐसा जो कहा कि देहेन्द्रिय संघात के समान जाति वाली ही किसी अन्य ज्योति का अनुमान करना चाहिए, क्योंकि आदित्यादि तथा उसके समान जातीय ज्योतियों से ही संघात का उपकार होता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपकार्य–– उपकारक भाव का कोई नियम नहीं देखा जाता; किस प्रकार? [सो बतलाते हैं] पार्थव इन्धन से एवं पार्थिवत्व में समान जाति वाले तृण और उलप (घास) आदि से अग्नि का प्रज्वलन रूप उपकार देखा जाता है, किन्तु इतने ही से सर्वत्र ऐसा अनुमान नहीं कर लेना चाहिए कि उनके समान जातीय पदार्थों से ही अग्नि का प्रज्वलन रूप उपकार होगा, क्योंकि उनसे भिन्न जाति वाले जल से भी बिजली रूप अग्नि का तथा पेट के भीतर की अग्नि का प्रज्वलन रूप उपकार होता देखा जाता है। अतः उपकार्योपकारक भाव में समान जातीय अथवा असमान जातीय होने का नियम

नहीं है; कभी तो समान जातीय मनुष्य मनुष्यों से ही उपकृत होते हैं और कभी स्थावर एवं पशु आदि भिन्न जाति वालों से उनका उपकार होता है; अतः कार्यकरण संघात के समान जातीय आदित्यादि ज्योतियों से उपकृत होने के कारण ही आत्मज्योति संघात के समान जातीय ही होनी चाहिए — यह कोई हेतु नहीं है।

और तुमने जो ऐसा कहा कि आदित्यादि की ज्योति के समान चक्षु आदि इन्द्रियों से दिखाई देने वाली न होने के कारण [आत्मज्योति अन्तस्थ और भिन्न प्रकार की है] यह हेतु तो चक्षु आदि से व्यभिचरित होने के कारण उस अन्य ज्योति का अन्तस्थ और विलक्षण होना सिद्ध नहीं कर सकता, सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियो से भिन्न होते हुए उनसे न दिखाई देने के कारण आत्म ज्योति अन्तस्थ एवं विलक्षण है। इस प्रकार उपर्युक्त हेतु में विशेषण लगा देने से उनकी उपपत्ति हो सकती है।

तथा उस ज्योति की जो देहेन्द्रिय संघात के धर्म वाली बतलाया, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से अनुमान से विरोध आता है, आदित्यादि ज्योति के समान वह ज्योति देहेन्द्रिय संघात से भिन्न पदार्थ है, ऐसा अनुमान कहा गया है; उस अनुमान से इस प्रतिज्ञा का कि उस देह में देहेन्द्रिय संघात का धर्मत्व है, विरोध आता है; देह तद्भावभावित है [अर्थात् जब तक देह है तह तक उसके धर्मरूप से चैतन्य ज्योति भी रहती है] यह तुम्हारा हेतु तो असिद्ध है, क्योंकि मृत देह में वह ज्योति नहीं देखी जाती।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान की अप्रामाणिकता मानने पर तो भोजन और जलपानादि सभी व्यवहारों के लोप का प्रसंग उपस्थित होगा; और वह द्रष्टा नहीं है; क्योंकि तब तो, जलपानादि और भोजनादि करने पर भूख और प्यास की निवृत्ति देखने वाले को उसी की मानता से लोक में जलपान और भोजन ग्रहण करने दिखाई देना सिद्ध नहीं हो सकता [क्योंकि सामान्यतो दृष्ट नियम को वह अप्रामाणिक मान लेगा] किन्तु जिन्होंने जलपान और भोजन किया है, वे लोग फिर भी जलपान और भोजन करने से क्षुधा पिपासादि की निवृत्ति का अनुमान करके उसके लिए प्रवृत्त होते देखे जाते हैं।

ऐसा जो कहा कि यही देह दर्शनादि क्रिया का कर्ता है; इसका तो स्वप्न और स्मृतियों का देह से भिन्न कोई अन्य द्रष्टा है, ऐसा कहकर पहले ही परिहार कर दिया गया है। तथा इसी से [अर्थात् संघात द्रष्टृत्व का निराकरण करके] उस अन्य ज्योति के अनात्मत्व का भी निषेध कर दिया है। तथा खद्योत का जो कभी प्रकाशकत्व और कभी अप्रकाशकत्व बतलाया, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे प्रकाशकत्व तो पंख आदि अवयवों के सिकोड़ने और खोलने के कारण हैं। तथा यह जो कहा कि 'अवश्य फल देना' — यह धर्म और अधर्म का स्वभाव ही स्वीकार कर लेना चाहिए; सो ऐसा स्वीकर करने पर तुम्हारे ही सिद्धान्त की हानि होगी। और इसी से (सिद्धान्त में विरोध होने के ही कारण) तुम्हारे द्वारा आशंकित अनवस्था दोष

का भी निराकरण कर दिया गया। अतः संघात से पृथक् और अपने भीतर ही स्थित आत्मज्योति है — यह सिद्ध हुआ।

(12) आत्मा का स्वरूप — आत्मा शरीर से व्यतिरिक्त सिद्ध होने पर भी समस्त इन्द्रियाँ विज्ञानवती-सी जान पड़ती हैं, क्योंकि आत्मा उनसे पृथक् रूप से उपलब्ध नहीं होता। इसलिए मैं पूछता हूँ कि आत्मा कौन-सा है? जिसका आपने उल्लेख किया है, वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन — इनमें से कौन-सा है, जिस ज्योति के द्वारा पुरुष बैठता है — ऐसा कहा गया है।

अथवा जो यह आत्मा आपको विज्ञानमयरूप से अभिप्रेत है, सो ये सभी प्राण विज्ञानमय के समान है, इन प्राणों में वह कौन-सा है? जिस प्रकार उपस्थित ब्राह्मणों में ये सभी तेजस्वी है, इनमें छहों वेदाङ्गों का जानने वाला कौन है? ऐसा प्रश्न किया जाये।

[इन दोनों व्याख्याओं में से] पूर्व व्याख्या में 'कतम आत्मा' (कौन-सी आत्मा है) इतना ही प्रश्न-वाक्य है, और 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि उत्तर है; तथा दूसरी व्याख्या में 'प्राणेषु' यहां तक प्रश्न-वाक्य है अथवा 'विज्ञानमयो हृद्यन्तर्योनिः पुरुषः कतमः' यहाँ तक सारा ही प्रश्न-वाक्य है। किन्तु 'योऽयं विज्ञानमयः' इस शब्द का निश्चित अर्थ विशेष से संबंध रखने वाला होना तथा 'कतम आत्मेति' इसमें इति शब्द का प्रश्न-वाक्य की समाप्ति के लिए होना किसी व्यवहित संबंध के बिना ही उचित है — ऐसा समझकर 'कतम आत्मेति' इसके इति शब्द पर्यन्त ही प्रश्न-वाक्य है, 'योऽयम्' इत्यादि आगे का सारा वाक्य उत्तर ही है — ऐसा निश्चय होता है।

आत्मा प्रत्यक्ष है, इसलिए 'योऽयम्' (जो यह) ऐसा निर्देश किया गया है। विज्ञानमय-विज्ञानप्राय, बुद्धि विज्ञानरूप उपाधि के संपर्क का विवेक न होने के कारण यह विज्ञानमय कहा जाता है; क्योंकि जिस प्रकार राहु चंद्रमा और सूर्य के सम्पर्क में आकर ही उपलब्ध होता है, उसी प्रकार यह बुद्धिरूप विज्ञान से सम्पर्क रखकर ही अनुभव में आता है; अन्धकार में सामने रखे हुए दीपक के समान बुद्धि ही सब प्रकार के व्यापारों का साधन है; 'मन ही से देखता है, मन ही से सुनता है' ऐसा कहा भी है। जिस प्रकार अन्धकार में समस्त पदार्थ सम्मुखस्थ दीपक के प्रकाश से युक्त होकर ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ बुद्धि-रूप विज्ञान के आलोक से विशिष्ट होकर ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ बुद्धिरूपविज्ञान के आलोक से विशिष्ट होकर ही उपलब्ध होते हैं। अन्य इन्द्रियां तो बुद्धि की द्वार-मात्र है। इसलिए आत्मा को उस (बुद्धि) के द्वारा ही विज्ञानमय इस प्रकार विशेषित किया जाता है।

जिनके मत में 'विज्ञानमय' शब्द की व्याख्या 'परमात्मा की विज्ञप्ति का विकार, है, उनका यह अर्थ 'विज्ञानमयः' 'मनोमयः' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुतियों में विज्ञानमय शब्द का दूसरा अर्थ देखे जाने के कारण, श्रुति-विरुद्ध सिद्ध होता है। जहाँ किसी पद के अर्थ में संदेह हो वहाँ अन्य स्थान में निश्चित प्रयोग देखकर उसके अनुसार ही निश्चय

किया जाता है; इसके सिवा वाक्य-शेष से अथवा निश्चित न्याय के बल से भी उसका निश्चय हो सकता है। तथा आगे 'सधी' (बुद्धि के सहित) ऐसा पाठ है और 'हृद्यन्तः' ऐसा वचन भी है; इससे भी उसका विज्ञानप्रायता विज्ञानाधिक्य ही उचित है।

'प्राणेषु' यह सप्तमी व्यतिरेक प्रदर्शित करने के लिए है; जैसे 'वृक्षेषु पाषाणः' यहाँ सामीप्य अर्थ को लक्षित कराने वाली सप्तमी है, प्राणों में ही आत्मा की भिन्नता या अभिन्नता के विषय में संदेह होता है, अतः 'प्राणेषु' अर्थात् प्राणों से भिन्न है, क्योंकि जो जिनमें होता है, वह उनसे भिन्न होता ही है; जैसे पाषाणों में होने वाला वृक्ष पाषाणों से भिन्न होता है।

'हृदि'— हृदय में, वहां यह रहता है, प्राणों में प्राण जाति की ही बुद्धि रहेगी, इसलिए श्रुति कहती है — 'हृद्यन्तः' यहां 'हृत' शब्द से पुण्डरीकाकार मासपिण्ड कहा गया है, उसमें रहने के कारण बुद्धि हृत् है, उस हृत् में अर्थात् बुद्धि में; 'अन्तः' यब वुद्धि वृत्ति से उसकी भिन्नता उसकी भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए है, प्रकाशस्वरूप होने के कारण आत्मा 'ज्योतिः' कहा गया है; उस प्रकाश-स्वरूप आत्मज्योति से चेतनावान्-सा होकर ही यह देहेन्द्रिय संघात सूर्य के प्रकाश में स्थित घट के समान रहता है इधर-उधर जाता और कर्म करता है।

अथवा जिस प्रकार परीक्षा के लिए दुग्धादि द्रव्य में डाली हुई मरकतादि मणि उस दुग्धादि द्रव्य को अपनी ही कान्तिवाला कर देती है, उसी प्रकार यह आत्मज्योति बुद्दि अर्थात् हृदय से भी सूक्ष्म होने के कारण हृत्पिण्ड में स्थित हृदयादिक और देहेन्द्रिय संघात को भी अपने से अभिन्न करके आत्मज्योति की कान्ति से युक्त कर देती है, क्योकि परंपरा से सूक्ष्म-स्थूल तारतम्य से यह सब की अपेक्षा अन्तरतम है।

बुद्धि तो स्वच्छ है और आत्मा की समीपवर्तिनी है, इसलिए वह आत्म चैतन्य की प्रतिच्छाया से युक्त हो जाती है; इसी से विवेकियों को भी पहले उसी में आत्मभिमान बुद्धि होती है; उसका भी समीपवर्ती होने से बुद्धि के सम्पर्क से मन में चैतन्यावभासता आती है और मन का [इन्द्रियों से] सम्पर्क होने के कारण मन से इन्द्रियो में; फिर इन्द्रियों का शरीर से सम्पर्क होने के कारण उनसे शरीर में चैतन्यावभासता आ जाती है; इस प्रकार परम्परा से आत्मा सम्पूर्ण देहेन्द्रिय संघात को चैतन्य-स्वरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देता है, इसी से सब लोगों की देहेन्द्रिय संघात और उसकी वृत्तियों में अपने-अपने विवेक के अनुसार अनियम आत्माभिमान बुद्धि उत्पन्न होती है।

ऐसा ही भगवान् ने भी गीता में कहा है — "हे भारत! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री [आत्मा] सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है", "जो आदित्यगत तेज है [वह मेरा ही जानो]" इत्यादि। "जो अनित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन है" ऐसा कठोपनिषद् में भी कहा है और ऐसा भी कहा है कि "सब उसी के प्रकाशित होने से प्रकाशित होता है तथा यह

सब उसी के तेज से प्रकाशित है।'' इनके सिवा ''जिसके तेज से तेजोमय होकर सूर्य तपता है'' ऐसा मन्त्रवर्ण भी है। अतः यह आत्मा हृदयान्तर्गत ज्योति है।

'पुरुषः' आकाश के समान सर्वगत होने के कारण पूर्ण है, इसलिए पुरुष है; सबका प्रकाशक और स्वयं दूसरों से अप्रकाश्य होने के कारण इसकी स्वयंप्रकाशता सबसे बढ़कर है। वह यह पुरुष, जिसके विषय में तुम पूछते हो कि 'आत्मा कौन-सा है?'' स्वयं ही ज्योति स्वभाव है।

समस्त इन्द्रियों की उपकारक बाह्यं ज्योतियों के अस्त हो जाने पर हृदय के भीतर अन्तः ज्योति स्वरूप पुरुष पूर्ण आत्मा अन्तःकरण के द्वारा इन्द्रियों का उपकारक है — ऐसा पहले कहा गया है। जिस समय बाह्य इन्द्रियों की उपकारक आदित्यादि ज्योतियों की भी सत्ता रहती है, उस समय भी आदित्यादि ज्योतियां परार्थ होने के कारण और कार्यकरण संघात अचेतन है, इसलिए उनमें स्वार्थ का भाव संभव न होने से स्वार्थ ज्योतिः (जिसका प्रकाश अपने ही लिए है उस) आत्मा के अनुग्रह के बिना यह देहेन्द्रिय संघात व्यवहार में समर्थ नहीं हो सकता; सारा व्यवहार सर्वदा आत्म-ज्योति के अनुग्रह से ही होता है, ''जो यह हृदय है वही मन है, और वही संज्ञान है'' ऐसी एक अन्य श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। प्राणियों का सारा व्यवहार अभिमानपूर्वक ही होता है और अभिमान का हेतु हमने मरकत मणि के दृष्टान्त से बतला दिया है।

यद्यपि यह बात ऐसी ही है, तथापि जाग्रत्काल में आत्मज्योति सारी ही इन्द्रियों की अविषय तथा बुद्धि आदि बाह्य और आभ्यान्तर देह एवं इन्द्रिय आदि के व्यापार समूह से चञ्चल रहती है, इसलिए उस आत्मसंज्ञक ज्योति की मूंज में से सींक के समान निकाल कर पृथक् रूप से नहीं दिखाया जा सकता, अतः उसे स्वप्न में दिखाने की इच्छा से श्रुति आरम्भ करती है।

वह पुरुष समान रहकर इस लोक और परलोक दोनों में संचार करता है। जो पुरुष स्वयं ज्योतिस्वरूप आत्मा ही है, वह समान एक जैसा रहकर; किसके समान रहकर? प्रकरण-प्राप्त और समीपवर्ती होने के कारण हृदय के 'हृदि' इससे 'हृत्' शब्द वाच्य बुद्धि ही प्रकरण-प्राप्त है और वही समीपवर्तिनी भी है; अतः उसीसे आत्मा की समानता रहती है।

वह समानता किस प्रकार की है? घोड़े और भैंसे के समान उनका अलग-अलग उपलब्ध न होना। बुद्धि प्रकाश्य है और प्रकाश के समान आत्मज्योति प्रकाशक है; प्रकाश्य और प्रकाशक का अलग-अलग उपलब्ध न होना प्रसिद्ध ही है; क्योंकि प्रकाश शुद्ध होने के कारण प्रकाश्य के समान हो जाता है, जिस प्रकार लाल रंग की वस्तु को प्रकाशित करते समय वह लाल के समान लाल आकार वाला हो जाता है। एवं हरे, नीले और लोहित पदार्थों को प्रकाशित करते समय वह तद्रूप हो जाता है। इसी प्रकार बुद्दि को प्रकाशित करने समय वह बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करने लगता है; यह बात मरकत मणि के दृष्टान्त से बतला दी गयी है। इसी से बुद्धि की समानता के द्वारा वह सबके समान हो जाता है।

इसी से श्रुति उसे 'सर्वमयः' ऐसा कहेगी; अतः यह मूंज से सींक के समान किसी से भी अलग करके अपने ज्योतिस्वरूप से नहीं दिखाया जा सकता। उसमें नाम-रूप के सारे व्यापारों का, नाम-रूप में ज्योति के धर्म का तथा आत्म-ज्योति में नाम-रूप का आरोप करके सम्पूर्ण लोक 'यह आत्मा है' यह आत्मा नहीं है, आत्मा ऐसे धर्मों वाला है, ऐसे धर्मों वाला नहीं है, कर्ता है, अकर्ता है, शुद्ध है, अशुद्ध है, बद्ध है, मुक्त है, स्थित है, गत है, आगत है, सद्रूप है, असद्रूप है' इत्यादि विकल्पों से अत्यन्त मोहित हो रहा है।

अतः यह समान रहकर प्राप्त इहलोक और प्राप्त करने योग्य परलोक — इन दोनों में प्राप्त देहेन्द्रिय संघात के त्याग और अप्राप्त देहेन्द्रिय संघात के ग्रहण को परंपरा से निरन्तर सैकड़ों संबंधों के क्रम से संचार करता है। तात्पर्य यह है कि उसके दोनों लोकों में संचार का कारण बुद्धि की सदृशता ही है, वह स्वयं संचार नहीं करता।

इस संचार में जो भ्रान्ति-जनित नामरूपोपाधि की सदृशता है, वही हेतु है। वह स्वतः संचार नहीं करता — यही बात अब बतलाई जाती है; क्योंकि वह समान रहकर क्रमशः दोनों लोकों में संचार करता है — यह बात प्रत्यक्ष ही है, सो श्रुति दिखलाती है — क्योंकि मानो वह ध्यान करता है — ध्यान व्यापार— सा करता है, चिन्तन-सा करता है। तात्पर्य यह है कि वह प्रकाश के समान ही अपने चित्स्वभाव ज्योतिः स्वरूप से ध्यान व्यापारवती बुद्धि को तटस्थ रूप से प्रकाशित करता हुआ उसी के समान होकर मानो ध्यान करता है। इसी से लोक को ऐसी भ्रान्ति होती है कि वह चिंतन करता है; किन्तु वह वस्तुत ध्यान नहीं करता।

इसी प्रकार 'लेलायतीव' — मानो अधिक चलता है। उन इनद्रियों के अर्थात् बुद्धि आदि वायुओं के चलने पर उनका अवभासक होने के कारण वह उनके समान जान पड़ता है, इसी से मानो अधिक चलता है। वास्तव में तो वह आत्मज्योति चलन धर्म वाली नहीं है।

किन्तु यह कैसे जाना जाता है कि उन बुद्धि आदि की समानता की भ्रान्ति ही आत्मा के दोनों लोकों में संचारादि करने का हेतु हैं, वह स्वतः संचारादि नहीं करता? इसी अर्थ को प्रदर्शित करने के लिए हेतु बतलाया जाता है — 'क्योंकि वह आत्मा ही स्वप्न होकर [इस लोक का अतिक्रमण करता है]। ''वह जिस बुद्धि के समान होता है, वह बुद्धि जो-जो होती है, वही-वही मानो यह भी हो जाता है, इस लिए जिस समय वह स्वप्न होती है अर्थात् जिस समय बुद्धि स्वप्न-वृत्ति को प्राप्त होती है उस समय यह आत्मा भी स्वप्न-वृत्ति को प्राप्त हो जाता है, और जिस समय बुद्धि जागने की इच्छा करती है, उस समय यह भी जागना चाहता है।

इसलिए श्रुति कहती है — स्वप्न होकर — बुद्धि की स्वप्न-वृत्ति को प्रकाशित करता हुआ अर्तात् स्वप्नवृत्ताकार होकर लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहार के योग्य इस देहिन्द्रियसंघातमय जागरित व्यवहार रूप लोक का अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् इसको पार करके चला जाता है, उस समय चूंकि यह अपने विशुद्ध आत्म तेज से

बुद्धि की स्वप्नात्मिका वृत्ति को प्रकाशित करता हुआ स्थित रहता है, इसलिए यह स्वयंज्योति स्वरूप ही है; वह वस्तुतः कर्ता, क्रिया, कारक एवं फल से रहित शुद्ध स्वरूप है, उसके दोनों लोकों में संचारादि व्यवहार रूप भ्रान्ति की हेतु बुद्धि के समान होना ही है।

मृत्यु के रूपों को — कर्म एवं अविद्यादि ही मृत्यु है, इनके सिवा उसका स्वतः कोई रूप नहीं है, देह और इन्द्रियां ही उसके रूप हैं, अतः कर्म और फल के आश्रय भूत उन मृत्यु के रूपों को वह पार कर जाता है।

पूर्व. — किन्तु बुद्धि के समान बुद्धि को प्रकाशित करने वाली कोई अन्य आत्म-ज्योति तो है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से भी बुद्धि से व्यतिरिक्त उसकी उपलब्धि नहीं होती। जिस प्रकार कि उसी काल में [अर्थात् एक बुद्धि की उपलब्धि के समय] दूसरी बुद्धि की उपलब्धि नहीं होती। और ऐसा जो कहा कि अवभास्य घट आदि और अवभासक आलोक का भेद होने पर भी विवेक न हो सकने के कारण सादृश्य है, सो वहाँ आलोक की भिन्न रूप से उपलब्धि होने के कारण उन दोनों के भिन्न होने पर भी घटादि के साथ मिलने पर सदृशता हो सकती है, किन्तु यहां तो घटादि के समान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से भी बुद्धि की प्रकाशक कोई अन्य ज्योति हमें उपलब्ध नहीं होती; अपितु चित्स्वरूप से प्रकाशक होने के कारण बुद्धि ही बुद्ध्याकार और विषयाकार हो जाती है। अतः बुद्धि की अवभासक उससे भिन्न कोई अन्य ज्योति न तो अनुमान से और न प्रत्यक्ष से ही बतलाई जा सकती है।

इसके सिवा [स्वरूपतः] भिन्न किन्तु परस्पर मिले हुए अवभास्य घटादि और अवभासक आलोक का जो दृष्टान्त रूप से सादृश्य बतलाया गया है, उसे भी हमने एक प्रकार की मान्यता मात्र कहा है किन्तु वहाँ घटादि अवभास्य और उनका अवभासक भिन्न नहीं है। वास्तव में तो आलोक के साथ घटादि ही अवभासस्वरूप हैं। अन्य-अन्य घटादि उत्पन्न होते रहते हैं, केवल विज्ञान ही आलोक-सहित घटादि रूप विषय के आकार में भासित होता रहता है। जबकि ऐसी बात है, तो वस्तुतः कोई बाह्य दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि सब कुछ विज्ञान-स्वरूप मात्र ही है।

सिद्धान्ती — उस प्रकार उस विज्ञान की ही ग्राह्य-ग्राह्यताकारता की पूर्णतया कल्पना कर फिर उसकी अत्यन्त शुद्धि की कल्पना करते हैं, वह ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित विज्ञान स्वच्छ और क्षणिक रूप से स्थित है— ऐसा किन्हीं-किन्हीं का मत है। कोई तो उस क्षणिक विज्ञान की भी शान्ति करना चाहते हैं; अविद्या से आच्छादित वह विज्ञान भी घटादि बाह्य वस्तुओं के समान ग्राह्य-ग्राहकांश से रहित शून्य मात्र ही हैं— ऐसा दूसरे माध्यमिक बौद्ध कहते हैं।

ये सारी कल्पनायें बुद्धि-रूप विज्ञान के अवभासक एवं उससे व्यतिरिक्त आत्मज्योति का त्याग करने वाली होने से इस वैदिक कल्याण मार्ग की विघ्नरूपा है। अब जिनके मत में घटादि बाह्य पदार्थ की सत्ता है, उनसे कहा जाता है — घटादि स्वयं ही अपने प्रकाशक हों — ऐसी बात तो है नहीं, अंधेरे में रखे हुए घटादि तो

कभी अपने-आप प्रकाशित होते ही नहीं, हाँ दीपकादि के प्रकाश से संयोग होने पर तो यह घट प्रकाशयुक्त है, इस प्रकार उसका नियम से प्रकाशित होना देखा जाता है; मिले हुए घट और प्रकाश भी एक-दूसरे से हैं भिन्न ही, क्योंकि रस्सी और घट के समान उनका पुनः-पुनः संयोग और वियोग होने पर उनमें विशेषता दिखाई देती है। इस प्रकार यदि उनका भेद है तो प्रकाश्य पदार्थों का कोई अन्य प्रकाशक है— यह भी सिद्ध हो जाता है, वे स्वयं ही अपने को प्रकाशित नहीं करते।

पूर्व. — किन्तु दीपक तो स्वयं ही अपने को प्रकाशित करता देखा जाता है; क्योंकि लौकिक पुरुष घटादि के समान दीपक को देखने के लिए कोई अन्य प्रकाश ग्रहण नहीं करते, इसलिए दीपक स्वयं ही अपने को प्रकाशित करता है।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रकाश्यत्व में दीपक की घटादि से समानता है, यद्यपि स्वयंप्रकाश स्वरूप होने के कारण दीपक दूसरों का प्रकाशक है, तथापि घटादि के समान ही वह अपने से भिन्न चैतन्य द्वारा प्रकाशित होने की योग्यता का त्याग नहीं करता, जब कि ऐसी बात है, तो अपने से भिन्न से प्रकाशित होना तो अनिवार्य ही है।

पूर्व. — किन्तु जिस प्रकार चैतन्य से अवभासित होने योग्य होने पर भी घट को अपने से भिन्न दूसरे आलोक की अपेक्षा होती है, उस प्रकार तो दीपक को किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती; अतः अन्य से अवभासित होने वाला होने पर भी दीपक अपने को और घट को प्रकाशित करता है।

सिद्धान्ती — नहीं, उसमें स्वतः और परतः कोई भी विशेषता नहीं है, जिस प्रकार घट चैतन्य से अवभासित होने वाला है, उसी प्रकार उसके समान ही दीपक भी चैतन्य से अवभासित होने वाला है।

तथा ऐसा जो कहा जाता है कि दीपक अपने को और घट को भी प्रकाशित करता है, सो यह भी ठीक नहीं है। क्यों नहीं है? सो बतलाते हैं — जिस समय दीपक को प्रकाशित नहीं करता, उस समय वह कैसा रहता है? उस अवस्था में तो दीपक का अपने से अथवा अन्य से कोई भी अन्तर नहीं देखा जाता, अवभास्य तो वही होता है जिसमें अवभासक की सन्निधि अथवा असन्निधि होने पर कोई अन्तर देखा जाये। किन्तु दीपक की अपने से ही सन्निधि अथवा असन्निधि होने की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः इस प्रकार कभी-कभी [सन्निधि अथवा असन्निधि के कारण] होने वाले अन्तर के न होने पर 'दीपक अपने को प्रकाशित करता है' ऐसा मिथ्या ही कहा जाता है।

दीपक का चैतन्य-ग्राह्य होना तो घटादि के समान ही है, अतः विज्ञान के अपने ही ग्राह्य और ग्राहक होने में दीपक दृष्टान्त नहीं हो सकता। हां, विज्ञान का चैतन्य-ग्राह्य होना तो बाह्य विषयों के समान ही है।

विज्ञान की चैतन्य-ग्राह्यता सिद्ध होने पर भी क्या ग्राह्य (विषय-विषयक) विज्ञान की ग्राह्यता है अथवा ग्राहक (विषयि-विषयक) विज्ञान की? इस प्रकार वस्तु

के विषय में संदेह होने पर जो न्याय अन्य पदार्थों के विषय में देखा गया है, उसी की यहां भी कल्पना करना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में, जिस प्रकार अपने से व्यतिरिक्त ग्राहक के द्वारा बाह्य प्रदीपों की ग्राह्यता देखी गयी है, उसी प्रकार विज्ञान की भी चैतन्य-ग्राह्यता होने के कारण, प्रकाशक होने पर भी दीपक के समान अपने से भिन्न चैतन्य द्वारा ही ग्राह्यता कल्पना करनी चाहिए, उसकी अनन्य ग्राह्यता, विज्ञान-ग्राह्यता माननी उचित नहीं है, इस प्रकार जो विज्ञान का ग्रहीता है, वह आत्मा विज्ञान से भिन्न ज्योति है।

यदि कहो कि तब तो अनवस्था हो जाएगी, जो ऐसी बात नहीं है। किसी वस्तु का ग्राह्य होना ही उसके ग्राहक के अन्य पदार्थ होने में न्यायतः लिंग कहा गया है, किन्तु उस आत्मा के अव्यभिचारी ग्राहकत्व और उसके किसी अन्य ग्राहक के अस्तित्व में कभी कोई लिंग होना सम्भव नहीं है, इसलिए उस अनवस्था का प्रसंग नहीं हो सकता।

यदि कहो कि विज्ञान को किसी अन्य से ग्राह्य मानने पर इन्द्रियान्तर की अपेक्षा होने के कारण अनवस्था होगी जो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसा नियम नहीं है। सर्वत्र यही नियम नहीं होता, जहां किसी अन्य वस्तु से कोई अन्य वस्तु ग्रहण की जाती है, वहां ग्राह्य और ग्राहक से भिन्न कोई अन्य इन्द्रिय भी होना चाहिए— ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें विचित्रता देखी जाती है, किस प्रकार? [सो बतलाते हैं —] घट अपने से भिन्न आत्मा के द्वारा गृहीत होता ही है, वहाँ ग्राह्य और ग्राहक से भिन्न प्रदीपादि प्रकाश उसका कारण हैं, क्योकि प्रदीपादि का आलोक न घट का अंश है और न नेत्र का ही, किन्तु दीपक घट के समान नेत्र से ग्राह्य होने पर भी नेत्र और दीपक से व्यतिरिक्त बाह्य प्रकाश स्थानीय किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता। इसलिए ऐसा नियम नहीं किया जा सकता कि जहां-जहां अपने से भिन्न वस्तु द्वारा ग्राह्यता होती है, वहां-वहां कोई अन्य करण होना ही चाहिए। अतः विज्ञान की व्यतिरिक्त ग्राहक ग्राह्यता होने पर भी न तो करण के कारण और न ग्राहकत्व के द्वारा ही कभी अनवस्था सिद्ध की जा सकती है। अतः विज्ञान से पृथक् आत्मज्योति दूसरी ही है— यह सिद्ध हुआ।

विज्ञानवादी — किन्तु घटादि अथवा दीपक आदि कोई बाह्य पदार्थ विज्ञान से व्यतिरिक्त तो है ही नहीं। जो वस्तु जिसके बिना उपलब्ध नहीं होती, वह तत्वरूप ही देखी गयी है — जिस प्रकार स्वप्न-विज्ञान से गृहीत होने वाली घट-पटादि वस्तु स्वप्न-विज्ञान से अलग उपलब्ध न होने के कारण स्वप्नदृष्ट घट-प्रदीपादि की स्वप्न-विज्ञान मात्रता ज्ञात होती है, इसी प्रकार जागरित में भी घट एवं प्रदीपादि की जाग्रत विज्ञान के सिवा उपलब्धि न होने के कारण जाग्रतविज्ञानमात्रता ही होनी उचित है। अतः घट एवं प्रदीपादि बाह्य पदार्थ है ही नहीं, सब कुछ विज्ञान मात्र ही है, ऐसी स्थिति में जो यह कहा गया कि घटादि के समान विज्ञान भी अपने से भिन्न साक्षी द्वारा भास्य है, इसलिए उससे व्यतिरिक्त कोई अन्य ज्योति है, सो

यह ठीक नहीं, क्योंकि जब सभी विज्ञान मात्र है, तो उससे भिन्न कोई अन्य ज्योति है, इसमें कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती — ऐसी बात मत कहो, जहां तक तुम बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार करते हो वहां तक तो है ही। तुम सर्वथा ही ब्राह्मार्थ न मानते हो — ऐसी बात तो है नहीं।

विज्ञानवादी — हां, मैं तो नहीं ही मानता।

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'विज्ञान, घट, प्रदीप' इत्यादि शब्द और इनके अर्थ पृथक् है, जब तक ऐसा है, तब तक तुम्हें बाह्य-अर्थान्तिर अवश्य स्वीकार करना होगा। यदि विज्ञान से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं माना जायेगा तो विज्ञान, घट, पट इत्यादि शब्दों का एक (विज्ञान मात्र) ही अर्थ मानने पर इनका पर्याय शब्द होना सिद्ध होगा। इस प्रकार साधन और फल की भी एकता होने पर तो साध्य-साधन रूप भेद का उपदेश करने वाले शास्त्र की की अनर्थता का प्रसंग उपस्थित होगा, तथा उनके रचयिताओं के भी अज्ञान का प्रसंग होगा।

इसके सिवा दूसरी बात यह कि वादी-प्रतिवादी के वाद और दोष ये विज्ञान से व्यतिरिक्त ही स्वीकार किए जाते हैं, वादी और प्रतिवादी के वाद अथवा दोष— आत्मविज्ञान मात्र हो नहीं स्वीकार किए जाते, क्योंकि प्रतिवादी आदि के लिए इनका निराकरण करना आवश्यक होता है, किन्तु किसी के भी लिए अपना विज्ञान अथवा स्वयं आत्मा ही निराकरण के योग्य नहीं होता, यदि ऐसा हो तब तो सब प्रकार के सम्यक् व्यवहार के लोप का प्रसंग उपस्थित हो जाये।

प्रतिवादी आदि विज्ञान-रूप आत्मा से ही ग्रहण किए जाते हैं — ऐसा विज्ञानवादी को स्वीकार भी नहीं है। वे अपने से भिन्न वादी आदि के द्वारा ही ग्रहण किए जाते हैं — ऐसी मान्यता है। अतः उन्हीं के समान सब वस्तुएं अपने से भिन्न ग्राहक द्वारा ही ग्राह्य है, क्योंकि वे जाग्रत के विषय है, जाग्रत काल की वस्तु प्रतिवादी आदि के समान, इस प्रकार यह [प्रतिज्ञा और हेतु सहित] दृष्टान्त सुलभ है। इसके सिवा दूसरी संतान तथा दूसरे विज्ञान के समान भी वे वस्तुएं अपने से भिन्न ग्राहक द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं। अतः विज्ञानवादी भी विज्ञान से पृथक् अन्य ज्योति का निराकरण करने में समर्थ नहीं है। यदि कहो कि स्वप्न में जो विज्ञान के सिवा दूसरी वस्तु का अभाव है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अभाव से भी भाव का भिन्न वस्तु होना तो सिद्ध होता ही है— स्वप्न में घटादि विज्ञान की भाव-स्वरूपता तों आप भी स्वीकार करते ही है, वैसा मानकर ही उससे भिन्न घटादि का अभाव बतलाया जाता है, उस विज्ञान का विषय घटादि-अभाव हो अथवा भाव, दोनों ही प्रकार घटादि विज्ञान की भावरूपता तो मान ही ली गयी, उसका तो निराकरण किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी निवृत्ति करने वाली कोई युक्ति नहीं है। इससे सबकी शून्यता का निराकरण हो गया। तथा आत्मा 'अहम्' इस प्रकार प्रत्यगात्मा द्वारा ग्राह्य है — ऐसा मीमांसकों के पक्ष का भी खंडन हो गया।

ऐसा जो कहा कि प्रकाशसहित दूसरा-दूसरा घट उत्पन्न होता रहता है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्षण में भी 'यह वही घट है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि कहो कि काट देने पर पुनः बढ़े हुए केश और नखादि के समान उन घटों में समानता होने के कारण ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है तो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि वहां भी उनकी क्षणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसके सिवा उन केश और नखादि की एक ही जाति होने के कारण भी ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

काटे हुए और पुनः बढ़े हुए केश और नखादि की केशत्व नखत्व रूप से एक ही जाति होने के कारण उससे होने वाली केशत्व और नखत्व की प्रतीति अभ्रान्त ही है। साक्षात् काटे हुए और बढ़े हुए केश एवं नखादि में 'यह वही है' ऐसी प्रतीति व्यक्ति के लिए (एक-एक नख या केश के लिए) नहीं होती। किसी-किसी को दीर्घकाल के पश्चात् देखे हुए समान परिमाण वाले केश-नखादि के समान है — ऐसा प्रत्यय होता है, परन्तु ये 'वही है' ऐसा नहीं होता; किन्तु घटादि में तो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यय होता है; इसलिए यह (कट कर बढ़े हुए केश आदि का) दृष्टान्त ठीक नहीं है।

यदि किसी वस्तु के विषय में प्रत्यक्षतया ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह वही है तो उसके अन्य होने का अनुमान करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध होने पर लिंग का आभासत्व सिद्ध होगा; तथा ज्ञान क्षणिक है, इसलिए सदृशंता का भान होना सम्भव नहीं है। एक ही वस्तुदर्शी को किसी दूसरी वस्तु को देखने पर सादृश्य-प्रत्यय हो सकता है और [तुम्हारे सिद्धान्तानुसार] एक वस्तुदर्शी दूसरी वस्तु को देखने के लिए दूसरे क्षण में नहीं रहता है, क्योंकि विज्ञान क्षणिक होने के कारण उसका एक बार वस्तु देखने से ही क्षय होना सिद्ध हो जाता है। 'यह उसके समान है' ऐसा सादृश्य-प्रत्यय हुआ करता है, 'उसके' यह पहले देखे हुए का स्मरण है और 'यह' इस पद से वर्तमान की प्रतीति होती है; यदि 'तेन' इस प्रकार पहले देखे हुए को स्मरण रखकर देखने वाला 'इदम्' ऐसे अनुभव पर्यन्त वर्तमान क्षण काल तक रहेगा तो क्षणिकवाद की हानि होगी; और यदि 'तेन' इतने ही से स्मृतिज्ञान क्षीण हो गया और 'इदम्' ऐसा दूसरा ही वार्तमानिक ज्ञान क्षीण होता है तो ऐसी अवस्था में सादृश्य-ज्ञान होना सम्भव नहीं है, 'क्योंकि यह उसके समान है' इस प्रकार [इस और उस] अनेक वस्तुओं को देखने वाला कोई एक नहीं है।

[विज्ञान की क्षणिकता मानने पर] व्यवहार की भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विज्ञान तो द्रष्टव्य को देखकर ही क्षीण हो जाता है। 'मैं यह देखता हूँ', 'मैंने इसे देखा' ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं है, क्योंकि जो देखने वाला है, वह ऐसा कहने के क्षण में नहीं रहता। यदि माने कि रहता है तो क्षणिकवाद की हानि होगी, यदि वह कथन न देखने वाले का है और कहो कि उसी को सादृश्य-प्रत्यय होता है तो उस अवस्था में वह जन्मान्ध का रूप — विशेष कथन और उसी का सादृश्य-ज्ञान होगा; तब तो सर्वज्ञ बुद्धि के शास्त्र प्रणयनादि सब-के-सब अन्ध परंपरा ही है —

ऐसा कहने का प्रसंग होगा और यह बात इष्ट नहीं है। इस क्षणिकवाद में बिना किए की प्राप्ति और किए हुए का नाश — ये दो दोष तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

पूर्वदृष्ट के हेतु का निर्देश पूर्वोत्तर प्रत्यय से युक्त शृंखला के समान एक ही ज्ञान होता है तथा 'उसके समान यह है' ऐसा भी प्रत्यय होता है — यदि यह कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमान और भूत तो भिन्न काल हैं — उनमें शृंखला का अवयव रूप एक वर्तमान प्रत्यय है और दूसरा अतीत प्रत्यय है। वे दोनों प्रत्यय भिन्न कालिक हैं; यदि वह शृंखला के समान प्रत्यय उन दोनों प्रत्ययों के विषयों को स्पर्श करने वाला है तो एक ही विज्ञान के दो क्षणों में व्यापक होने के कारण पुनः क्षणिकवाद की हानि होती है तथा मेरा-तेरा आदि भेद की उपपत्ति न होने के कारण सम्पूर्ण व्यवहार के लोप का प्रसंग उपस्थित होता है।

सब स्वसंवेद्य विज्ञानमात्र होने पर तथा विज्ञान को स्वच्छ ज्ञानप्रकाशस्वरूप मानने पर यदि उसके साक्षी किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नहीं मानी जायेगी तो उसमें अनित्यत्व, दुःखत्व, शून्यत्व और अनात्मत्व आदि अनेक कल्पनाओं की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अनार आदि के समान विज्ञान बहुत-से विरुद्ध अंशों से युक्त हो— ऐसी बात भी है नहीं, क्योंकि विज्ञान तो स्वच्छ प्रकाशस्वरूप है। यदि अनित्य दुःखादि को विज्ञान का अंश माना जाये तो अनुभूत होने वाले के कारण उन्हें किसी दूसरे का विषय मानने का प्रसंग होगा।

और यदि विज्ञान को अनित्य दुःखादि रूप ही माना जाये तो उनकी निवृत्ति द्वारा उनकी विशुद्धि की कल्पना करनी सम्भव नहीं है, क्योंकि विशुद्धि तो लगे हुए मल को दूर करने से ही होती है, जैसे कि दर्पणादि की; किन्तु अपने स्वाभाविक धर्म से किसी का वियोग होता नहीं देखा जाता; अग्नि का अपने स्वाभाविक प्रकाश अथवा उष्णता से वियोग होता कभी नहीं देखा गया; पुष्प के गुण लालिमादि का जो अन्य द्रव्यों के योग से वियोग होता देखा जाता है, वहाँ भी उनकी संयोगपूर्वता का अनुमान किया जाता है, क्योंकि बीज की भावना से (संस्कार से) पुष्प एवं फलादि में अन्य गुणों की उत्पत्ति होती देखी जाती है, अतः [अनित्य आदि दुःख को विज्ञान का स्वरूप मानने पर] विज्ञान के विशुद्ध (दुःखादि रहित) होने की कल्पना असम्भव होगी।

विज्ञान के विषय और विषयी रूप से प्रकाशित होना रूप जिस मल की कल्पना की जाती है, वह भी दूसरे का संसर्ग न होने पर सम्भव नहीं है, और जो पदार्थ है ही नहीं, उससे किसी विद्यमान वस्तु का संसर्ग हो नहीं सकता;[1] इस प्रकार यदि किसी दूसरे का संसर्ग नहीं है, तो जो जिसका धर्म देखा गया है वह उसका स्वभाव होने के कारण उससे वियुक्त नहीं हो सकता; जैसे अग्नि की उष्णता

---

1. विज्ञानवादी के मत में विज्ञान से भिन्न किसी अन्य वस्तु की सत्ता है ही नहीं, इसलिए विद्यमान वस्तु विज्ञान का किसी भी अविद्यमान पदार्थ से संसर्ग होना सर्वथा असम्भव है।

और सूर्य की प्रभा; अतः अनित्य वस्तुओं के संसर्ग से विज्ञान की मलिनता और [उनके वियोग से] विशुद्धि होती है — यह कल्पना अंध परंपरा ही है तथा इसका कोई प्रमाण भी नहीं है— ऐसा ज्ञात होता है।

इसके सिवा उस विज्ञान का निर्वाण ही पुरुषार्थ है — ऐसी जो वे कल्पना करते हैं, उसमें भी उस फल का कोई आश्रय होना सम्भव नहीं है। जो कांटे से विधा हुआ है, उसी को कण्टक वेध-जनित दुःख की निवृत्तिरूप फल मिल सकता है। यदि कण्टक-विद्ध मर जाये तो वह उस दुःख-निवृत्ति रूप फल का आश्रय नहीं हो सकता। इसी प्रकार सब की निवृत्ति हो जाने पर कोई फल का आश्रय न रहने के कारण पुरुषार्थ की कल्पना करना व्यर्थ ही है; क्योंकि जिस 'पुरुष' शब्द वाच्य जीव, आत्मा अथवा विज्ञान का अर्थ कल्पना किया जाता है, उस पुरुष का ही निर्वाण हो जाने पर किसके अर्थ को 'पुरुषार्थ' ऐसा कहा जायेगा।

हां, जिसके मत में अनेक अर्थों का साक्षी विज्ञान से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है, उसके सिद्धान्तानुसार देखे हुए का स्मरण, दुःख के संयोग-वियोगादि, दूसरे के संयोग के कारण होने वाली मलिनता और उसके वियोग से होने वाली शुद्धि — ये सभी हो सकते हैं। किन्तु शून्यवादी का पक्ष तो सभी प्रमाणों से विरुद्ध है, अतः उसके निराकरण के लिए और प्रयत्न नहीं किया जाता।

(13) आत्म का मोक्ष और बन्धन — काम ही संसार का मूल है। अतः जिसकी कामना निवृत्त हो गयी है, उस ब्रह्मवेत्ता के विद्यमान कर्म भी बन्ध्या की संतति हो जाते हैं, जैसाकि "आप्तकाम और शुद्ध चित्त पुरुष की सारी कामनाएं यहीं लीन हो जाती है" इस श्रुति से सिद्ध होता है।

तथा कर्म के अन्त को प्राप्त कर अर्थात् जहां तक कर्म का अन्त यानी अवसान हो वहाँ तक उसे पाकर — भोगकर यानी कर्मफल की परिसमाप्ति करके। किस कर्म का अन्त पाकर? सो बतलाया जाता है — इस लोक में यह जो कुछ कर्म करता है उसका अर्थात् उस कर्म का फल भोगकर — उसका अन्त पाकर उस लोक से, कर्म करने के लिए, पुनः इस लोक में आ जाता है। यह लोक ही कर्मप्रधान है, इसी से श्रुति कहती है — 'कर्मणेः' अर्थात् पुनः 'कर्म करने के लिए। इसी प्रकार पुनः कर्म करके फलासक्ति के कारण पुनः परलोक में जाता है। इस प्रकार जो कामना करने वाला है वह संसार-बन्धन को प्राप्त होता है। चूँकि कामना करने वाला ही इस प्रकार संसरित होता है, इसलिए जो कामना करने वाला नहीं है, वह कभी संसार-बंधन में नहीं पड़ता।

फलासक्त की गति तो बतला दी गयी; किन्तु जो निष्काम है, उसकी क्रिया संभव न होने के कारण कामना न करने वाला पुरुष तो मुक्त ही हो जाता है। किन्तु जीव कामना न करने वाला कैसे होता है? जो अकाम होता है, वही कामना न करने वाला है। अकामता कैसे होती है? सो बतलाया जाता है — जो निष्काम है अर्थात् जिससे कामनाएं निकल गयी है, वह पुरुष निष्काम कहलाता है। कामनाएं

किस प्रकार निकल जाती है? जो आप्तकाम होता है अर्थात् जिसने सब कामनाओं को प्राप्त कर लिया है, वह आप्तकाम है [उसकी कामनाएं नहीं रहती]।

कामनाओं की प्राप्ति कैसे होती है? आत्मकाम होने से। जिसकी कामना का विषय आत्मा ही होता है, कोई अन्य वस्तुरूप पदार्थ नही होता। आत्मा ही अन्तर-बाह्य रहित, पूर्ण प्रज्ञानधन और एकरस है, आत्मा से भिन्न कोई अन्य वस्तु कामना के योग्य न ऊपर है, न इधर-उधर और न नीचे हैं। जिसके लिए सब आत्मा ही हो गया है, वह किसके द्वारा किसे देखे, सुने, मनन करे अथवा जाने? इस प्रकार जानने वाला किसकी कामना करे? जो पदार्थ अन्य रूप से जाना जाता है, वही कामना के योग्य होता है और यह अन्य पदार्थ आप्तकाम ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में है नहीं। अतः जो भी आत्मकाम होने के कारण आप्तकाम होता है,वही निष्काम, अकाम और कामना न करने वाला भी है; इसलिए मुक्त हो जाता है। उसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, उसके लिए कामना के योग्य कोई अनात्मा नहीं रहता। कोई दूसरा कामना के योग्य अनात्मा भी रहे और सब कुछ आत्मा भी हो गया — ऐसा कथन तो विपरीत ही है। अतः सर्वात्मदर्शी के लिए कामना के योग्य वस्तु का अभाव हो जाने के कारण कर्म सम्भव नहीं है।

जो लोग प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिए ब्रह्मवेत्ता के भी कर्म की कल्पना करते हैं उनके लिए सब आत्मा ही नहीं होता, क्योंकि प्रत्यवाय तो आत्मा से भिन्न कोई अन्य त्यागने योग्य पदार्थ ही माना गया है। ब्रह्मवेत्ता तो हम उसे कहते हैं। जिसने आत्मा को क्षुधादि से अतीत और प्रत्यवाय से असम्बद्ध जाना है। वह सर्वदा क्षुधादि से अतीत आत्मा को ही देखता है; क्योंकि जो आत्मा से भिन्न किसी हेय या उपादेय वस्तु को नहीं देखता उससे कर्म का सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है। जो ब्रह्मवेत्ता नहीं है, उसी को प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिए कर्म की आवश्यकता है। इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः कामना का अभाव होने के कारण कामना न करने वाला पुरुष जन्म नहीं लेता, वह मुक्त ही हो जाता है।

इस प्रकार कामना न करने वाले उस पुरुष के कर्मों का अभाव हो जाने के कारण गमन का कोई कारण न रहने से उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं करते— देह से ऊपर की ओर नहीं जाते। और आत्मकामना के कारण आप्तकाम हुआ वह विद्वान् यहीं ब्रह्मभूत हो जाता है। "वह यह निश्चय ही इसका आप्तकाम, आत्मकाम और अकामरूप है" इस प्रकार यह दृष्टान्तरूप से उस ब्रह्म का ही रूप दिखाया गया है। 'अथाकामयमानः' इत्यादि वाक्य से यह उसी के दार्ष्टान्तिक भूत अर्थ का उपसंहार किया गया है।

वह इस प्रकार का साधन किस प्रकार मुक्त होता है? सो कहा जाता है — जो सुषुप्ति-अवस्था में स्थित की भांति निर्विशेष, अद्वैत, अलुप्त चिद्रूप ज्योतिः स्वरूप आत्मा को देखता है, उस कामना न करने वाले पुरुष के कर्मों का अभाव हो जाने के कारण गमन का कोई कारण न रहने से उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं

करते। किन्तु वह विद्वान् यही ब्रह्मरूप हो जाता है, यद्यपि वह देहवान्-सा दिखाई देता है, किन्तु वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है; क्योंकि उसके अब्रह्मत्व के परिच्छेद की हेतुभूता कामनाएं नहीं रहतीं, इसलिए वह यही ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, शरीरपात के पश्चात् नहीं।

मरे हुए विद्वान् को भावान्तर की प्राप्त नहीं होती अर्थात् उसका जीवितावस्था से भिन्न भाव नहीं होता, देहान्तर का संयोग न होने से ही 'वह ब्रह्म को प्राप्त होता है' ऐसा कहा जाता है। यदि मोक्ष कोई भावान्तर-प्राप्ति मानी जाये तो संपूर्ण उपनिषद् का विवक्षित जो आत्मैक्य रूप सिद्धान्त है, वह बाधित हो जायेगा तथा मोक्ष कर्म-निमित्तक हो जायेगा, ज्ञान-निमित्तक नहीं होगा। और यह इष्ट नहीं है, क्योंकि इससे मोक्ष की अनित्यता भी प्राप्त होती है, कर्म से निष्पन्न होने वाला पदार्थ नित्य नहीं देखा गया। और मोक्ष तो नित्य ही माना गया है, जैसाकि यह "ब्रह्मण की नित्य महिमा है" इस मंत्रवर्ण से सिद्ध होता है।

इसके सिवा स्वाभाविक (अकृत्रिम) स्वरूप से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नित्य है— ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। यदि अग्नि के उष्णत्व के समान मोक्ष आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है तो उसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुष के व्यापार द्वारा पीछे से होने वाला है। अग्नि का उष्णत्व या प्रकाश भी अग्नि के व्यापार के पीछे होने वाला नहीं है। वह अग्नि के व्यापार के पीछे होने वाला है और स्वाभाविक भी है — ऐसा कहना तो विरुद्ध है।

यदि कहो कि अग्नि के उष्मत्व और प्रकाश का ज्वलन-व्यापार के पीछे होना तो सिद्ध होता ही है — तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह तो दूसरे की उपलब्धि के व्यवधान की निवृत्ति की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से है।[1] ज्वलनादि व्यापार पूर्वक जो अग्नि अपने उष्ण और प्रकाश गुणों के सहित अभिव्यक्त होता है, वह अग्नि की अपेक्षा से नहीं है, तो फिर क्या बात है?— अग्नि के उष्णत्व और प्रकाश रूप धर्म दूसरे की दृष्टि से व्यवहित (ओझल) हैं अर्थात् किसी की दृष्टि से असंबद्ध है, अतः ज्वलन की अपेक्षा से दृष्टि के उस व्यवधान की निवृत्ति होने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इसी से यह भ्रान्ति हो जाती है कि ये उष्णत्व और प्रकाश-धर्म ज्वलनपूर्वक उत्पन्न हुए हैं।

यदि उष्णत्व और प्रकाश भी अग्नि के स्वाभाविक धर्म नहीं है तो जो भी अग्नि का स्वाभाविक धर्म हो हम उसी को इसमें उदाहरण देंगे। पदार्थों का स्वाभाविक धर्म है ही नहीं — ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता। बेड़ियों के टूटने के समान मोक्ष भी बन्धन-निवृत्ति रूप अभावमय धर्म है — ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है" इस श्रुति के अनुसार परमात्मा की एकता स्वीकार की गयी है। परमात्मा से भिन्न कोई दूसरा बद्ध है, जिसकी बेड़ियों के टूटने के समान बन्धन-निवृत्ति रूप मुक्त हो। परमात्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु

---

1. आगे इसी वाक्य की व्याख्या की जाती है।

का अभाव हम पहले विस्तार से बतला चुके हैं। अतः अविद्या की निवृत्ति मात्र से ही मोक्ष व्यवहार होता है — ऐसा हमारा कथन है, जिस प्रकार कि रज्जु आदि में सर्पादि के अज्ञान की निवृत्ति होने पर सर्पादि की भी निवृत्ति हो जाती है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि मोक्ष में किसी विज्ञानान्तर या आनन्दान्तर की अभिव्यक्ति होती है, उन्हें 'अभिव्यक्ति' शब्द का अर्थ बतलाना चाहिए। यदि लौकिकी उपलब्धि अर्थात् विषय व्याप्ति ही 'अभिव्यक्ति' शब्द का अर्थ है तो यह बतलाना चाहिए कि विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है या अविद्यमान की? यदि कहें कि विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है तो जिस मुक्त के प्रति उस विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है उसका तो वह आत्मस्वरूप ही है, अतः नित्याभिव्यक्त होने से उसकी उपलब्धि में कोई व्यवधान न हो सकने के कारण वह मुक्त हो अभिव्यक्त होता है — ऐसा विशेष वचन कहना व्यर्थ ही है।

और यदि कभी-कभी ही वह अभिव्यक्त होता है तो उसकी उपलब्धि में व्यवधान रहने के कारण वह अनात्मभूत है, तब तो उसकी दूसरे साधन से अभिव्यक्ति होने का प्रसंग उपस्थित होता है, और इस प्रकार अभिव्यक्ति के साधन की भी अपेक्षा हो जाती है। यदि उपलब्धि सामानाश्रयत्व माना जाये[1], तो व्यवधान की कल्पना न हो सकने के कारण या तो उसकी सर्वदा अभिव्यक्ति ही होगी या अनभिव्यक्ति ही। इन दोनों के बीच की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। एक ही आश्रय वाले अर्थात् एक ही आत्मभूत धर्मों का परस्पर विषय-विषयी-भाव होना संभव नही है।

पूर्व. — विज्ञान और आनन्द की अभिव्यक्ति से पूर्व जिसका संसारित्व और अभिव्यक्ति के पश्चात् मुक्तत्व बतलाया जाता है, वह अत्यन्त विलक्षण होने के कारण नित्याभिव्यक्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा से भिन्न है, जैसे उष्णता से शीतलता।

सिद्धान्ती — इस प्रकार परमात्मा से भेद की कल्पना करने में तो वैदिक सिद्धान्त का परित्याग हो जाता है।

पूर्व. — यदि इस समय के समान मोक्ष की कोई विशेषता न मानी जाएगी तो उसके लिए अधिक प्रयत्न करना सम्भव न होगा तथा शास्त्र की व्यर्थता भी प्राप्ति होगी — यदि ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अविद्यारूप भ्रम की निवृत्ति के लिए होने के कारण उनकी सार्थकता है। परमार्थतः मुक्तता और अमुक्तत्व में कोई भेद नहीं है, क्योंकि आत्मा सर्वदा एकरूप ही है। किन्तु शास्त्र-जनित विज्ञान से तद् विषयक अज्ञान का नाश होता है और उस शास्त्रोपदेश के प्राप्त होने से पहले उसके लिए प्रत्यन करना भी उचित ही है।

---

1. अर्थात् उपलब्दि और उपलब्धि के विषय विज्ञान एवं आनन्द — इन दोनों का आश्रय एक आत्मा ही है — ऐसा माना जाये।

पूर्व. — अविद्यावान् आत्मा का अविद्या की निवृत्ति एवं अनिवृत्ति के कारण रहने वाला भेद तो रहेगा ही?

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि आत्मा को अविद्या-जनित कल्पना का विषय माना गया है; इसलिए रज्जु, ऊसर, शुक्ति और आकाश में भासने वाले सर्प, जल, रजत, और मालिन्य से जैसे उनमें कोई नहीं आता, उसी प्रकार आत्मा में भी अविद्याजनित कल्पना से कोई दोष नहीं आ सकता — ऐसा हम कह चुके हैं।

पूर्व. — तिमिर-रोगयुक्त और तिमिर-रोगमुक्त दृष्टि से जैसे चन्द्रमा का भेद प्रोता है, वैसे ही अविद्या के कर्ता और अकर्ता होने से आत्मा में भी भेद हो जाएगा।

सिद्धान्ती — नहीं, क्योंकि "ध्यान-सा करता है, चंचल-सा होता है" इस श्रुति द्वारा स्वयं आत्मा के अविद्या-कर्ता होने का निषेध किया गया है। इसके सिवा अविद्यारूप भ्रम तो अनेक व्यापारों के मेल से उत्पन्न होता है तथा वह आत्मा का विषय भी है। अतः जिसके द्वारा अविद्या-रूप भ्रम घटादि के समान प्रत्यक्षतया ग्रहण किया जाता है, वह अविद्या-रूप भ्रम वाला नहीं हो सकता।

पूर्व. — 'मैं नहीं जानता, मूढ़ हूँ' ऐसा अनुभव देखा जाने के कारण तो आत्मा अविद्या-रूप भ्रमवाला ही सिद्ध होता है?

सिद्धान्ती — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उस अनुभव का भी पृथक् करके ग्रहण होता है और जो जिसका पृथक् करके ग्रहण करने वाला है, वह उसमें भ्रान्त है — ऐसा कहा नहीं जा सकता। उसी का तो पृथक् करके ग्रहण होता है और उसी में भ्रान्ति है — ऐसा कहना तो विरुद्ध है। 'मैं नहीं जानता, मुग्ध हूँ' यह अनुभव दिखाती देता है — ऐसा तुम कहते हो और ऐसा भी कहते हो कि उसे देखने वाले की अज्ञान एवं मुग्ध रूपता देखी जाती है — इस प्रकार तो वे अज्ञानादि दर्शन के विषय अर्थात् कर्मरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। तब कर्मभूत होकर वे अज्ञान और मुग्धता कर्तृस्वरूप साक्षी के विशेषण किस प्रकार हो सकते हैं? और यदि वे साक्षी के विशेषण हैं तो वे उसके कर्म कैसे हो सकते हैं अर्थात साक्षी से व्याप्त कैसे होंगे? कर्म तो कर्ता की क्रिया से व्याप्त होने वाला होता है तथा व्याप्त दूसरा होता है और व्यापक दूसरा। वह उसी से व्याप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में बतलाओं, अज्ञान और मुग्धता साक्षी के विशेषण किस प्रकार हो सकते हैं? तथा अज्ञान को अपना कर्मभूत अनुभव करने वाला उसे शरीरान्तर्गत कृशता और रूपादि के समान साक्षी के धर्म रूप से नहीं ग्रहण करता।

पूर्व. — सुख-दुःख, इच्छा और प्रयत्नादि [आत्मा के धर्मों] को तो सभी लोग ग्रहण करते हैं।

सिद्धान्ती — इस प्रकार भी ग्रहण करने वाले पुरुष की पृथकता ही स्वीकार की जाती है। और तुमने जो कहा कि 'मैं नहीं जानता, मुग्ध ही हूँ', सो तुम भले ही अज्ञ या मुग्ध रहो, किन्तु जो इस प्रकार देखने वाला है वह तो ज्ञाता और

अमुग्ध ही है — ऐसी (आत्मा) इच्छादि सम्पूर्ण क्षेत्रों को प्रकाशित करता है।' समस्त भूतों में समानरूप से स्थित और उनके नष्ट होने पर भी नष्ट न होने वाले परमेश्वर को'' इत्यादि सैकड़ों प्रकार से उसका वर्णन किया गया है। अतः स्वयं आत्मा की बद्ध-मुक्त एवं ज्ञान अज्ञान के कारण कोई विशेषता नहीं होती, क्योंकि उसे सर्वदा समान और एकरस स्वरूप माना गया है।

किन्तु जो लोग आत्म-तत्व को अन्य प्रकार से कल्पना कर बन्ध-मोक्षादि-शास्त्र को केवल अर्थवाद बतलाते हैं, वे तो आकाश में भी पक्षी के चरण चिह्न देखना चाहते हैं, अथवा आकाश को मुट्ठी से खींचना और उसे चमड़े के समान लपेटने की इच्छा करते हैं। हम तो ऐसा करने में समर्थ हैं नहीं; हम सर्वदा सम, एक रस, अद्वैत, अविकारी, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभयरूप आत्मतत्व ब्रह्म ही हैं— यही सम्पूर्ण वेदान्तों का निश्चित अर्थ है — ऐसा समझते हैं। अतः विपरीत ग्रहण से होने वाली देह-संतति का विच्छेद मात्र जो विज्ञान का फल है, उसकी अपेक्षा से 'ब्रह्म को प्राप्त होता है' यह कथन उपचार मात्र है।

Price Rs. 55=00